- नानेश वाणी -4
  आत्म साक्षात्कार (आत्म समीक्षण भाग-3)
- आचार्य श्री नानेश
- प्रथम सस्करण दिसम्बर 2001, 1100 प्रतिया
- मूल्य 30/-
- अर्थ सहयोगी
  श्री पन्नालालजी सिपानी, चैन्नई
- प्रकाशक
  श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ
  समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर
- मुद्रक
  अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर
  दूरभाष 547073

(प्रथम सस्करण से) **प्रस्तावना**

यह पुस्तक जैन आम्नाय के सम्मान्य एव पूजनीय आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा के राणावास प्रवचनो पर आधारित तथा श्री शातिचद्रजी मेहता द्वारा सम्पादित है।

'आत्मसमीक्षण के नव-सूत्र' शीर्षक इस आकलन मे जैन दर्शन एव अध्यात्म साधना के समग्र समाहित है। जैन परम्परा के प्राचीनतम सूत्र आचाराग के वाक्यों को शीर्ष-स्थान पर रखते हुए कालातीत एव चिरतन आईतीविद्या का यह अमृत-कलश साधको के लिए एक सजीवनी है जिसमे समता-योग एव ध्यान की क्रमागत एव सुगम्य व्याख्या है। आचार्य भगवन की भाषा प्राजल किन्तु सरल है, उदाहरण सुगम्य एव दिशादर्शक हैं और अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था के साथ सामाजिक एव आर्थिक राजनयिक जीवन के भी दिशा-निर्देश है। इस आकलन की एक अपूर्व एव अनुपम विशेषता यह भी है कि यहा किसी अन्य पुरुष को सबोधित करते हुए आध्यात्मिक सत्यो का मात्र बौद्धिक विवेचन नहीं किया गया है अपितु आचाराग की भाति ही प्रथम-पुरुष मे ही कर अध्याय का प्रारभ और समापन किया गया है और हर अध्याय अपने पूर्ववर्ती चितन से इतना क्रमागत एव गुफित है कि यह ग्रथ आध्यात्मिक चेतना की महायात्रा का एक निर्देशक आकलन बन गया है। पाठक यहाँ प्रथम-पुरुष में अपने को रख कर सतत आत्मावलोकन करते हुए समत्व योग के एक-एक सोपान को बुद्धि से परिलक्षित नहीं, अपितु भावना से आत्मसात करते हुए आगे बढ़ सकता है। यह पुस्तक अध्यात्म पथ के पथिकों के लिए एक सक्षम मार्गदर्शक एव पथ-बधु बन गयी है।

दृष्टव्य यह भी है कि यहाँ किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह या खडन-मडन नहीं है। जेन दर्शन एव सिद्धान्त का कोई भी सूत्र अविवेचित नहीं रहा है, लेकिन दृष्टि मानव-चेतना की जड़ जगत के साथ मिथ्या तादात्मय से ऊर्ध्वारोहण कर अनत-चेतना स्व-स्वरूप के साथ एकत्व की जय-यात्रा पर रही है जो इस आकलन का उद्देश्य है।

अध्यात्म-साधना के पथ पर चलते हुए भी मनीषी प्रवक्ता की दृष्टि वर्तमान विज्ञान की कषायविजड़ित राजनीतिक सकीर्ण स्वार्थों से सचालित तथाकथित प्रगति एव मानव सभ्यता पर उसके दूषित प्रभाव को स्पर्श करते हुए सामाजिक विषमताओ, अध-परपराओ, साम्प्रदायिक मताग्रहो, सामाजिक कुरीतियों का समीक्षण और उनके दुष्प्रभावो से मानव समाज को सावधान करती रही है। इस दृष्टि से भी यह आकलन अमूल्य है।

तत्व-दर्शन के जिज्ञासुओ के लिए यहा समस्त गुणस्थानों, सवर-निर्जरा एव तप के समस्त भेद-प्रभेदो एव ध्यान-योग की समस्त आगम-सम्मत विधियों का विवेचन उपलब्ध है। सक्षेप में यह पुस्तक सप्रदायातीत शुद्ध जैन-दर्शन एव साधना के सूत्रों का सक्षिप्त एव सुगम सार सत्व है।

कलकत्ता, दिनाक 26 5 95 डॉ. भानीराम वर्मा 'अग्निमुख'

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियो मे है जिन्होने अपने व्यक्तित्व ओर कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माए अपने कर्मो का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भोतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानो मे वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व मे समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप मे उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सासारिक प्राणियो के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मिया युगो-युगो तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियो को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनो हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को ''नानेश वाणी'' पुस्तक शृखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया। इस निर्णय की पूर्ति हेतु विशिष्ट निधि की स्थापना की घोषणा की गई तथा देशभर में फैले श्रद्धालुओ से मुक्त हस्त अर्थ सहयोग प्रदान करने का आह्वान किया गया। सत्सकल्पो की पूर्ति में कभी बाधाए नहीं आती। ऐसा ही इस सकल्प के साथ भी हुआ। सभी ओर से प्राप्त प्रभूत अर्थ सहयोग ने सघ को उस स्पृहणीय स्थिति में पहुचा दिया जिसमें सकल्प पूर्ति मात्र औपचारिकता रह जाती है।

इस सदर्भ मे बैगलोरवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी के विशेष सहयोग का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी गुरुभक्ति, धर्मनिष्ठा एव सघ समर्पणा भाव ने उन्हें प्रेरित किया कि वे समर्पित भाव से प्रयत्न करे। उन्होने ऐसा ही किया। उन्हीं के सद्प्रयासों से ''नानेश वाणी शृखला'' का 40 प्रकाशनाधीन पुस्तकों के लिए अर्थसहयोग की लगभग स्वीकृति कर्नाटक और तमिलनाडु से ही प्राप्त हो गई। श्री सिपानी जी की ऐसी सघनिष्ठा हेतु तथा उदार दाताओं के प्रशस्त सहयोग हेतु हम आभारी हैं।

अब जबकि अपेक्षित धनराशि एकत्र हो चुकी है। हम आचार्य श्री नानेश के साहित्य को चरणबद्ध रीति से प्रकाशित करने की दिशा मे गतिमान हो गये हैं।

हमारी योजना के अनुसार प्रथम चरण मे प्रकाशित एव प्रचारित परन्तु अनुपलब्ध, कृतियो के नवीन सस्करण प्रकाशित किये जाने है। द्वितीय चरण मे अप्रकाशित असपादित प्रवचनो को सकलित कर नयी कृतियों के रूप मे प्रकाशित किया जावेगा।

इस क्रम मे आचार्य नानेश की कृति आत्म साक्षात्कार की यह नवीन आवृत्ति सुधी पाठको, साधको, स्वाध्यायियो एव श्रद्धानिष्ठ श्रावक-श्राविकाओ के हाथो मे अर्पित करते हुए हमे अपार हर्ष एव सतोष का अनुभव हो रहा है। हमे विश्वास है कि यह आवृत्ति उनकी रुचि, अपेक्षाओ एव आशाओ के अनुरूप बन पड़ी है।

यहा यह उल्लेख भी प्रासगिक है कि जैन श्रमण परम्परा मे साधुमार्गी जैन सघ का आत्म साधना, तपोराधना, धर्म प्रभावना एव साध्वाचार की प्रवृत्तियो को प्रेरित करने मे महत्वपूर्ण योग रहा है। क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचदजी म सा ने इसकी प्रतिस्थापना हेतु अह भूमिका का निर्वहन किया था। उनके पश्चात्वर्ती आचार्यों ने इस सघ को अनवरत ऊचाईया की ओर अग्रसर किया। श्री शिवलालजी म सा यदि निर्ग्रन्थ सस्कृति के प्रतीक थे तो श्री उदयसागरजी म सा ज्ञानाराधना के आदर्श। श्री चौथमलजी म सा श्रमणाचार व सघनिष्ठा के उच्च शिखर रूप समादृत रहे तो श्री श्रीलालजी म सा अनन्य योग साधक व बेजोड़ भविष्यदृष्टा बने। उनके उत्तराधिकारी श्रीमद् जवाहराचार्य एक ऐसे क्रान्तदृष्टा थे जिन्होने आत्मधर्म के साथ ग्राम-नगर, राष्ट्र धर्म आदि सयुक्त कर धर्म को नव आयाम प्रदान किये तो कालजयी विचार दर्शन भी प्रस्तुत किया। शात क्रान्ति के अग्रदूत श्रीमद् गणेशाचार्य ने यदि धर्म सघ, आत्मचितन व श्रमण चेतना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया तो आचार्य श्री नानेश ने आत्मलक्षी साधना की युगीन दिशाए उन्मुक्त कीं।

चिन्तन और साधना के क्षेत्रों मे नवीन कीर्तिमान स्थापित करने वाले ऐसे धर्माचार्य श्री नानेशाचार्य के साहित्य की सतत् सहज उपलब्धता जहा धार्मिक आध्यात्मिक नव जागरण की दृष्टि से अपरिहार्य है वहीं एक प्रज्ञासम्पन्न साधक, आदर्श चितक एव दार्शनिक, समत्वयोगी, समीक्षण ध्यान प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक एव आध्यात्मिक आराधक के रूप में उनका प्रदेय वर्तमान युग की अनमोल निधि है। अपने इस प्रदेय और अपनी गहन साधना द्वारा धर्माचार्य के रूप मे उन्होने वह विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया जो सम्प्रदायातीत होता है। उनका यह रूप उनके उस सम्पूर्ण प्रकाशित एव अप्रकाशित साहित्य मे प्रखरता से उद्घाटित होता है जो गाथाओ, कथाओ, प्रवचनों उपदेशों एव उद्बोधनों के रूप मे उपलब्ध है और अपनी प्रकृति के कारण जो चेतना के ऊर्ध्वारोहण, चरित्र

के सुसस्कार एव जीवन के परिष्कार मे सहायक भी है।

आचार्य श्री नानेश की साहित्य साधना पर विहगम दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि कालक्रम से परिवर्तित होते ''साहित्य'' के अर्थो के सदर्भ मे इसमे सभी रूपो का प्रतिनिधित्व है। यह शास्त्र की भाति परम हितकारी है तो काव्य के अर्थ मे सत्य, शिव, सुदर का समन्वित रूप भी है। इसमे सन्निहित सत्य शाश्वत है, यह शिव स्वरूपी अर्थात् सर्व कल्याणकारी है और सत्य व शिव होने से सौन्दर्य-बोध भी करता है। यदि समग्र साहित्य को अग्रेजी के 'लिटरेचर' अर्थ मे ले तो यह जितना लिखित (पुस्तकाकार प्रकाशित) है उतना ही प्रवचनों के रूप मे मौखिक भी है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य व सत्य है कि आचार्य श्री नानेश साहित्यकार होने से पूर्व एक सिद्ध सत थे यद्यपि सर्वप्रथम वे मानव थे। यही कारण है कि मानव को केन्द्रस्थ रखकर उन्होने अपने प्रवचनो मे यही सदेश दिया कि मनुष्य आत्मा से परमात्मा (अप्पा सो परमप्पा) की यात्रा हेतु स्वय को कषायो से मुक्त करे ओर परिधि से केन्द्र मे स्थित होने के लिए बहिर्मुखी चिंतन को छोड़कर अन्तर्मुखी बने। वस्तुत उनका बहुआयामी चितन उनकी अनोखी उपलब्धि है तथा उनका साहित्य मानव मात्र के हित साधन हेतु सप्रदायातीत जीवन मूल्यो के विकास एव सरक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आचार्य श्री जी का साहित्य विपुल है। समाज के सम्मुख उपलब्ध प्रकाशित कृतियो के अतिरिक्त ऐसा अपरिमित साहित्य भी विद्यमान है जो लिपिबद्ध प्रवचनों, फुटकर लेखो एव भक्तजनो द्वारा सकलित/सग्रहित सामग्री के रूप मे है। सघ ऐसे साहित्य को प्राप्त कर उसे यथासभव प्रकाशित कर जन-जन के हितार्थ प्रस्तुत करने हेतु कृत सकल्प है।

आचार्य श्री नानेश के साहित्य को निश्चित वर्गों में विभाजित कर पाना कठिन है। इसमे समाविष्ट है प्रवचन-सकल्प, आगम-ग्रन्थो/विषयो का विवेचन, कथा साहित्य, काव्य कृतियों, सुभाषित व सूक्तिया। उनका साहित्य उनकी ज्ञान गरिमा का परिचय तो कराता ही है समाज की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को भी रेखाकित किया जा सकता है। वस्तुत उनका साहित्य चाहे वह किसी भी रूप/विधा में हो, वह उनकी उच्च कोटि की आध्यात्मिक साधना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। एक युग-प्रवर्तक सत, धर्माचार्य, अध्यात्म योगी एव समता दर्शन प्रणेता के जीवन के विविध आयामों तथा साधना के विभिन्न क्षेत्रो मे परिचित कराने मे भी वह सक्षम है। उनके इस साहित्य के विषय हैं- धर्माचरण, चरित्र परिष्करण, सस्कार-निर्माण एव आत्मकल्याण।

उनका साहित्य प्रणयन वर्तमान जीवन की ज्वलत समस्याओ के सदर्भ मे हुआ है। उन्होने समाजवादी ओर साम्यवादी चितन को आध्यात्मिक धरातल पर आग्रह मुक्त हो व्याख्यायित ही नहीं किया उसे व्यवहार की गरिमा से विभूषित भी किया है। उन्होने जहा जीवन की विषमताओ/विभीषिकाओ, अधर्म के विस्तार, काषयिक प्रवृत्तियो, अभावो, अशाति, तनाव, असतोष आदि का चित्रण किया है, वहीं अपनी साधना के माध्यम से मानवता के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त किया है। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण साहित्य जीवन से जुड़ा तो है ही जीवन उन्नयन का मूलाधार भी बना है। यही उनकी साहित्य-साधना की सार्थक व महत्वपूर्ण उपलब्धि है तथा इसी में सन्निहित है उसकी कालजयिता और सार्वजनीनता।

ऐसे उपयोगी साहित्य को सर्व सुलभ बनाने का हमारा सकल्प यदि मूर्तरूप प्राप्त कर सका है तो नि सदेह यह उन वर्तमान आचार्य श्री रामेश के आशीर्वाद का ही परिणाम है जिनकी गुरु भक्ति अनुपम व अनूठी है तथा जिन्हे जन कल्याणकारी चितन को जन-जन तक पहुचाने की विशेष चिन्ता है। हमें उनसे प्रेरणा ही नहीं मिली, वह सम्पूर्ण वत्सल मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ है, जो प्रेरणा को उपलब्धि मे परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होता है। उनकी ऐसी कृपा हमारा ऐसा सौभाग्य है जिस पर सम्पूर्ण साधुमार्गी जैन सघ गर्व कर सकता है। सत शिरोमणि, आचार्य देव की ऐसी महती कृपा के लिए हम उनके प्रति विनय और श्रद्धा से नतमस्तक है।

प्रस्तुत कृति *आत्म साक्षात्कार* (नानेश वाणी क्र -4) के प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सौजन्य के लिए श्री पन्नालालजी सिपानी, चैन्नई के प्रति हम धन्यवाद ज्ञापित करते है। सद् साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उनका यह सहयोग निश्चय ही अनुकरणीय एव वदनीय है।

हमे पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे समाविष्ट विचार-दर्शन को आत्मसात कर पाठक आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकेगे।

भवदीय

राजमल चोरडिया	**धनराज बेताला**	**शांतिलाल सांड**
अध्यक्ष	महामत्री	सयोजक

कमल सिपानी   अभय कुमार चोरडिया

जयचन्दलाल सुखानी   उदय नागोरी

(सदस्य, साहित्य समिति, श्री अ भा सा जैन सघ, बीकानेर)

एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य श्री नानेश सक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नन्हा दीप,
सदाहरता तिमिर जग का,
सहज शान्त अभीत !

छोटा सा दीपक, गाव की मिट्टी की सोधी गध से सुवासित, सुसस्कारो के नेह से सिचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन मे युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहु ओर परिव्याप्त निबिड अधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा मे सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को मगलकारी दीपावली में परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारो ने कहा भी है-

जह दीवो दीवसय पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वति पर च दिवति॥

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार मे वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात ब्रह्म ही तो थे जिन्हे श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते है- 'वटस्य पत्रस्य पुट'' शयानम् बालमुकुदम् शिरसा नमामि'' और उन्हीं के सरक्षण मे नव सृष्टि का विकास सभव

हुआ था। अज्ञानाधकार के हरण मे महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता क्योकि ''उतमत गुणेहि चेव पविज्ञई''। उत्तमता गुणो से प्राप्त होती है और गुणो की ही पूजा होती है-'गुण पूजास्थान न च लिग न च वय ।' यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवे पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्वपीठिका की दिशा मे उन्हे युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृगार बाई का ममताव्याकुल सशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो-'' ई घणा भोला टाबर है, या पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।''

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा ! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का सकल्प। इस सकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली मे सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी सकल्प की पूर्ति मे ''नाना दीप'' ने दीपित सत-सतियो की एक सुदीर्घ शृखला ही सर्जित कर दी थी। एक कडी दूसरी कड़ी से जुड़ती गई थी। सम्पूर्ण ससार को अपनी ज्योति-परिधि मे आवेष्ठित कर लेने के लिये और जगती का आगन आचार्य श्री के नेश्राय मे दीक्षित दीपको की लम्बी शृखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असदिग्धप्रमाण था। यह चमत्कार भी था। क्योकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पाच सौ वर्षो मे भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितिया अत्यन्त विषम थी। एक अत्यन्त सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहो से टकराव, विरोधो की उग्रता एव दुर्बल सघीय व्यवस्था अपने आप मे विकट समस्याए थी। परन्तु ''दिवा समा आयरिया पण्णता''- आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्जवलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत भीषण झझावात के उस काल मे जब श्रमण सघो एव श्रावक सघो की भावनाए भीषणरूप से आलोड़ित थी, इस सघ प्रज्वलित दीपक ने साहस-पूर्वक घोषणा की थी। -

''सघर्ष से ही नवनीत निकलता है और सघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। सघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नो पर नहीं चल सकता।''

और प्रारम्भ हुई थी लडाई- दिये की और तूफान की, जिसमे दीया विजयी हुआ था। झझावत शात हुआ था सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मद फुहारो से सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग मे तपने की। सवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी सत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के भावों से मुक्त होते है। सोना तप कर कुन्दन बनता है और सघर्षो मे स्थिरमति रहकर मनस्वी वदनीय बन जाता है।

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु ख न च सुख।
तप्त तप्त पुनरपि पुन काचन कान्तवर्णम्॥

अशाति, विरोध और सघर्ष से आलोड़ित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियो का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिसा, आतक, विरोध, शोषण पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियो के उपचार मे यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य सदेशों द्वारा इस सत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुदर काव्यात्मक दिग्दर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पक्तियो मे हुई है-

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।
श्रेय मानव का असीमित मानवो से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान।
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा मे यात्राओ, चातुर्मासों और उद्बोधनो के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था- उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणे बरसाता इस सपूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन में समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चदन और सत, भेद-अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भडार सबके लिये उन्मुक्त रखते है। फिर इस प्रकाशपुज की ज्योति सीमा मे कैसे बधती ? प्रसग अनेक हो सकते है। परतु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तकारी दृष्टि धर्मपालो की अटूट शृखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो ''कम्मणा बम्भणा होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।'' भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रव्रज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क सगत कहा बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्‌भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमे गुराडिया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामो के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहि जानत, कचन करत खरो- तब सत के ससर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यो नहीं बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने गगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा मे मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल मे उलझी अवधारणाओ को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चितन को सैद्धान्तिक आग्रहो से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वो को पाखड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हे अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओं का ही सहज समाधान। प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप मे मान्य एव प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वय किया एव करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान

की पद्धतियो को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुचाने मे आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से सबधित विविध चितन धाराओ का जिस प्रकार समता दर्शन मे समन्वय किया गया, वह स्वय मे उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार सहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को सस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पाच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध पतन के मूल कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता मे व्यवधान डालने वाले भी है।

पाच चोर गढ मझा, गढ लूटे दिवस अरु सझा।
जो गढपति मुहकम होई, तो लूटि न सके कोई॥

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढपति सिद्ध हुए जो रमैया की दुलहन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढपति की महिमा का बखान करते हुए सत कबीर ने पहले ही कह दिया था-

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषैं।
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा बैठा बाबि मे, लारे सापणि धाई,
उलटि मूसै सापिण गिली यह अचरज भाई।
नाव मे नदिया डूबी जाई॥

आकाश के औंधे कुए से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हस ही पीता है।

यह उलटबासी नहीं, सत्य है, तत्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक में यह चराचर जगत किसी रूप मे अर्थवान बनता है। एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आगन।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया बन॥

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पड़ता है यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य में निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण

करता है और अपने पीछे छोड जाता है, एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की सध्यावदन करते साधको ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुन आकाश मार्ग से लौट गई थी ।। यह चमत्कार था और हम जानते है, चमत्कार होते है। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नहीं, सपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड़ गया जिसमें भव्य आत्माए आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती है।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्ञवलित कर गया है रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ कधो पर वहन करने मे पूर्ण सक्षम है दीप की आदित्य बनने की दिशा मे एक और यात्रा प्रारम हो गई है। साधुमार्ग मे यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी यह तथ्य उस परपरा में आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये है। इस प्रकार अनन्त आलोक का पारावार हिलोरे लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पाच सौ वर्षो तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

-डा आदर्श सक्सेना
बी-17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज)

अर्थ सहयोगी परिचय

सुश्रावक श्रीमान पन्नालालजी सिपाणी, श्रीमान भवरलालजी सिपाणी एव श्रीमती कनकादेवी के सुपुत्र है। राजस्थान मे आप उदयरामसर (बीकानेर) के निवासी है एव वर्तमान में आप पूरे परिवार सहित चैन्नई (टी नगर) मे रहते हैं। यहीं आपका ब्लू मेटल जली एव फाइनास का व्यवसाय है।

बी कॉम तक शिक्षा प्राप्त श्रीयुत सिपाणी जी का पूरा परिवार हुक्म-सघ के षष्टम पट्टधर ज्योर्तिधर श्री जवाहराचार्य से वर्तमान आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म सा तक सभी के प्रति अनन्य निष्ठावान रहा है। आप श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा सघ, चैन्नई के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे है। इसके अतिरिक्त आप श्री साधुमार्गी जैन सघ, चैन्नई के कार्यकारिणी के सदस्य भी है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मजुदेवी सिपाणी भी धर्मपरायणा महिला हैं।

आपके ही सस्कारो से ओतप्रोत आपके दो पुत्र-श्री मनोज कुमार एव श्री रणजीत कुमार तथा एक सुपुत्री श्रीमती रजना पारख है।

अभी आपके परिवार मे पौत्री एव पौत्र जन्म की खुशी मे आपने प्रस्तुत लोकप्रिय प्रकाशन 'नानेश वाणी' हेतु अर्थ सहयोग प्रदान किया है।

-अनुक्रम-

अध्याय आठ

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र · ७ ·

मैं मौलिक रूप से परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ। मुझे सोचना है कि मैं अपने बधना को कैसे तोड सकता हूँ? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है?

अपनी अपार शक्ति के समीक्षण ध्यान मे मुझे आत्म-साक्षात्कार होगा कि मैं अपने कर्मो के सारे बधन कठिन तप की आराधना से कैसे तोड सकता हूँ और मुक्ति के मार्ग पर कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ?

मैं अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊगा तथा उस मौलिक परम प्रतापी एव सर्वशक्तिमान स्वरूप को अनावृत्त करूगा।

सूत्र सात

मैं परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान् हूँ। मेरा परम प्रताप और शक्ति केन्द्र वस्तुत परमात्मा के समान ही है क्योंकि यह सिद्धान्त सर्वसत्य है कि आत्मा ही परम पद प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप वरण कर लेती है। परमात्मा कोई पृथक् शक्ति–केन्द्र नहीं होता, वह आत्मा का ही परम विकसित स्वरूप होता है।

मैं परम प्रतापी हूँ। मेरा ताप और प्रताप अनन्त हैं क्योकि वह तप से उद्भूत होता है और तप की परमोत्कृष्टता से अपार तेजस्विता ग्रहण करता है। जैसे मलयुक्त स्वर्ण अग्नि मे तप कर शुद्ध नहीं बनता, अपितु अति मूल्यवान कुन्दन बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी तप रूपी अग्नि मे तप कर शुद्ध और निर्मल ही नहीं बनती, अपितु परम प्रतापी भी बन जाती है।

मैं परम प्रतापी होता हूँ तो सर्व शक्तिमान् भी बन जाता हूँ, क्योकि उस परम प्रताप से अनन्त शक्तियो एव ऊर्जाओ का स्रोत प्रस्फुटित होता है। सर्व शक्तियो का प्रकाश उसके स्वरूप को परम प्रकाशित बना देता है। इतना ही नहीं, एक सत्य और भी प्रकट होता है। वह यह कि आत्मा स्वय ही सर्वशक्तिमान और प्रकाशपुज नही बनती, बल्कि शक्तियो का केन्द्र तथा प्रकाश का प्रसार स्रोत भी बन जाती है।

मैं सर्व शक्तिमान् हूँ, सर्व शक्तियों का केन्द्र हूँ और प्रकाश का प्रसारक भी हूँ। जैसे एक पॉवर हाऊस होता है, जो स्वय प्रकाशित होने के साथ साथ प्रकाश को सर्वत्र प्रकाशित भी करता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा स्वय प्रकाशित होकर उस प्रकाश शक्ति को विकरित–प्रशरित भी करने लग जाती है। वह प्रकाश पाती है और सबमे प्रकाश भरती है–स्वय सर्वशक्तिमान् बनती है तथा सर्वत्र शक्तियो का सचार करती है। जो कोई अन्य आत्मा परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान् आत्मा के साथ लौ लगती हे, वह भी प्रकाशित बनती है–शक्तिशाली होती है।

मैं परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ। यह परम प्रताप और शक्ति–सम्पन्नता मुझे मेरी शुमता के चरम विकास से मिलती है। विषय–कषाय के विकार जव तप रूपी अग्नि मे जल जाते हैं और उसके ताप से आत्मस्वरूप निखर उठता

है तब यह परम प्रताप प्रकट होता है–एकदम निर्मल, शान्त ओर सबको सुख देने वाला। यह परम प्रताप ही सर्व शक्तियो का केन्द्र स्थल हो जाता है, जहॉ से सम्पूर्ण जीवो का हित तथा विश्व का कल्याण प्रस्फटित होता है। आत्मा परमात्मा बन जाती है।

मैं वही आत्मा हूँ– भव्य आत्मा, जो परमात्मा बन सकती है। परम प्रतापी और सर्व शक्तिमान् होने का मूल गुण मेरी आत्मा मे भी निवास करता है और मेरे पुरुषार्थ से आज आवृत्त यह मूल गुण एक दिन सम्पूर्णत अनावृत हो सकता है। आवश्यक हे कि मैं वैसा पुरुषार्थ करू, कठिन तप से आत्म स्वरूप के साथ बधे आठो कर्मों को व शरीर के सात धातुओ को गला दू तथा अपने जीवन को स्व–पर कल्याण मे विसर्जित कर दू।

मैं परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् बनना चाहता हूँ–आत्मा की शुभ शक्तियो का धनी, किन्तु वैसा परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् नही, जैसा कि एक राजा ने अपनी भौतिक शक्तियो के गर्व से उन्मत्त होकर अपने को परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् मान लिया था। कथा है कि एक राजा था–योद्धा और शूरवीर। उसने अपने प्राप्त राज्य को ही सुदृढ नहीं बनाया, बल्कि विश्व–विजयी बनने का सकल्प लिया। सौभाग्यशाली था सो आस–पास के राज्यों को जीतता हुआ आगे से आगे बढता गया तथा अनेक राजाओ को अपनी अधीनता स्वीकृत कराता गया। उसकी विजय का डका चारों ओर बजने लगा– वह महाराजधिराज हो गया। उसने अपने आपको परम प्रतापी तथा सर्व शक्तिमान् घोषित कर दिया। उस समय एक भी राजा ऐसा नहीं बचा था जो उसकी इस घोषणा को चुनौती देता। उसकी सर्वशक्ति एक प्रकार से स्थापित हो गई। वह अभिमान मे फूला नही समाता था।

एक महात्मा को लगा कि इस राजा के विजयाभिमान को तोडना चाहिए। वे महात्मा वेक्रिय लब्धि के धारक थे तथा छोटे–बडे रूप बना सकते थे। एक दिन वे उस राजा के दरबार मे पहुँच गये। राजा ने उनका स्वागत किया, किन्तु गर्वभरी मुस्कान के साथ। महात्मा को वह व्यवहार अखर गया, फिर भी कुछ बोले नही। वे यह सब कुछ जानकर ही तो आये थे और एक वेद्य की तरह राजा के मान रोग की चिकित्सा करना चाहते थे। अनजान से बनकर कहने लगे– राजन्, मैंने सुना है कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् हो? राजा ने जोर का ठहाका लगाया और कहा–अरे महात्मा, तुमने सिर्फ सुना ही है, अब देखकर भी अनुमान नहीं लगा पा रहे हो क्या? महात्मा राजा की आखो मे आंखे डालकर देखते ही रहे। उनकी इस हरकत से राजा

असमजस मे पड गया, बोला–इस तरह क्या देख रहे हो, महात्मा? महात्मा बोले–तुमने ही तो कहा है राजा की ओर देखो और मैं देख रहा हूँ।

राजा धीरज नही रख सका, पूछने लगा– अब तो देख लिया न महात्मा और मिल गया न आपके प्रश्न का उत्तर आपको? महात्मा ने 'हॉ' मे सिर हिलाया, लेकिन फिर 'ना' मे भी सिर हिलाया। अब तो राजा चौंका कि महात्मा आखिर कहना क्या चाहता है? पूछ बैठा–आप का यह सिर हिलाना मुझे समझ मे नही आया। तब गम्भीर वाणी मे महात्मा बोले– राजन्, मैंने सुना था कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् हो किन्तु आज देखने पर विपरीत अनुभव हो रहा है। राजा गरजा– आप कहना क्या चाहते हैं? महात्मा कहने लगे– यही कि न तुम परम प्रतापी हो और न सर्व शक्तिमान्। अपने आपको ऐसा समझने का तुम्हे मात्र दम है। क्रोध से फुफकार उठा राजा–मेरे सामने इस तरह बोल लेना आसान नही–इसे सिद्ध करो वरना यही झूठी ज़ीभ काट कर फैंक दी जायेगी। अब महात्मा की हॅसने की बारी थी, जोर से अट्टहास करके हॅस पडे और बोले– राजा, तुम सर्वशक्तिमान् हो, मुझे कुछ देने की शक्ति भी रखते हो? राजा ने ओछेपन से कहा–मैं तो तुम्हे महात्मा समझा था, मात्र भिक्षुक ही निकले। जो कुछ मागोगे मिलेगा किन्तु जीभ जरूर कटेगी। महात्मा फिर हस पडे बोले–मुझे मात्र तीन पग भूमि चाहिये। राजा भी हस पडा, कहने लगा– बस, मागने मे भी कृपणता, मैं तीन पग भूमि क्या तीन सौ गाव दे सकता हूँ। राजा का इतना था कि महात्मा ने विराट् रूप धारण किया और एक पग राजा के सम्पूर्ण राज्य के किनारे पर तो दूसरा पग राज्य के दूसरे किनारे पर रख कर पूछा– राजा, अब बताओ, तीसरा पग कहॉ रखू? राजा तो भौंचक्क खडा रहा– न बोलते बनता था और न हसते। लज्जा से उसका सिर झुक गया।

भावाभिभूत होकर राजा महात्मा के चरणो मे झुक आया, पश्चाताप भरे स्वर मे कहने लगा–महात्मन्, आपने मेरा गर्व खर्व कर दिया है, मेरा उन्माद उतर गया है और परम प्रतापी व सर्व शक्तिमान् होने का मेरा भ्रम भी मिट गया है। महात्मा पुन अपने रूप मे आ गये और स्नेह भरी मुस्कान के साथ बोले–राजन्, तुम्हे शिक्षा देने के लिए ही मेंने यह सब किया, तुम बुरा न मानना। सदा यह ध्यान मे रखना कि इस ससार की सभी बाहरी शक्तियॉ किसी को प्राप्त हो जाय.तब भी वह सर्व शक्तिमान् नहीं बनता। यथार्थ मे सर्वशक्तिमान बनना आत्म–शक्तियो का ही रहस्य होता हें। जिसका बाहरी वैभव नही, आन्तरिक वैभव समुन्नत हो जाता हे और जो दया का सागर बन

जाता है, वही अपनी पूर्ण विकसित आत्मा के साथ परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् होता है। यह परम अवस्था बाहर की विजय से नहीं भीतर की विजय से प्राप्त होती है।

आत्म शक्ति को उद्‌बोधन

मुझे जब अपनी आत्मशक्ति के ही इस विराट् रूप का परिचय होता है तो मैं एक अनूठे ही आन्तरिक आनन्द से भर उठता हूँ। मैं वास्तव में इतना शक्ति सम्पन्न हूँ और परमात्मपद का वरण कर सकता हूँ, तब इतना निराश और हताश क्यों हूँ। आशा तभी टूटती है, जब किसी कार्य को सम्पन्न करने की क्षमता टूट जाती है। सक्षम होकर भी मैं निराश हो गया–यह मेरा निरा अज्ञान ही है। मैं अपने ही अज्ञान के इस पर्दे को फाड देना चाहता हूँ और अपनी सोई हुई आत्मा को झकझोर कर जगा देना चाहता हूँ। यह मैं कौन? मैं ही मेरी आत्मा हूँ–दोनो में द्वैत नहीं है। आत्मा ही आत्मा को जगाती है और आत्मा ही आत्मा को उद्‌बोधन करती है। मैं जागता हूँ, उसका अर्थ ही यह होता है कि मेरी आत्मा जागती है और उस जागृति के फलस्वरूप मैं ही अपनी आत्मशक्ति को उद्‌बोधन करता हूँ।

इस दृश्य की भी कल्पना की जा सकती है। समझिये कि एक छात्र गहरी नींद मे सोया हुआ है। उसने प्रात चार बजे उठने के लिए घडी में अलार्म दे रखा है। चार बजते ही घडी का अलार्म जोरो से बज उठता है–काफी देर तक बजता रहता है। छात्र की नींद खुल तो जाती है, मगर आलस्यवश उठ नहीं पाता। उस समय मन ही मन अपने को फटकारता भी है कि तुरन्त उठकर वह पढने क्यो नहीं बैठता तो दूसरी तरफ मीठी मीठी नींद से छुटकारा ले लेने की मर्जी नहीं होती। काफी देर तक भीतर ही भीतर कशमकश चलती रहती है। उठकर पढने बैठने का मन मजबूत होता है तो आलस्य को झटक कर वह बिस्तर से उठ खडा होता है और मन का आलस्य मजबूत साबित होता है तो वह फिर से गहरी नींद सो जाता है। उस छात्र के मन की ऐसी कशमकश को हम रोज–ब–रोज महसूस करते हैं। यही स्वय को स्वय जगाने की कशमकश होती है। मैं इसी रूप मे अपने जागृत पक्ष को सुदृढ बनाकर अपनी ही आत्मा को उद्‌बोधन करना चाहता हूँ।

यह उद्‌बोधन मैं करता हूँ अपने मन और अपनी इन्द्रियो का निग्रह करके। मन और इन्द्रियाँ मीठी मीठी नींद सोना चाहती हैं– मैं उन्हे सोने नहीं देता। मैं अपने आपको भी दुर्बलता के क्षणों मे सावचेत करता हूँ और उठकर पढने के लिए बैठ जाना चाहता हूँ। आत्मा की पढाई बडी कठिन होती है तो

बडी सरल भी। कठिन तो इस कारण कि मैं मन तथा इन्द्रियो का निग्रह कराने वाले तप मे अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को लगा नही पाता हूँ जिससे मन और इन्द्रियाँ बारबार छिटक कर मेरे नियत्रण से बाहर चली जाती है, तब उनको वश मे करना कठिन हो जाता है। और सरल इसलिए कि यदि कठोर तप से मैं आत्म–जेता बन जाता हूँ तो मैं स्व–नियत्रित शक्ति का धनी बन जाता हूँ। भाव–सरणियो मे समुन्नति लाते हुए जेता बन जाना बडा सरल हो जाता है– जन्म जन्मान्तरो का भगीरथ कार्य कुछ ही क्षणो मे सम्पन्न बन सकता हे। प्रश्न यही है कि आत्मा को उद्बोधन कितनी उच्च और उत्कृष्ट भावना के साथ किया जाता है?

कपिल ब्राह्मण का रूपक मुझे याद आता है। अपने दारिद्रय से परम कष्टित होकर वह भूल से मध्यरात्रि मे ही घर से निकल पडा कि राजा को प्रथम आशीर्वाद देकर वह एक स्वर्णमुद्रा प्राप्त करले। प्रहरियो ने उसे चोर समझकर पकड लिया ओर सुबह राजा के सामने प्रस्तुत किया। कपिल ने सच्ची–सच्ची बात बता दी। राजा खुश हो गया और बोला–जो चाहो सो मुझसे माग लो। यकायक कपिल को कुछ नही सूझा तो सोचने का समय माग कर पास के उद्यान मे जाकर बैठ गया। तब कपिल सोचने लगा कि राजा से कया मागू? एक से एक हजार स्वर्ण मुद्रा तक बढा, फिर भी सोचा कि निर्वाह मे यह राशि भी एक दिन समाप्त हो जायेगी और फिर वही दारिद्रय भोगना पडेगा। तो फिर उसका पूरा राज्य ही क्यो न माग लू?

इस बिन्दु पर पहुचते ही उसकी आत्मा को एक झटका लगा और विचार–धारा एकदम परिवर्तित हो गई। कपिल सोचने लगा–मुझ सा अधम और कौन होगा, जो अपने ही सहायक को दर–दर का भिखारी बना देने की बात सोच बैठा? धिक्कार है मुझे और उसकी वह धिक्कार इतनी गहरी होती गई, भाव–सरणि उत्कृष्ट से उत्कृष्टतम बन गई तथा आत्म शक्तियाँ सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर परम जागृत हो गई कि कपिल ब्राह्मण चन्द क्षणो मे ही कपिल केवली (कैवल्यज्ञान प्राप्त) बन गया– जन्म जन्मान्तरो का विकास पलो मे सध गया। यह अपेक्षिक कथन है आत्मोद्बोधन कमी–कभी इतनी मार्मिक और इतनी तत्क्षण सफलता भी प्राप्त कर लेता है। अत मैं आत्मा को उद्वोधित करते समय अपनी भाव–गूढता पर अधिक ध्यान देना चाहता हूँ। आन्तरिकता जितनी निष्पाप और निश्छल बन जाती है, आत्मा का उद्वोधनभी उतना ही प्रभावशाली हो जाता हे। ऐसा भव्य उद्बोधन भी महान् तप रूप हो जाता है कि भावोद्वेग ही सम्पूर्ण कर्म सचय को विनष्ट कर देता है।

भाव–श्रेणी की अत्युच्चता आत्मा को निष्कलुष बनाकर अल्पावधि मे ही परम प्रतापी एव सर्वशक्तिमान के पद पर प्रतिष्ठित कर देती हे।

मैं अपनी आत्मा को उद्‌बोधन करता हूँ– में मुझको ही जगाता हूँ ओर चिन्तनशील बनाता हूँ कि में अपनी आत्मा के याने अपने बधनो को कैसे तोड सकता हूँ तथा कैसे अपनी मुक्ति के मार्ग को खोज सकता हूँ? में अपने वर्तमान आत्म–स्वरूप का दृष्टा बनकर जब उसे निहारता हूँ तो अपने को–अपनी आत्मा को धिक्कारता हूँ कि कैसा मेरा मूल स्वरूप है परम प्रतापी तथा सर्व शक्तिमान् होने का और वर्तमान मे वह कितना प्रताप शून्य एव अशक्त बना हुआ है? मैं अपने आपको बारबार धिक्कारता हूँ अपने विद्रूप पर ओर सकल्पित होता हूँ कि मैं अपनी आत्मा को उद्‌बोधन करूगा, अपनी अपार शक्ति को समीक्षण ध्यान मे लूगा तथा आत्म–साक्षात्कार द्वारा साध्य की ओर त्वरित प्रगति के चरण बढा चलूगा।

प्रताप और शक्ति की दिशा

मैं अपने आत्मस्वरूप के प्रताप तथा उसकी शक्ति की सही दिशा को पहले समझलू–यह अति आवश्यक है। मैं सक्रिय बनू और मेरी दिशा ही अगर गलत हो तो मेरी क्रियाशीलता ही गलत हो जायेगी। अत मुझे सासारिक प्रताप–प्रभाव एव भौतिक शक्तियो के अतर को भलीभाति आकना होगा। इस अतर–अकन मे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सासारिकता मे प्रवृत्ति नही, बल्कि उससे निवृत्ति लेने पर ही आत्मिक प्रभाव का उद्‌भव होता है तथा आतरिक शक्तिया प्रकट होती है। सासारिकता से निवृत्ति एव आध्यात्मिकता मे प्रवृत्ति–इस दृष्टि से यह मेरा प्रथम चरण होना चाहिए।

सासारिकता से निवृत्ति का मुझे यह स्पष्ट अर्थ मानना चाहिए कि मेरा पुरुषार्थ ससार के सुख पाने या उनके माध्यम से कीर्ति अर्जन की दिशा में नही लगे। मेरा पुरुषार्थ स्व–पर कल्याण की दिशा मे लगे जो आत्म चितन, आत्म नियत्रण, आत्म विकास तथा आत्मविसर्जन की श्रेणियो मे समुन्नत होता हुआ सफलता को प्राप्त करता है।

इस तरह में अपने पुरुषार्थ नियोजन की सही दिशा का निर्धारण कर लेता हूँ और इस निर्धारण का मूल ही आत्म चितन मे समाहित होता है। आत्म चितन ही मुझे आत्म नियत्रण की दिशा मे ले जाता है। आत्म–नियत्रण से ही मैं जान पाता हू कि जब मैं अपने मन ओर अपनी इन्द्रियो को गाढी सासारिकता से खींच कर अपने नियत्रण में कर लेता हू, तब मुझे ऐसे आनद का अनुभव होता है जिसका रसास्वादन मैं पहले नहीं कर पाया था। यह मेरा

आत्मनियत्रण क्रमिक अभ्यास के द्वारा पक्का आत्मानुशासन बन जाता है। इस आत्मानुशासन को सुव्यस्थित एव सुस्थिर कर लेने के बाद मुझे अनुभूति होती है कि मेरे आत्मस्वरूप के विकास के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। आत्म विकास की प्रक्रिया मे में जो कुछ सोचता हूँ, जो कुछ बोलता हूँ और जो कुछ करता हूँ–वह मेरे लिए अति आनददायक बन जाता है। दृष्टा रूप मे तब मैं देखता हूँ कि वास्तविकता मे मुझे ससार के विषय भोगो मे अभिरुचि नहीं रही है और न ही सत्ता व सम्पत्ति की उपलब्धि मे आनद की अनुभूति होती है। इसके विपरीत जितना मैं सत्कार्यों मे प्रवृत्ति करता हूँ तथा जितना मैं उस क्षेत्र मे अधिकाधिक त्याग करता हू, मेरी आतरिकता खिल उठती है। मुझे ससार के समस्त प्राणी अपने महसूस होते हैं और भावना प्रबल बनती है कि मैं उन सबको जो कुछ मेरे पास है–दू, उनसे लेने की इच्छा भी नहीं रखू। और दू भी वह जो मेरे लिए अमूल्य है। उन पर अपने हृदय का समस्त स्नेह उडेलू, अपनी करुणा बरसाऊँ और उनके सुख मे ही अपना सुख मानू। इस भावना श्रेणी मे मुझे अपने भीतर अधिक निर्मलता, अधिक त्यागवृत्ति और अधिक आनद की अनुभूति होती है। तब यही समझ मे आता है कि मैं अधिक विनम्र हुआ हूँ, अधिक सहृदय और अधिक सक्रिय। तभी मेरी आत्मा की तेजस्विता एव शक्ति सम्पन्नता प्रखर बनती है। यही परम प्रतापी एव सर्व शक्तिमान् बनने की सही दिशा भी लगती है।

तब मैं समझ जाता हूँ कि तप से ताप उत्पन्न होता है और ताप से प्रताप तथा प्रताप शक्तियो का केन्द्र बन जाता है। तप की करणीयता और आचरणीयता तब मुझे सर्वोच्च दिखाई देती हे। मैं समझ जाता हू कि तप ही आत्मा को परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान् बनाने का मूल कारणभूत करणीय आचरण हो सकता है। क्योकि तप के ही विशुद्ध आचरण से आत्म विकास परिपुष्ट बनकर आत्मविसर्जन का परमोत्कृष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

आत्म चितन की रस धारा मे प्रवाहित होते हुए तब मैं निश्चय कर लेता हूँ कि मुझे तप का ही आचरण अगीकार कर लेना चाहिए और वह आचरण निरतर कठोर एव प्रखर बनता रहे। मैं जानता हूँ कि मैं तप मे तपूगा तो मेरी आत्मा तपेगी और मल रहित होकर निर्मलता का वरण करती जायेगी कर्म बधनो को तोडती हुई हुलकर्मी बनती जायेगी। मैं तप से तपूगा तो मेरा शरीर तपेगा जो कृश होता जाकर भी दिव्य ओज को अपने भीतर समाता जायेगा। मैं तप से तपूगा तो मेरे मन तथा मेरी इन्द्रियों की समस्त सक्रियता स्व–पर कल्याण मे नियोजित हो जायेगी। तप मेरी आत्मा मे परमात्मा वन जाने का

सामर्थ्य जगा देगा। ओर इस रूप म यह तप ही अपनी प्रखरता की उच्चतम साधना मे मुझे सच्ची अनुभूति दे सकेगा कि में परम प्रतापी हूँ, सर्वशक्तिमान हूँ।

तप और उसकी ऊर्जा शक्ति

तप क्या होता है? उसकी ऊर्जा शक्ति केसी होती है? यह सब में जानता हूँ वीतराग देवों की वाणी से जिसे सुगुरु मुझे समझाते हैं। कहा गया है कि तप रूप अग्नि है। जीवात्मा अग्नि का कुण्ड है। मन, वचन और काया के शुभ व्यापार तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए घी डालने की कुडछी के समान और यह शरीर कडो के समान है। कर्म रूप लकडी है और सयम रूप साधना शान्ति–पाठ रूप है। इस प्रकार मैं ऋषियो द्वारा प्रशसित चारित्र रूप भाव होम करता हूँ। यह होम ही तप है और उसकी ऊर्जा शक्ति है आत्म शक्ति।

यो तप की व्याख्या बहुत ही व्यापक होती है। आत्म विकास एव त्याग के उच्चस्थ स्तरो पर मन, वाणी एव कर्म की त्रिधारा ही तपोपूत हो जाती है क्योकि आत्मा और शरीर दोनो ही तप से तपकर तेज से निखर उठते हैं। तप का मूल माने तो वह है इच्छाओ का निरोध। आकाश के समान ये अनन्त इच्छाएँ इस ससार मे आत्मा को चेन से नहीं रहने देती। इच्छाओ का वेग बडा प्रबल होता है। इस वेग को रोक लेना और इच्छाओ का निरोध कर देना अतुल्य तप माना गया है। यही कारण है कि कपिल ब्राह्मण ने इच्छाओ के वेग मे भटकते हुए जब भावनापूर्वक उस वेग को ही नहीं रोगा बल्कि इच्छाओ का ही रूपान्तरण कर दिया तो उसके उस महान् तप के कारण कुछ ही पलो मे वह कपिल केवली हो गया। उसने और कोई तप नहीं किया, केवल इच्छाओ का निरोध किया तथा वह इतनी सघन रीति से कुछ ही पलों के उच्चतम तप ने उसे मुक्तिगामी बना दिया।

इच्छाओ का निरोध सशोधन एक क्लिष्ट और विशिष्ट तप है। मूल मे आत्म–विवेक जितने अशो मे जागृत रहता हे, उतने ही अशो में तप के किसी प्रकार का अनुष्ठान कर्म क्षय का कारण भूत बनता है। कर्मों के नित्य प्रति होने वाले आगमन को रोक लेने के बाद पूर्वसचित कर्मों का क्षय तपाराधन से ही समव होता हे अत यह कहा जा सकता है कि तप से तपे बिना आत्मा को मोक्ष नहीं मिल सकता है। तपस्वी अपने पूर्वोपार्जित कर्मो को उसी तरह अपनी आत्मा से झाडकर अलग कर देता हे जिस तरह कोई पक्षी अपने पखो को फडफडाकर उनकी धूल को झटक देता हे। तप से तपा हुआ साधक अपने

तप के तीर से कर्मों के कवच को भेद डालता हे।

मैं जानता हूँ कि तप के ताप से जो निर्लिप्त ऊर्जा शक्ति मिलती है, वही आत्मा और देह की पृथकता को स्पष्ट करती है और प्रेरणा देती हे कि इस देह को तपाराधन से कृश करते चलो ताकि सासारिकता का मूल नष्ट होता जाय। देह दमन के तप से ही आत्म-दमन का तप सफल होता है और निर्जरा की शक्ति पैनी बनती है। किसी भी प्रकार का तप करने से पहले विवेक का सधा हुआ रहना जरूरी है। इसी कारण मैं तपाराधन के पूर्व अपने शारीरिक एव मानसिक बल को आक लेता हूँ, काल-विकाल को भी परख लेता हूँ, अपने आरोग्य को भी सम्हाल लेता हूँ तथा स्थान-सुविधा की भी परीक्षा कर लेता हूँ यह भी मैं जानता हूँ कि प्रतिष्ठा या पूजा की ऐहिक कामना के साथ तप का शुद्ध आराधन नही होता है और जो साधु बन कर कठिन तपश्चरण करता है लेकिन ऐहिक कामनाओ से ग्रस्त रहता है तो उसका वह कठिन तपश्चरण भी निष्फल जाता है। वस्तुत धर्म मेरा जलाशय है ब्रह्मचर्य आदि तप शान्ति तीर्थ हैं, आत्मा की शुभ लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्म स्नान कर में कर्म मल से मुक्त हो जाता हूँ। तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती हे, किन्तु जाति (अन्य ब्राह्य कारण) की तो कोई विशेषता नजर मे नहीं आती। तप की ही विशेषता होती है कि साधक अन्ततोगत्वा अव्याबाध सुख की अवाप्ति कर लेता है।

मैं अनुभव कर चुका हूँ कि तप मे ही वर्तमान शक्ति लगाने से विविध आत्मिक शक्तियो की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति इस रूप मे लगानी होती है कि मैं अपने क्रोध का दमन करू, मान को मर्दित बनाऊँ, माया को कृश कर दू तथा लोभ-लाभ की लालसा छोड दू। इच्छा निरोध से विषय एव शक्ति प्रयोग से कषाय का अन्त कर दू तो मेरा तप सफलता की सीढियाँ चढने लगेगा। देह सुखाने के साथ मेरा मोह-ममत्त्व भी सूखेगा तो विविध प्रकार की ग्रन्थियाँ भी सुलझ जायेगी। मोह-विजय तप-शस्त्र से ही सभव है। अनशन आदि तपो के आचरण से मन मगलमय बनता है तो इन्द्रियो की शक्ति भी सयम की आराधना मे लगती है। तप की यह विशेषता प्रकट हो, तभी तप को सार्थक मानना चाहिये कि इन्द्रियो तथा देह की क्षीणता के साथ आत्म-बल क्षीण न हो। आत्म बल तपाराधन से निरन्तर बढता रहे-वही तप वास्तविक तप होगा।

मेरी सुनिश्चित धारणा है कि यथार्थ रीति से तप का आचरण मात्र कर्म क्षय के लिए होना चाहिए, अन्य किसी भी प्रयोजन से नहीं। और किसी भी

सामर्थ्य जगा देगा। और इस रूप मे यह तप ही अपनी प्रखरता की उच्चतम साधना मे मुझे सच्ची अनुभूति दे सकेगा कि मैं परम प्रतापी हूँ, सर्वशक्तिमान हूँ।

तप और उसकी ऊर्जा शक्ति

तप क्या होता है? उसकी ऊर्जा शक्ति कैसी होती हे? यह सब मैं जानता हूँ वीतराग देवो की वाणी से जिसे सुगुरु मुझे समझाते हैं। कहा गया है कि तप रूप अग्नि है। जीवात्मा अग्नि का कुण्ड है। मन, वचन और काया के शुभ व्यापार तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए घी डालने की कुडछी के समान और यह शरीर कडो के समान है। कर्म रूप लकडी है और सयम रूप साधना शान्ति–पाठ रूप है। इस प्रकार मैं ऋषियो द्वारा प्रशसित चारित्र रूप भाव होम करता हूँ। यह होम ही तप है और उसकी ऊर्जा शक्ति है आत्म शक्ति।

यो तप की व्याख्या बहुत ही व्यापक होती है। आत्म विकास एव त्याग के उच्चस्थ स्तरो पर मन, वाणी एव कर्म की त्रिधारा ही तपोपूत हो जाती है क्योकि आत्मा और शरीर दोनो ही तप से तपकर तेज से निखर उठते हैं। तप का मूल मानें तो वह है इच्छाओ का निरोध। आकाश के समान ये अनन्त इच्छाएँ इस ससार मे आत्मा को चैन से नहीं रहने देती। इच्छाओ का वेग बडा प्रबल होता है। इस वेग को रोक लेना और इच्छाओ का निरोध कर देना अतुल्य तप माना गया है। यही कारण है कि कपिल ब्राह्मण ने इच्छाओ के वेग मे भटकते हुए जब भावनापूर्वक उस वेग को ही नहीं रोगा बल्कि इच्छाओ का ही रूपान्तरण कर दिया तो उसके उस महान् तप के कारण कुछ ही पलो मे वह कपिल केवली हो गया। उसने और कोई तप नही किया, केवल इच्छाओ का निरोध किया तथा वह इतनी सघन रीति से कुछ ही पलो के उच्चतम तप ने उसे मुक्तिगामी बना दिया।

इच्छाओ का निरोध सशोधन एक क्लिष्ट और विशिष्ट तप है। मूल मे आत्म–विवेक जितने अशो मे जागृत रहता हे, उतने ही अशो में तप के किसी प्रकार का अनुष्ठान कर्म क्षय का कारण भूत बनता है। कर्मो के नित्य प्रति होने वाले आगमन को रोक लेने के बाद पूर्वसचित कर्मो का क्षय तपाराधन से ही सभव होता है अत यह कहा जा सकता है कि तप से तपे बिना आत्मा को मोक्ष नहीं मिल सकता है। तपस्वी अपने पूर्वोपार्जित कर्मो को उसी तरह अपनी आत्मा से झाडकर अलग कर देता है जिस तरह कोई पक्षी अपने पखो को फडफडाकर उनकी धूल को झटक देता है। तप से तपा हुआ साधक अपने

तप के तीर से कर्मों के कवच को भेद डालता हे।

मैं जानता हूँ कि तप के ताप से जो निर्लिप्त ऊर्जा शक्ति मिलती है, वही आत्मा और देह की पृथकता को स्पष्ट करती है और प्रेरणा देती हे कि इस देह को तपाराधन से कृश करते चलो ताकि सासारिकता का मूल नष्ट होता जाय। देह दमन के तप से ही आत्म–दमन का तप सफल होता है और निर्जरा की शक्ति पैनी बनती हे। किसी भी प्रकार का तप करने से पहले विवेक का सधा हुआ रहना जरूरी है। इसी कारण मैं तपाराधन के पूर्व अपने शारीरिक एव मानसिक बल को आक लेता हूँ, काल–विकाल को भी परख लेता हूँ, अपने आरोग्य को भी सम्हाल लेता हूँ तथा स्थान–सुविधा की भी परीक्षा कर लेता हूँ यह भी मैं जानता हूँ कि प्रतिष्ठा या पूजा की ऐहिक कामना के साथ तप का शुद्ध आराधन नहीं होता है और जो साधु बन कर कठिन तपश्चरण करता है लेकिन ऐहिक कामनाओ से ग्रस्त रहता है तो उसका वह कठिन तपश्चरण भी निष्फल जाता है। वस्तुत धर्म मेरा जलाशय है ब्रह्मचर्य आदि तप शान्ति तीर्थ हैं, आत्मा की शुभ लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहॉ पर आत्म स्नान कर मैं कर्म मल से मुक्त हो जाता हूँ। तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती है, किन्तु जाति (अन्य ब्राह्य कारण) की तो कोई विशेषता नजर मे नहीं आती। तप की ही विशेषता होती है कि साधक अन्ततोगत्वा अव्याबाध सुख की अवाप्ति कर लेता है।

मैं अनुभव कर चुका हूँ कि तप मे ही वर्तमान शक्ति लगाने से विविध आत्मिक शक्तियो की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति इस रूप मे लगानी होती है कि मैं अपने क्रोध का दमन करू, मान को मर्दित बनाऊँ, माया को कृश कर दू तथा लोभ–लाभ की लालसा छोड दू। इच्छा निरोध से विषय एव शक्ति प्रयोग से कषाय का अन्त कर दू तो मेरा तप सफलता की सीढियॉ चढने लगेगा। देह सुखाने के साथ मेरा मोह–ममत्त्व भी सूखेगा तो विविध प्रकार की ग्रन्थियॉ भी सुलझ जायेगी। मोह–विजय तप–शस्त्र से ही सभव हे। अनशन आदि तपो के आचरण से मन मगलमय बनता है तो इन्द्रियों की शक्ति भी सयम की आराधना मे लगती है। तप की यह विशेषता प्रकट हो, तभी तप को सार्थक मानना चाहिये कि इन्द्रियों तथा देह की क्षीणता के साथ आत्म–बल क्षीण न हो। आत्म बल तपाराधन से निरन्तर बढता रहे–वही तप वास्तविक तप होगा।

मेरी सुनिश्चित धारणा है कि यथार्थ रीति से तप का आचरण मात्र कर्म क्षय के लिए होना चाहिए, अन्य किसी भी प्रयोजन से नहीं। और किसी भी

लोकिक प्रयोजन से किये जाने वाले तप को तो वास्तव मे तप कहना ही समुचित नही होगा। स्वर्ग, यश अथवा भोग की प्राप्ति के प्रयोजन से किया जाने वाला कठिन तप भी कभी मुक्ति का कारण नही बनता। अविवेक–मिथ्याज्ञान को साथ रख कर किया जाने वाला तप बालतप कहलाता है ओर बाल--तप से आत्म शुद्धि नही होती। अत तप के गूढ मर्म का ज्ञान नितान्त आवश्यक हे। वह मर्म है कि तप करते रहने से आत्म बल बढता रहे, विचार शुद्धि होती रहे तथा सत्कर्म–नियोजन सुदृढ बना रहे। यदि तपस्या करने से आत्मशक्ति ही क्षीण लगे, दुर्ध्यान नियत्रित न हो सके तथा धर्म क्रिया मे प्रवृत्ति करना सुखकर प्रतीत न हो तो वैसी तपस्या से क्या लाभ?

मैं तप के स्वरूप एव उससे प्राप्त ऊर्जा की सार्थकता इस परिणाम मे मानता हूँ कि मेरा तप विषय एव कषायमय मेरी वृत्तियों को उपशामित करे, पूर्व सचित कर्मो का विनाश करे तथा मेरे हृदय मे अपूर्व शान्ति का सचार करे। तप की अग्नि जितनी तेजस्वी हो, आन्तरिक शान्ति उतनी ही शीतल बनती जाय। मैं मानता हूँ कि एक तपस्वी साधक को धृतिमान, सहनशील तथा क्षमाशील होना चाहिये।

देह-शुद्धि से आत्म शुद्धि तक

तपश्चरण से जहॉ देह के सातो धातुओ को तपाते हैं और उन्हे कृश बनाते हैं, वहॉ आत्मा के आठो कर्मो को भी नष्ट करते हैं। देह तपाराधन से जितनी क्षीण होती जाती हे, इच्छाएँ उतनी ही क्षीण हो जाती हैं तथा तृष्णा भी जीर्ण हो जाती है। सच तो यह है कि तपाराधन का मूल उद्देश्य ही तृष्णा को जीर्ण करना है, क्योकि सामान्यतया मनुष्य का जीवन जीर्ण हो जाता है लेकिन उसकी तृष्णा जीर्ण नहीं होती। अत तपाराधन का देह पर जो प्रभाव पडता हे, वह यह कि सासारिक काम भोगो, विषय–कषायों तथा इच्छाओं को पूरी करने व भोगने का सबल सामर्थ्य ही इस देह मे नहीं बचता और आत्मा पर उसका जो प्रभाव पडता है, वह अप्रतिम होता हे। आत्मानुशासन ऐसा कठोर हो जाता है कि मन, इन्द्रियॉ और देह उससे रच मात्र भी बाहर नहीं निकल सकती हैं ओर तपस्वी आत्मा सदा धर्म और शुक्ल ध्यान मे निमग्न रहती हे। इस प्रकार देह शुद्धि से आत्मशुद्धि तक की प्रक्रिया तपश्चरण से सफल बनती है।

यहॉ में एक तथ्य पर ओर विचार कर लेना चाहता हूँ ओर वह तथ्य है आत्मा एव देह का पृथकत्व। अधिकाश लोगो की सामान्य समझ यही होती है कि आत्मा ओर देह में कोई भेद नहीं है। जीवन है जब तक ये हैं और

जीवन के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह भी माना जाता है कि आत्मा कुछ नही होती, यह देह पच भूत से बनती हे तथा मृत्यु के उपरान्त वे ही पच भूत पच भूतो में मिल जाते हैं। इस प्रकार आत्मा की अनश्वरता एव निरन्तरता तथा देह की नश्वरता के बिन्दु सामान्य समझ में स्पष्ट नही होते हैं। यो तो चेतन व जड का सयोग ही सासारिकता का मूल कारण है तथा दोनो के सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद का नाम ही मोक्ष। किन्तु जीवनो की क्रमिकता एव निरन्तरता आत्मा एव देह की पृथकता पर टिकी हुई है। आत्मा अलग और देह अलग है। एक जीवन की समाप्ति पर वह देह नष्ट हो जाती है किन्तु आत्मा नया जीवन धारण करके नई देह अपना लेती है। यह सब उसके कर्म चक्र के अनुसार घटित होता है।

मे समझता हूँ कि आत्मा और देह के अलगाव की बात सामान्य समझ मे ठीक तरह से बैठ जाय, उसके लिए परदेशी राजा और केशी श्रमण के प्रश्नोत्तर बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परदेशी राजा आत्मा ओर देह की पृथकता को नहीं मानता था और इस विश्वास के कारण वह घोर हिसामय पाप कार्यों में लगा रहता था। एक बार महान् साधक केशीश्रमण बाहर के उद्यान में ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पधारे। राजा का सारथी चित्त अपने राजा को धर्म पथ पर मोडने को उत्सुक था अत नये घोडो की चाल दिखाने के बहाने वह परदेशी को उद्यान मे केशीश्रमण के पास ले चला गया। प्रवचन पर्षदा को देख कर राजा परेदशी की जिज्ञासा जगी और उसने केशीश्रमण से अपने प्रश्न किये तथा केशीश्रमण ने उनके उत्तर दिये, वे इस प्रकार के आशय के थे

(1) राजा–आत्मा और देह पृथक्–पृथक हैं– मुझे यह मान्यता असत्य लगती है। प्रमाण देता हूँ। मेरे दादा महाराजा भी दिन रात पाप कर्म मे लिप्त रहते थे, लेकिन मुझे वे बहुत ही प्यार करते थे। आप के अनुसार वे नरक मे होगे तो क्या वे मुझे आकर सावधान नही बनाते कि पाप मत करो, नरक मे भीषण यातनाएँ भोगनी पड्ती हे। वे नहीं आये है इसलिए मेरी मान्यता सत्य है।

केश्रीश्रमण–अगर तुम अपनी पटरानी सूरिकान्ता के साथ किसी अन्य विलासी पुरुष को सासारिक भोग भोगते देख लो तो उसे क्या दण्ड दोगे?

राजा–मैं बिना एक क्षण की भी देरी किये एक ही वार मे उसके प्राण ले लूगा।

केशी–अगर वह पुरुष कहे कि थोडी देर ठहर जाओ–मे अपने सम्बन्धियों को बता कर वापस आता हूँ कि दुराचार का फल ऐसा होता है।

तो क्या तुम थोडी देर के लिये उसे छोड दोगे?

राजा–ऐसे अपराधी को दण्डित करने मे मैं तनिक भी देर नही रुकूगा।

केशी–जिस तरह तुम उस अपराधी पुरुष को दण्ड देने मे देरी नहीं करोगो–उसकी दीनता भरी प्रार्थना पर भी कोई ध्यान नहीं दोगे, उसी तरह नरक के परमाधार्मिक देव नारकीय जीवो को निरन्तर यातनाएँ देते रहते हैं–क्षण भर भी नही छोडते। अत तुम्हारे दादा महाराजा आना चाहते हुए भी तुम्हे सावधानी दिलाने के लिये आ नहीं सकते हैं।

(2) राजा–में अब दूसरा प्रमाण देता हूँ। मेरी दादी श्रमणोपासिका और धर्माराधिका थी, दिन रात धार्मिक क्रियाओ में लगी रहती थी। वह भी मुझे बहुत प्यार करती थी। आपके अनुसार वह स्वर्ग मे गई होगी और अगर आत्मा व देह पृथक हैं तो वही मुझे स्वर्ग से सावधान करने के लिए आ जाती कि पाप कार्य मत करो, नहीं करने से स्वर्ग के ऐसे सुख मिलते हैं। किन्तु वह भी नहीं आई। अत आत्मा और देह अलग–अलग नहीं है।

कैशी–जब तुम नहा धोकर पवित्र वस्त्र पहिन कर किसी पवित्र स्थान मे जा रहे हो और तब कोई टट्टी मे बैठा पुरुष तुम्हे बुलावे तथा कुछ देर अपने साथ बातचीत करने का कहे तो क्या तुम जाओगे?

राजा–उससे बात करने मैं अपवित्र स्थान मे नहीं जाऊगा।

केशी–इसी तरह तुम्हारी दादी भी यहॉ आकर तुम्हे समझाने की इच्छा रखते हुए भी मनुष्य लोक की दुर्गंध आदि के कारणो से यहॉ आने मे असमर्थ है।

(3) राजा–एक और उदाहरण सुनिये। एक बार एक चोर को मेरे सामने पेश किया गया। मैंने उसे जिदा ही लोहे की कुभी मे डलवा दिया। मजबूत ढक्कन और पिघले सीसे से कुभी को पक्की बद कर दी। मेरे सिपाही भी उस का पहरा दे रहे थे लेकिन कुछ दिनो बाद कुभी खुलवाई गई तो चोर मरा हुआ पाया गया। आत्मा के उससे बाहर निकलने की तनिक भी कही गुजाइश नहीं थी अत आत्मा ओर देह एक ही हें।

केशी–यदि पर्वत की चट्टान सरीखी एक कोठरी हो–उसके दरवाजे वगैरा पक्के बद हो तथा चारो ओर से लिपी हुई हो। हवा तक के घुसने का कोई छेद नहीं हो। उस कोठरी मे कोई जोर–जोर से भेरी बजाएँ तो उसका शब्द बाहर निकलेगा। या नहीं?

राजा–अवश्य निकलेगा।

केशी–उसी तरह आत्मा भी कुभी के बाहर निकल सकती है क्योकि वह तो शब्द तथा वायु से भी अधिक सूक्ष्म होती है।

(4) राजा–आत्मा और देह को अभिन्न सिद्ध करने के लिए एक और प्रमाण देता हूँ। एक चोर को मारकर मैंने लोहे की कुभी मे डलवा कर उसे पक्की बद कर दी तथा सिपाहियो का पहरा भी लगा दिया। लेकिन कुछ दिन बाद उसे खुलवाई गई तो वह कीडों से भरी हुई थी। ये कीडे बाहर से कैसे घुस गये? वे तो उसी देह के अश थे। वे जीव बाहर से नहीं आये?

केशी–तुमने आग मे तपा हुआ लोहे का गोला देखा होगा–आग उसके प्रत्येक अश में प्रवेश कर जाती है। गोले में कहीं छेद नहीं होता फिर वह आग भीतर कैसे घुस जाती है? उसी तरह आत्मा अग्नि से भी सूक्ष्म होती है।

(5) राजा–धनुर्विद्या जानने वाला तरुण पुरुष एक साथ पाच बाण फैंक सकता है, लेकिन उसकी ऐसी होशियारी उसके बचपन मे नहीं होती। शरीर वृद्धि के साथ ही होशियारी आती है जिससे साफ है कि आत्मा और देह एक होते हैं।

केशी–वह तरुण पुरुष नया धनुष और नई डोरी लेकर ही पाच बाण एक साथ फैंक सकता है–पुराने धनुष व पुरानी डोरी से नहीं। यह उपकरण का प्रभाव है। वैसे ही बचपन मे धनुष की शिक्षा रूप उपकरण का अभाव होने से एक बालक वैसा नहीं कर सकता है। यह उपकरण के अभाव का प्रभाव है।

राजा–एक तरुण पुरुष लोहे, सीसे या जस्ते के बड़े भार को उठा सकता है, लेकिन वही बूढा हो जाने पर भार उठाना तो दूर–खुद भी लकडी के सहारे चलने लगता है। यदि आत्मा और देह पृथक होते तो वह बुढापे मे भी भार उठाने में समर्थ रहता।

केशी–इतने बडे भार (कावड) को तरुण पुरुष ही उठा सकता है लेकिन उसके पास भी बास फटा व कपडा गला हुआ हो तो क्या वह उस कावड को उठा सकेगा? उसी प्रकार शारीरिक साधन की दुर्बलता से वृद्ध पुरुष वह भार नहीं उठा पाता है। इसमे आत्मा व देह के एक होने का कोई प्रश्न नही है।

(6) राजा–मैंने एक चोर को जिदा हालत मे तोला और मारने के बाद फिर तोला, लेकिन वजन मे कोई फर्क नहीं आया। अगर आत्मा नाम की कोई

वस्तु होती और वह निकलती तो उसके वजन की तो कमी होनी चाहिये थी।

केशी –चमडे की मशक मे हवा भर कर तोलो और फिर हवा निकाल कर तोलो–क्या वजन मे फर्क पडेगा?

राजा–नहीं।

केशी –आत्मा तो हवा से भी सूक्ष्म होती है कयोकि हवा गुरु–लघु है लेकिन आत्मा अगुरु–लघु है। अत यह प्रमाण भी व्यर्थ है।

राजा–आत्मा है या नहीं–यह देखने के लिये मैंने एक चोर को चारो ओर से जाचा–पडताला, कहीं आत्मा नही दिखी। उसके छोटे–छोटे टुकडे करवा दिये तब भी कहीं आत्मा नहीं दिखी। इसलिये आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

केशी –तुम तो उस लकडहारे के समान मूर्ख हो जो लकडी के टुकडे–टुकडे करके उसमे आग खोजा करता है और आग न मिलने पर निराश हो जाता है। आत्मा देह के किसी खास अवयव मे नहीं रहती बल्कि सम्पूर्ण देह मे व्याप्त होती है। देह की प्रत्येक क्रिया उसी के कारण होती है। अत आत्मा और देह की पृथकता स्वयसिद्ध है।

इस प्रकार उपरोक्त प्रश्नोत्तर सरल एव सुबोध शैली मे आत्मा तथा देह की पृथकता को समझा देते हैं जो सामान्य समझ में भी भलीमाति बैठ सकता है।

मैं मानता हूँ कि आत्मा एव देह की पृथकता का यह बिदु तपाराधन की आधार भित्ति है, क्योकि मुख्य रूप से तप के दो प्रकार कहे गये हैं– बाह्य एव आम्यन्तर। बाह्य तप के छ भेद हैं तथा आम्यन्तर तप के भी छ भेद हैं, जो कुल मिलाकर बाहर भेद होते हैं। बाह्य तप का अभिप्राय है कि देह शुद्धि हो और आम्यन्तर तप का उद्देश्य आत्मशुद्धि है। दोनो स्थानो मे शुद्धि का अर्थ है कि सासारिक विषय–कषायो का मैल साफ हो जाय। देह का यह मैल तब तक साफ नहीं होता जब तक कि शारीरिक शक्ति उन भोगो को भोगने मे लगी रहती है, अत उनसे विरत होने के लिए बाह्य तप का सेवन किया जाता है ताकि अशुभता मे लगने वाली देह की तथा उसके माध्यम से इन्द्रियो की शक्ति क्षीण हो जाय। देह शुद्धि के साथ–साथ आत्म शुद्धि का कार्य भी चलता रहना चाहिये। आम्यन्तर तपो का आचरण भीतरी विचारो का मैल साफ करता है। वृत्तियों की शुद्धि के साथ प्रवृत्तियो की शुद्धि एव प्रवृत्तियो की शुद्धि से वृत्तियो की शुद्धि का क्रम तपाचरण से क्रमश चलता रहना

चाहिये। इस शुद्धि क्रम में आत्मा एव देह की पृथकता का बिन्दु इस कारण से महत्त्वपूर्ण है कि सामान्य रूप से मनुष्य का अपनी देह पर अत्यधिक ममत्त्व होता है। यहाँ तक कि वह कई बार देह को ही 'स्वय' मानकर चलने लगता हे तथा देह के सुख के लिए सभी प्रकार के कार्य–अकार्य करने पर उतारू हो जाता हे। अत इस बिन्दु की स्पष्टता के बाद उसकी यह धारणा बन जानी चाहिये कि देह वह 'स्वय' नही है, वह 'स्वय' तो आत्मा हे। इस कारण देह उसके पृथक् है। और इसी कारण देह का पोषण आत्मा का पोषण नही है, बल्कि स्थिति इसके एकदम विपरीत है। देह का पोषण कम किया जायेगा–उस पर से अपने ममत्त्व को घटाया जायेगा, तभी वास्तविक रूप से आत्मा का पोषण प्रारम्भ होगा। देह मोह जितने अशों मे मिटेगा, उन्हीं अशो मे आत्म स्वरूप की विशेष रूप से अनुभूति होगी। यही आत्मानुभूति तथा उसकी परिपुष्टता तपाराधन का प्रधान लक्ष्य है।

जब मैं भली भाति यह समझ लूगा कि मैं देह नहीं हूँ, अपितु आत्मा हूँ तथा देह एक रूप से आत्मा के लिए बधन है जो कामणि देह के रूप मे आत्मा को बाधे रखती है तथा इसी के फलस्वरूप आत्मा बार–बार भिन्न–भिन्न देहो के चोले मे बधती है, तभी मेरा देह–मोह घट और मिट सकेगा। बाह्य प्रकार के तप इसी देह मोह को क्षीणतर करते रहने के अनुष्ठान है। देह मोह की क्षीणता के बाद ही आत्मस्वरूप की अनुभूति प्रबल बनती है, जो आभ्यन्तर प्रकार के तपाचरण से प्रबलतर होती हुई चली जाती है।

मैं यह भी मानता हूँ कि इस रूप में समग्र तपश्चरण की कठोरता ज्यो–ज्यों बढती जाती है, त्यों–त्यों कार्मण शरीर टूटता जाता है याने कि कर्मक्षय का क्रम चल जाता है। तपश्चरण सम्पूर्ण कर्म क्षय का आधार शास्त्र हे। मैंने नव तत्त्वो के स्वरूप–विश्लेषण से जाना है कि बध तत्त्व जहाँ आश्रव तत्त्व के द्वार से कर्मो का आगमन और बध कराता हे, वहाँ सवर तत्त्व की आराधना बाहर से आने और बधने वाले कर्मो को रोक देती है। तब समस्या रह जाती है पूर्व सचित कर्मो को नष्ट करके आत्मा को सम्पूर्ण स्वरूप से निर्मल बना लेने की। यह निर्जरा तत्त्व होता है जिसकी साधना से पूर्वोपार्जित कर्म नष्ट किये जाते हैं। यह निर्जरा की साधना ही तपाराधना हे।

इस रूप मे तप के बाह्य छ एव आभ्यन्तर छ कुल बारह प्रकार क्रमश निम्नानुसार होते हैं

(1) अनशन (2) ऊनोदरी (3) भिक्षाचर्या (4) रस परित्याग (5) कायाक्लेश (6) प्रतिसलीनता (7) प्रायश्चित (8) विनय (9) वैयावृत्य (10)

स्वाध्याय (11) ध्यान तथा (12) व्युत्सर्ग।

तपो का यह क्रम एक दूसरे से उच्चतरता का आपेक्षिक क्रम है–ब्राह्य भेद मे भी ओर आभ्यन्तर भेद मे भी। अनशन सम्पूर्ण आहार त्याग होता है ओर ऊनोदरी मे अल्प या मित आहार लिया जाता हे तब भी ऊनोदरी तप अनशन की तुलना मे उच्चतर माना जाता है क्योकि कुछ न खाने की अपेक्षा भूख से कम खाने की कठोरता अधिक होती है। इसी प्रकार उच्चतरता का क्रम आगे से आगे होता हे। भूख से कम खाने की अपेक्षा मान मोडकर भिक्षा माग कर लाना और खाना अधिक कठिन होता है जबकि उससे भी अधिक कठिन सारे रस छोडकर शुष्क (सूखा) खाना खाना। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप–क्रम मे भी प्रायश्चित सबसे कम कठोर माना गया है जो अपने अकृत्य के प्रति खेद का अनुभव कराता है। उससे उच्चतर होता है विनय–अपनी सम्पूर्ण वृत्तियो मे से अभिमान को निकाल फैंकना और नम्रता की प्रतिमूर्ति बन जाना। इसके बाद क्रमश वेयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान के तप आते हैं सर्वोच्च तप है व्युत्सर्ग, जिसका अर्थ होता है सासारिकता के सम्पूर्ण मोह का सर्वथा त्याग। इसमे शरीर तक का त्याग सम्मिलित होता है।

मैं तपश्चरण के इस क्रम को अनूठा मानता हूँ क्योकि कई मान्यताओ का तप तो अनशन तक ही सिमट कर रह जाता है। जबकि वीतराग देवो ने अनशन को मात्र प्राथमिक तप माना है और वह भी बाह्य–शरीर से सम्बन्धित। बाह्य एव आभ्यन्तर प्रकारो मे यही अन्तर है कि बाह्य तप देह शुद्धि से प्रारभ होते हें तथा आत्म शुद्धि का धरातल तैयार करते हैं तथा आभ्यन्तर तप आत्म शुद्धि से प्रारभ होकर उसकी परम शुद्धि तक पहुँचते हैं तथा उनका प्रभाव शरीर मे तेज एव ओज के रूप मे प्रकट होता है।

मैं साधना के इस श्रेष्ठ अग–तपश्चरण पर जितना अधिक चिन्तन करता हूँ, उतनी ही गूढता मेरे मन मे गहराती जाती है जैसे कि उस गूढता का कहीं ओर–छोर ही न हो। इस कारण मैं जरूरी समझता हूँ कि तप के एक–एक प्रकार पर विस्तृत रूप से सोचू तथा उनके आत्मप्रेरित आचरण मे निष्ठा का सचय करू। यह विस्तृत विश्लेषण मेरे विचार को स्पष्टता देगा तो मेरा आचार को भी परिपुष्ट बनायगा, ताकि मैं अपनी आत्म विकास की इस महायात्रा मे त्वरित गति से आगे बढ सकू।

आहार-त्याग रूप अनशन

मैं मानता हूँ कि शरीर और आत्मा को तपाना ही तप है। जैसे अग्नि मे तपा हुआ सोना पूर्ण निर्मल होकर शुद्ध होता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि

मे तपी हुई दह और आत्मा मल से रहित होकर शुद्ध–स्वरूप हो जाती हे।

तपश्चरण के इस क्रम मे पहला है अनशप तप। आहार का त्याग करना अनशन तप है। इसके दो भेद कहे गये हैं– (1) इत्वर–एक दिन के उपवास से लेकर छ माह तक का अनशन तप इत्वर अनशन हे। (2) यावत्कथित भक्त परिज्ञा, इगित मरण और पादोपगमन मरण रूप अनशन यावत्वकथित अनशन है। इसे मरण–काल अनशन कह सकते हैं।

इत्वरिक अनशन मे भोजन की आकाक्षा रहती है, इसलिये इसे साकाक्ष अनशन भी कहते हैं, जबकि मरण काल अनशन (सथारा) जीवन पर्यन्त के लिये होता है। उसमे भोजन की कतई आकाक्षा नहीं रहती, इस कारण वह नि काक्ष अनशन भी कहलाता है।

इत्वरिक अनशन छ प्रकार का कहा गया है –(1) श्रेणी तप–श्रेणी का अर्थ होता है क्रम या पक्ति। उपवास, बेला, तेला आदि क्रम से किया जाने वाला तप श्रेणी तप है जो क्रमिक रूप से उपवास से लेकर छ माह तक का होता हे। (2) प्रतर तप–श्रेणी को श्रेणी से गुणा करना प्रतर है। प्रतर युक्त तप प्रतर तप कहलाता है। जेसे, उपवास, बेला, तेला और चौला इन चार पदो की श्रेणी होती है। श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने पर सोलह पद होते हैं। प्रतर का आयाम विस्तार (लम्बाई चोडाई) मे बराबर होता है। प्रतर की स्थापना की विधि इस प्रकार है–प्रथम पक्ति मे एक दो तीर चार रखना हे। दूसरी पक्ति दो से आरम करना और तीसरी व चौथी क्रमश तीन व चार से आरम करना। इस प्रकार रखने मे पहली पक्ति पूरी होगी और शेष अधूरी रहेगी। जिन्हे यथायोग्य आगे की सख्या ओर फिर क्रमश बची हुई सख्या रख कर पूरी करना चाहिये। स्थापना यह हे–1, 2, 3, 4, (2) 2, 3, 4, 1 (3) 3, 4, 1, 2 तथा (4) 4, 1, 2, 3। (3) घन तप–प्रतर को श्रणी से गुणा करना घन है। यहॉ सोलह को चार से गुणा करने पर आई हुई चोसठ की सख्या घन है। घन से युक्त तप घन तप कहलाता है। (4) वर्ग तप–घन को घन से गुणा करना वर्ग है। यहॉ चौसठ को चोसठ से गुणा करने पर आई 4096 की सख्या वर्ग है। वर्ग से युक्त तप वर्ग तप कहलाता है। (5) वर्ग–वर्ग तप–वर्ग को वर्ग से गुणा करना वर्ग–वर्ग हे। यहॉ 4096 को 4096 से गुणा करने पर आई हुई 16777216 की सख्या वर्ग–वर्ग हे। वर्ग–वर्ग से युक्त तप करना वर्ग–वर्ग कहलाता है। (6) प्रकीर्ण तप–श्रेणी आदि की रचना न कर यथाशक्ति फुटकर (छुटक) तप करना प्रकीर्ण तप है। नवकारसी से लेकर यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमादि सभी प्रकीर्ण तप हैं।

एक अन्य अपेक्षा से अनशन तप के बीस भेद बताये गये हैं। इत्वरिक के 14 भेद– (1) चतुर्थ भक्त (2) षष्ठ भक्त (3) अष्टम भक्त (4) दशम भक्त (5) द्वादश भक्त (6) चतुर्दश भक्त (7) षोड्शभक्त (8) अर्धमासिक (9) मासिक (10) द्वैमासिक (11) त्रैमासिक (12) चातुर्मासिक (13) पच मासिक तथा (14) षाण्मासिक एव यावत्कथित के 6 के भेद–(1) पादोपगमन (2) भक्त प्रत्याख्यान (3) इगित मरण तथा इनके निहारी और अनिहारी के भेद से छ भेद हो जाते हैं।

यावत्कथित अनशन तप (सथारा) के अन्तर्गत आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी अग को किचिन्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से सथारा करना पादोपगमन कहलाता है। पादोपगमन के दो भेद हैं–(1) व्याघातिम–सिह, व्याघ्र तथा दावानल (वन की आग) आदि का उपद्रव होने पर जो सथारा (अनशन) किया जाता है वह व्याघातिम पादोपगमन सथारा कहलाता है। (2) निर्व्याघातिम–जो किसी भी उपद्रव के बिना स्वेच्छा से सथारा किया जाता है, वह निर्व्याघातिम पादोपगन सथारा कहलाता है। दूसरे, भक्त–प्रत्याख्यान यावत्कथित अनशन तप का अर्थ होता है चार अथवा तीन प्रकार के आहार का त्याग कर लेना। ओर इसी अवस्था मे भक्त–परिज्ञा मरण यावत्कथिक अनशन तप भी होता है। इसके तीसरे भेद इगित मरण के अनुसार दूसरे साधुओ से सेवा सुश्रूषा न करवाते हुए नियमित प्रदेश की सीमा मे रहकर सथारा करना होता है। ये तीनो भेद निहारी और अनिहारी रूप होते हैं। निहारी सथारा ग्रामनगर के अन्दर किया जाता है तथा अनिहारी सथारा ग्राम–नगर से बाहर किया जाता है। जिस मुनि का मरण ग्राम–नगर में हुआ हो और उस के मृत शरीर को ग्राम–नगर से बाहर ले जाना पडे तो वह निहारी मरण कहलाता है। ग्रामनगर के बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि मे जो मरण हो वह अनिहारी मरण कहलाता है।

यावत्कथिक अनशन के काम चेष्टा की अपेक्षा से दो भेद हैं–(1) सविचार–काया की क्रियासहित अवस्था तथा (2) अविचार–निष्क्रिय। दूसरी अपेक्षा से दो भेद इस प्रकार हैं–(1) सपरिकर्म–सथारे की अवस्था में दूसरे मुनियों से सेवा लेना तथा (2) अपरिकर्म–सेवा की अपेक्षा नहीं रखना।

मैं सबसे पहले क्रम पर रखे गये इन अनशन तप के स्वरूप पर ही जब चिन्तन करता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि कितना उत्कृष्ट एव कष्ट साध्य स्वरूप है इसका? सामान्य जन को एक उपवास भी कठिन लगता है जबकि उपवासो की श्रेणियो, प्रतरो आदि की गुणात्मक आराधना के लिये तो

प्रखर आत्म–बल की आवश्यकता होती है। यो भूखा रहना भी आसान नही होता है इसी कारण नीति मे कहा गया है कि बुभुक्षित (भूखा) पुरुष क्या क्या पाप नहीं कर डालता है। ऐसी दशा मे इच्छापूर्वक भूखा रहना और इन्द्रियदमन करना वस्तुत टेढी खीर है। यह विचार उठ सकता है कि जब पहले तप की ही यह काठिन्य है तो आगे के तपो की आराधना कितनी कठिन होगी, किन्तु कठिनता और सरलता की समझ मनोदशा के अनुरूप होती है। मैं मानता हूँ कि यदि इरादा मजबूत हो तो दूसरो को कठिन समझ मे आने वाला काम भी मजबूत इरादे वाले को आसान लगता है। इसके विरुद्ध अगर इरादा ढिलमिल रहता है तो हकीकत मे आसान काम भी उस के लिए कठिन बन जाता है। फिर तपश्चरण तो वस्तुत ही कठिन होता है। जीवितावस्था मे अनशन तथा मरणकाल मे भी अनशन याने सथारा–तब कहीं पहले तप की सफल आराधना बन पडती है।

मैं सोचता हूँ कि जो साधक अपने जीवन मे तथा मरण मे अनशन व्रत की ही सफल साधना कर लेता है, वह अपनी आत्मा को तपा डालता है और अपने मरण को पडित मरण बना लेता है।

अल्पता बोधक तपस्या

अल्पता बोधक तपस्या ऊनोदरी होती है कि जिसका जितना आहार है उससे कम आहार करना अर्थात् भूख से कम खाना। भूख से कम खाने की कठिनाई अपनी ही तरह की होती है। मैं सोचता हूँ कि यदि मैं उपवास का प्रत्याख्यान कर लू तो मन मे शान्ति आ जाती है कि आज मुझे भोजन करना ही नहीं है–भोजन की लोलुपता सताती नहीं। किन्तु खाना खाने बैठू भी और खाऊ भी लेकिन भूख से तृप्ति न लू–तृप्ति के पहले ही खाना बन्द कर दू–यह स्थिति हकीकत मे उपवास की अपेक्षा कठिनतर होती है। खाना खाना शुरू करने देने पर विभिन्न व्यजनो का स्वाद अनुभव में आता है तो खाने से सम्बन्धित लोलुपता भी उत्तेजित हो जाती है, वैसी अवस्था में तृप्ति के छोर तक पहुचाने से पहले ही अपने को रोक लेना अधिक निरोध शक्ति की अपेक्षा रखता है। मैं समझता हूँ कि ऊनोदरी तप की वास्तविक आराधना से ही इस सत्य का सही अनुभव हो सकता है।

ऊनोदरी की तपस्या आहार के सम्बन्ध मे ही अल्पता बोधक नहीं है अपितु उपकरणो के सम्बन्ध मे भी अल्पता बोधक है। आहार के समान ही आवश्यक उपकरणो से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार तथा उपकरणो मे आवश्यकता से भी कमी करना इस ऊनोदरी तप का द्रव्य रूप

है तो इसका भाव रूप यह होगा कि क्रोध आदि कषायो को मद एव अल्प किया जाय।

इस रूप मे ऊनोदरी तप के प्राथमिक दृष्टि से दो भेद हुए–(1) द्रव्य ऊनोदरी एव (2) भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद बताये गये हैं–(1) उपकरण द्रव्य ऊनोदरी तथा (2) भक्त पान द्रव्य ऊनोदरी। पहले भेद उपकरण, द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद–(1) पात्र (2) वस्त्र ओर (3) जीर्ण उपधि। दूसरे भेद भक्त पान द्रव्य ऊनोदरी के पाच भेद–(2) अल्पाहार ऊनोदरी–एक से आठ कवच (कवे) प्रमाण आहार करना। (2) उपार्ध ऊनोदरी–नौ से बारह कवल प्रमाण आहार करना। (3) अर्ध ऊनोदरी–तेरह से सोलह कवल प्रमाण आहार करना। (4) पोण ऊनोदरी–सत्तरह से चौबीस कवल प्रमाण याने पोन पाति का आहार करना। एव (5) किचित् ऊनोदरी–पच्चीस से इकतीस कवल प्रमाण आहार करना, क्योंकि पूरे बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना प्रमाणोपेत आहार कहलाता है। भाव ऊनोदरी के सामान्यत छ भेद किये जाते हैं–(1) अल्प क्रोध अर्थात् क्रोध का निग्रह करते चले जाने की प्रक्रिया। (2) अल्प मान–सामान्य रूप से अनुभव मे आने वाली मान वृत्ति को कम करना। (3) अल्प माया–अपने मायाचार को घटाना। (4) अल्प लोभ–तप का विचार रखते हुए अपनी लोभ वृत्ति मे कमी करना। (5) अल्प शब्द–वाणी निग्रह का ध्यान रखना। तथा (6) अल्प झज्झ (कलह)–राग द्वेष की वृत्तियो तथा कलहकारी प्रवृत्तियो मे कमी लाना।

ऊनोदरी तप की महत्ता को मैं समझू तथा इसकी अराधना का व्रत लू। भोजन और उपकरणों का परिमाण मैं क्रमश घटाता चलूगा तो उसका निश्चित रूप से यह प्रभाव होगा कि मैं बाहरी सुख सुविधाओ के सम्बन्ध मे अपने चित्त की लिप्तता को कम कर सकूगा, क्योकि आहार का परिमाण घटता रहेगा तो देह–मोह घटेगा ओर खाने के लिये जीने की नहीं, बल्कि जीने के लिये खाने की शुद्ध प्रवृत्ति का विकास हो सकेगा। साधु अवस्था मे भी कई बार देह मोह मिटता नहीं है तो उसकी सुख सुविधाओं का खयाल आ जाता है जिसके निराकरण के लिये आहार के साथ उपकरणो की अल्पता का बोध भी इस ऊनोदरी तप के माध्यम से होता हे।

मेरा विचार है कि जब साधु के लिये शास्त्र सम्मत आहार (बत्तीस कवल) मे भी कमी की जाती है और इसी प्रकार भड, वस्त्र, पात्र एव उपकरणो मे भी मान्य परिमाण से भी अल्पता ग्रहण होती है, तब निश्चय ही उस सादगी का असर मन के भावो पर शुभ रूप मे पडता है। भाव ऊनोदरी

के रूप मे उसके क्रोध, मान, माया तथा लोभ की वृत्तियो मे कमी आती है, वह मितभाषी हो जाता है तथा क्रोध के वशीभूत होकर वचन नही निकालता है एव आते हुए क्रोध को शान्त कर देता है। इस प्रकार यह ऊनोदरी तप अपने आचरण मे पहले तप अनशन की अपेक्षा कठिन तर होता है। मैं भावना भाता हूँ कि इस तप की मेरी आराधना सफल बने ताकि मैं देह–मोह से दूर हटकर आत्म स्वरूप मे अधिक रमण कर सकू एव अपने कषाय भावो को मन्दतर बना सकू। मेरे कर्म क्षय की दिशा मे मैं इस दूसरे सोपान पर दृढ सकल्प के साथ आरूढ हो सकू और तीसरे सोपान पर पहुचने की शक्ति अर्जित कर सकू–ऐसी मेरी भावना है।

भिक्षा चर्या वृत्ति-संकोच

विविध अभिग्रह (प्रण) लेकर भिक्षा का सकोच करते हुए विचरना भिक्षा चर्या तप कहलाता है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का सकोच होता है। इसलिये इसे वृत्ति–सक्षेप भी कहते हैं।

में ससार मे इस सामान्य तथ्य का अनुभव करता हूँ कि मनुष्य के मन मे अहकार बडी गहरी जडें जमाकर टिका हुआ होता है। इसी कारण कोई किसी का अहसान लेने से झिझकता है। सामान्य रूप से मनुष्य सोचता है कि वह किसी से क्यो कुछ माग कर नीचा बने? छोटे से छोटे आदमी मे भी दबा–छिपा हो, लेकिन ऐसा अह जरूर होता है। इस अहकार को तोडना तथा अपने आपको याचक के रूप मे प्रस्तुत करना बडा कठिन होता है। वैसे भिक्षा के अनुभव भी सामान्य नही होते हैं–कही घी घणा तो कहीं ओछा चणा। यह तो ठीक, लेकिन दाता के व्यवहार मे भी बडी विचित्रता दृष्टि मे आती है। दाता सद्व्यवहारी भी हो सकता है और असद् व्यवहारी भी। असद् व्यवहारी दाता की अवहेलना एव अवमानना शान्तिपूर्वक सह लेना सरल नहीं होता है। इस रूप मे भिक्षा चर्या का तप तपने वाले की आन्तरिक वृत्तियो की कडी परीक्षा लेता है।

में चिन्तन करता हूँ कि भिक्षा चर्या तप को वृत्ति सक्षेप क्यों कहा है? वृत्ति का अर्थ होता है–निर्वाह के साधन रूप भोजन उपकरण आदि। जब सर्व विरति धर्म का पालन साधु भिक्षा वृत्ति को अपनाता है तब निश्चय ही वह अहकार जयी बनता है। अहकार को जीतने के साथ ही यह विचार आना स्वाभाविक है कि जब भिक्षा माग कर अपना निर्वाह चलाना है तो पहली बात यह कि उसे बहुत ही आवश्यक पदार्थो पर निर्भर रहना चाहिये। दूसरे, उस अति आवश्यकता में भी अल्पता की जाती रहे तो वह श्रेष्ठ है। इस प्रकार

भिक्षा चर्या की भावपूर्ण आराधना मे वृत्ति सक्षेप एक अनिवार्य निष्पति बनती है। यह वृत्ति सक्षेप ही वृत्ति सकोच होता है।

भिक्षा चर्या के तप मे भी शुद्धता की दृष्टि से कडी कसौटिया रखी गई हैं। एक निर्ग्रंथ साधु को निम्न नौ कोटियो से विशुद्ध आहार ही ग्रहण करना होता है–

(1) साधु आहार के लिये स्वय जीवों की हिसा न करे।

(2) इस हेतु दूसरो के द्वारा भी हिसा नहीं करावे।

(3) इस हेतु हिसा करते हुए का अनुमोदन भी नही करे अर्थात् उसे भला न समझे।

(4) आहार आदि स्वय नही पकावे।

(5) दूसरे से न पकवावे।

(6) पकाते हुए का अनुमोदन न करे।

(7) आहार आदि स्वय नही खरीदे।

(8) दूसरे को खरीदने के लिये न कहे। तथा

(9) खरीदते हुए किसी व्यक्ति का अनुमोदन नहीं करे।

ये नौ कोटिया मन, वचन एव काया रूप तीनो प्रकार के योगो से सम्बन्धित मानी जानी चाहिये।

भिक्षाचर्या तप के तीस भेद कहे गये हैं–(1) द्रव्य–द्रव्य विशेप का अभिग्रह लेकर भिक्षा चर्या करना। (2) क्षेत्र–स्वग्राम और परग्राम से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना। (3) काल– प्रात काल या मध्यान्ह मे भिक्षाचर्या करना। (4) भाव–गाना, हसना, आदि क्रियाओ मे प्रवृत्त पुरुषो से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना। (5) उत्क्षिप्त चरक–अपने प्रयोजनो के लिये गृहस्थी के द्वारा भोजन के पात्र से बाहर निकाले हुए आहार की गवैषणा करना। (6) निक्षिप्त चरक–भोजन के पात्र से उदधृत ओर अनुदधृत दोनो प्रकार के आहार की गवैषणा करना। (7) उत्क्षिप्त–निक्षिप्त चरक–पहले भोजन पात्र मे डाले हुए और फिर अपने लिये बाहर निकाले हुए आहार आदि की गवैषणा करना। (8) निक्षिप्त–उत्क्षिप्त चरक–दाता ने पाक भोजन से अन्नादिक को निकाल कर दूसरे पात्र मे रख दिया हो, उसी को हाथ मे उठाया हो उससे देने की गवैपणा करना। (9) वर्त्यमान चरक–गृहस्थी के लिये थाली मे परोसे हुए आहार की गवैषणा करना। (10) साहर्त्यमान चरक (साहरिज्जमाण चरिए)–कूरा (एक

प्रकार का धान) आदि जो ठडा करने के लिये थाली आदि मे डाल कर वापस भोजन पात्र मे डाल दिया गया हो–ऐसे आहार की गवैषणा करना। (11) उपनीत चरक (उवणीय चरिए)–दूसरे साधु द्वारा अन्य साधु के लिये लाये गये आहार की गवैषणा करना। (12) अपनीत चरक (अवणीय चरिए)–पकाने के पात्र मे से निकाल कर दूसरी जगह रखे हुए पदार्थ की गवेषणा। (13) उपनीतापनीत चरक (उवणीआवणीय चरिए)–उपरोक्त दोनो प्रकार के आहार की गवैषणा करना अथवा दाता द्वारा उस पदार्थ के गुण और अवगुण सुन कर फिर ग्रहण अर्थात् एक ही पदार्थ की एक गुण से तो प्रशसा और दूसरे गुण की अपेक्षा दूषण सुनकर फिर लेना। जैसे यह जल ठडा तो है लेकिन खारा है आदि (14) अपनीतोपनीत चरक (अवणीयोवणीअ चरिए)–मुख्य रूप से अवगुण और सामान्य रूप से गुण को सुनकर उस पदार्थ को लेना है। जैसे यह जल खारा है लेकिन ठडा है आदि। (15) ससृष्ट चरक (ससट्ठ चरए)–उसी पदार्थ से खरडे (लिये) हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवैषणा करना। (16) असंसृष्ट चरक (अससठचरए)–बिना खरडे हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवैषणा करना। (17) तज्जात ससृष्ठ चरक (तज्जाय ससट्ठचरए) भिक्षा मे दिये जाने वाले पदार्थ के समान (अविरोधी) पदार्थ से खरडे हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना। (18) अज्ञात चरक (अण्णाय चरए)–अपना परिचय दिये बिना आहार की गवेषणा करना। (19) मौन चरक (मोणचरए)–मौन धारण करके आहार आदि की गवैषणा करना। (20) दृष्ट लाभिक (दिट्ठलाभिए)–दृष्टिगोचर होने वाले आहार की ही गवैषणा करना अथवा सबसे पहले दष्टिगोचर होने वाले दाता से भी भिक्षा लेना। (21) अदृष्टलाभिक (अदिट्ठलाभिए)–अदृष्ट अर्थात् पर्दे आदि के भीतर रहे हुए आहार की गवैषणा करना अथवा पहले देखे हुए दाता से आहार आदि लेना। (22) पृष्ठलाभिक (पुट्ठलाभिए)–हे मुनि, तुम्हे किस चीज की जरूरत है?–ऐसा पूछने वाले दाता से आहार आदि की गवैषणा करना। (23) अपृष्ठलाभिक (अपुट्ठलाभिए)–किसी प्रकार का प्रश्न न पूछने वाले दाता से ही आहार आदि की गवैषणा करना। (24) भिक्षा लाभिक (भिक्खलाभिए)–रूखे सूखे तुच्छ आहार की गवेषणा करना। (25) अभिक्षा लाभिक (अभिक्ख लाभिए)–सामान्य आहार की गवैषणा (26) अन्नग्लायक (अएण गिलायए)–अन्न के बिला ग्लानि पाना अर्थात् अभिग्रह विशेष के कारण प्रात काल ही आहार की गवैषणा करना। (27) औपनिहितक (ओवणिहए) किसी तरह पास मे रहने वाले दाता से आहार आदि की गवेपणा करना। (28) परिमित पिडपातिक (परिमिय पिडवाइए)–परिमित आहार की गवैपणा करना। (29) शुद्धैषणिक

(सुद्धेसणिए)—शकादि दोष रहित शुद्ध एषणापूर्वक कूरा आदि तुष्ठ अन्न वगैरा की गवेषणा करना। (30) सख्यादतिक (सखादत्तिए)—बीच मे धार न टूटते हुए एक बार मे जितना आहार या पानी साधु के पात्र मे गिरे उसे एक दत्ति कहते हें। ऐसी दत्तियो की सख्या का नियम करके भिक्षा की गवैषणा करना।

उपरोक्त भेदो से यह स्पष्ट है कि भिक्षाचर्या किसी न किसी अभिग्रह (प्रण) के साथ होनी चाहिये जिससे इस तप की कठोरता बढ जाती है। भिक्षा लेने वाले मुनि ने क्या अभिग्रह ले रखा है—इसका ज्ञान दाता को होता नहीं है, जिससे स्वाभाविक तौर पर ही अभिग्रह की पूर्ति हो तो मुनि भिक्षा ग्रहण करते हैं। अभिग्रह की पूर्ति होगी या नही अथवा कब होगी—इसकी कोई निश्चितता नही रहती। इस रूप मे भिक्षा चर्या के तप मे बहुत बडे त्याग भाव की अपेक्षा रहती है।

मच्छ की उपमा से भिक्षा लेने वाले भिक्षुक के पाच प्रकार बताये गये हैं—(1) अनुस्तोतचारी—अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय के समीप से प्रारभ करके क्रम से भिक्षा लेना। (2) प्रतिस्त्रोतचारी—अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय से बहुत दूर जाकर लौटते हुए भिक्षा लेना वाला। (3) अन्तचारी—क्षेत्र के पास मे अर्थात् अन्त मे भिक्षा लेने वाला। (4) मध्यचारी—क्षेत्र के बीच—बीच के घरो से भिक्षा लेने वाला। तथा (5) सर्वस्त्रोतचारी—सर्व प्रकार से भिक्षा लेने वाला।

वीतराग देवो ने सच्चा भिक्षुक (साधु) उसको कहा है जो तपश्चर्या और सहिष्णुता के साथ आत्म—विकास साधता है। भिक्षा के सम्बन्ध मे वह अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियो मे आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरो से भिक्षावृत्ति करके आनन्द पूर्वक सयम धर्म का पालन करता है। वह किसी भी वस्तु मे मूर्छा भाव नहीं रखता है तथा परिषहो व उपसर्गो को शान्तिपर्वूक सहन करता है। अपने लिये आवश्यक शय्या (घासफूस) पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर में मौजूद हो किन्तु उसके द्वारा उन पदार्थो की याचना करने पर यदि वह नहीं दे तो सच्चा भिक्षुक उसको जरा भी द्वेषयुक्त वचन न कहे और न अपने मन मे बुरा ही माने क्योकि मुनि को मान ओर अपमान दोनो मे समान भाव रखना चाहिये। वह गृहस्थो से आहार, पानी, खादिम, स्वादिम जो भी पदार्थ प्राप्त करे, उन्हे पहले अपने साथी साधुओ मे बाटे और बाद मे मन, वचन व काया को वश मे रखते हुए स्वय आहार करे। गृहस्थ के घर से ओसाचण, पतली दाल, जौ का दलिया, ठडा भोजन, जौ या काजी का पानी आदि आहार प्राप्त कर जो भिक्षुक

उसकी निन्दा नही करता और सामान्य स्थिति के घरो मे भी जाकर भिक्षावृत्ति करता है, वही सच्चा भिक्षुक होता है, क्योकि साधु को अपने सयमी जीवन के निर्वाह के लिये ही आहार आदि ग्रहण करना चाहिये, जिव्हा की लोलुपता शान्त करने के लिये नहीं। भिक्षाचर्या के तप की आराधना मे श्रेष्ठ समभाव की आवश्यकता होती है तो तप की सफल आराधना से समभाव का उत्कृष्ट रूप निखरता जाता हे।

मात्र जीने के लिये खाना

सयम की साधना का साध्य मैं मानता हूँ आत्म विकास एव स्व–पर कल्याण और इस सयम को साधने का साधन रूप होता है शरीर। इस दृष्टि से शरीर जिस रीति से सयम धर्म का साधन बना रहे, उसी रीति का उसका पोषण होना चाहिये। ऐसा पोषण नहीं कि वह किसी भी रूप मे अधर्म का साधन बने। अत रस परित्याग का चौथे प्रकार का तप वह निर्देश देता है कि देह मे विकार पैदा करने वाले दूध, दही, घी आदि विगयो तथा उनसे बनाये जाने वाले स्निग्ध एव गरिष्ठ खाद्य पदार्थों का त्याग किया जाय। खाना बिल्कुल सादा, बल्कि रूखा–सूखा हो। खाने के लिये जीने को लिप्सा तो कतई होनी ही नहीं चाहिये–मात्र जीने के लिये खाने का भाव होना चाहिये।

अत जिव्हा के स्वाद को छोडना रसपरित्याग का तप है। सामान्यत इसके नौ भेद कहे गये हैं–

(1) प्रणीत रस परित्याग–जिसमे घी, दूध आदि की बूदे टपक रही हो ऐसे आहार का त्याग करना।

(2) आयबिल–नमक मसाला व विगय रहित रोटी भात आदि को धोवण या उष्ण पानी मे डाल कर आहार करना आयम्बिल कहलाता है।

(3) आयामसिक्थभोजी–चावल आदि के पानी में पडे हुए धान्य आदि का आहार करना।

(4) अरसाहार–नमक मिर्च आदि मसालो के बिना रस रहित आहार करना।

(5) विरसाहार–जिनका रस चला गया हो ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

(6) अन्ताहार–जघन्य अर्थात् जो आहार वहुत गरीव लोग करते हें ऐसे चने चबीने आदि खाना।

(7) प्रान्ताहार–बचा हुआ आहार करना।

(8) रूक्षाहार–बहुत रूखा–सूखा आहार करना। इसे तुच्छाहार भी कहा गया है अर्थात् सत्त्व रहित तुच्छ एव नि सार भोजन करना।

(9) निर्विगय–तेल, गुड, घी आदि विगयो से रहित आहार करना।

मैं रस परित्याग तप को रसना–सयम के रूप मे देखता हूँ, इसलिये मानता हूँ कि घी आदि रसो का अधिक मात्रा मे सेवन नहीं करना चाहिये क्योकि प्राय करके रसों का सेवन मनुष्यो के मन मे काम का उद्दीपन करता है। वैसे उद्दीप्त मनुष्य की तरफ काम वासनाए ठीक उसी तरह से दौडी हुई चली आती हैं जिस तरह स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की तरफ पक्षी दौडे आते हैं। पौष्टिक एव रसीला भोजन विषय वासनाओ को उत्तेजना देता है अत सयम साधक को ऐसे भोजन का सदा त्याग रखना चाहिये। सासारिकता का त्याग करने वाला साधु अगर स्वादवश स्वादिष्ट भोजन वाले घरो मे भिक्षा के लिये जाता है तो मानना होगा कि वह साधुत्व से बहुत दूर है। वह साधु नहीं, स्वादु होगा।

रस परित्याग तप उसे कहा गया है, जब साधु का या साध्वी अशनादि का आहार करते समय, स्वाद के लिये ग्रास को मुह मे बाई ओर से दाहिनी ओर तथा दाहिनी ओर से बाई ओर न करे। इस प्रकार स्वाद का त्याग करने से साधु आहार विषयक लघुता–निश्चिन्तता प्राप्त करता है। जिह्वा को वश मे रखने वाले अनासक्त साधु को सरस आहार में लोलुपता का त्याग करना चाहिये तथा स्वाद के लिये नही, सयम के निर्वाह मात्र के लिये ही भोजन करना चाहिये। स्वाद रहित नीरस भिक्षा पाकर भी साधु को उस की हीलना नही करनी चाहिये। जैसे पहिये को बराबर गति मे रखने के लिये धुरे मे तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार शरीर को सयम यात्रा के योग्य रखने के लिये ही साधु को आहार करना चाहिये। साधु कभी भी न स्वाद के लिये भोजन करे, न रूप के लिये, न वर्ण के लिये और न ही बल के लिये भोजन करे।

मेरे विचार से रसना जय ही आत्मजय का मूलाधार बनता है। इसी दृष्टि से रसनेन्द्रिय पर नियत्रण साधने के लिये आहार सम्बन्धी तपो का विविध एव विस्तृत प्रकार से निरूपण किया गया है। आहार जितना मित ओर सादा होता है, उतना ही सादा और सीधापन विचारो मे रहता है तथा देह–मोह भी घेरता नही है। रस परित्याग तप की कठिनता का यही कारण है। स्वाद को जीत लेने से आचरण सम्बन्धी कई जटिल समस्याओ का स्वत ही समाधान निकल आता है और सयम साधना को बहुत बल मिलता है।

देह-मोह से दूर

देह–मोह को सर्वथा दूर कर लेने का कठिन तप मैं मानता हू छठे प्रकार के कायाक्लेश तप को। शास्त्र सम्मत रीति से शरीर को कष्टक्लेश पहुचाना कायाक्लेश तप है। उग्र वीरासन आदि आसनो का सेवन करना, केशलोच करना, शरीर की शोभा सुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश तप के अनेक प्रकार होते हैं।

यो कायाक्लेश तप के तेरह भेद कहे गये हैं–

(1) स्थानस्थितिक (ठाणट्ठिए)–एक स्थान पर ठहर कर कायोत्सर्ग करना ध्यानावस्थित होकर रहना।

(2) स्थानातिग (ठाणाइये)–आसन विशेष से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

(3) उत्कुटुकासनिक (उक्कडुयासणिए)–उक्कुडु आसान से बैठना।

(4) प्रतिमास्थायी (पडिमट्ठाई)–एक मास की या दो मास की पडिमा आदि स्वीकार करके विचरण करना।

(5) वीरासनिक (वीरासणिए)–सिहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो अवस्था रहती है, वह वीरासन कहलाता है। ऐसे आसान से बैठना।

(6) नैषेधिक (नेसज्जिए)–निषेद्या (आसन विशेष) से भूमि पर बैठना।

(7) दडायतिक (दडायए)–लम्बे डडे की तरह भूमि पर लेट कर तप आदि करना।

(8) लुगडशायी–इस आसन मे पैरो की दोनो एडियॉ और सिर पृथ्वी पर लगते हैं तथा बाकी का शरीर पृथ्वी से ऊपर उठा रहता हे अथवा सिर्फ पीठ का भाग पृथ्वी पर रहता है और बाकी सिर–पैर आदि सारा शरीर जमीन से ऊपर रहता है। इस प्रकार के आसन से तप करना।

(9) आतापक (आयावए)–शीतकाल मे शीत मे बैठकर ओर ऊष्ण काल मे सूर्य की प्रचड गर्मी में बैठकर आतापना लेना। इस आतापना के तीन भेद हैं (1) निष्पन्न–लेट कर ली जाने वाली आतापना। तीन प्रकार–(अ) अधोमुखशायिता–नीचे की ओर मुख करके सोना। (ब) पार्श्वशायिता–पार्श्वभाग–पसवाडे से सोना व (स) उत्तानशयिता–सगचित्त ऊपर की तरफ मुख करके सोना। (2) अनिष्पन्न–बैठकर आसन विशेष से आतापना लेना। तीन प्रकार–(अ) गोदोहिका–गाय दुहते हुए पुरुष का जो आसान होता है,

वह गोदोहिका आसान है। इस प्रकार के आसन से बैठकर आतापना लेना। (ब) उत्कुटासनता–उत्कुटासना–उक्कुडु आसन से बैठकर आतापना लेना (स) पर्यंकासनता–पलाथी मार कर बैठना। (3) ऊर्ध्वस्थित–खडे रहकर आतापना लेना। तीन प्रकार–(अ) हस्तिशौंडिका–हाथी की सूड की तरह दोनो हाथो को नीचे की ओर सीधे लटका कर खडे रहना और आतापना लेना। (ब) एकपादिका–एक पैर पर खडे रहकर आतापना लेना। (स) समपादिका–दोनो पैरो को बराबर रख कर आतापना लेना। इन निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित के तीन भेदो के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रत्येक के तीन–तीन भेद और भी हो जाते हैं।

(10) अप्रावृतक (अवाडडए)–खुले मैदान मे आतापना लेना।

(11) अकडूयक–शरीर को न खुजलाते हुए आतापना लेना।

(12) अनिष्ठीवक–निष्ठीवन (थूकना आदि) न करते हुए आतापना लेना।

(13) धुतकेशश्मश्रुलोम (धुयकेसमसुलोम)–दाढी–मूछ आदि के केशो को न सवारते हुए अर्थात् अपने शरीर की विभूषा को छोडकर आतापना लेना।

मैं कायाक्लेश तप का मूल अभिप्राय यह समझता हूँ कि विविध प्रकार से शरीर को विवेकपूर्वक ऐसे कष्ट दिये जाय जिससे एक ओर तो उसकी कष्ट सहिष्णुता बढ जाय और दूसरी ओर देह मोह की वृत्ति दुर्बल होती जाय। ऐसा कठिन तप आत्म बल की अपूर्व निष्ठा के साथ ही सफल बनाया जा सकता है। मैं ऐसे तप की आराधना करूगा और शरीर के प्रति अपने प्रगाढ ममत्त्व को मन्दतर बनाता जाऊगा।

तप जितेन्द्रियता का

मेरा विचार है कि देह मोह की मन्दता के साथ इन्द्रियो की उद्दीपक शक्ति स्वय ही नष्ट होने लगती है। फिर भी जिस प्रकार कछुआ अपने को सुरक्षित करने के लिए अपने ढालनुमा ढाचे मे सकुचित हो जाता है, उसी प्रकार से इन्द्रियों का गोपन करना आवश्यक होता है ताकि काम भोगो की वृत्तियॉ उन्हे किसी प्रकार का आघात न पहुँचा सके। इन्द्रियो का गोपन करना ही छठे प्रकार का प्रतिसलीनता का तप कहलाता है और इसी तप की सम्यक् आराधना से जितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय–जयी बना जा सकता है। वस्तुत इन्द्रिय–जयी ही आत्म–जयी होता है।

प्रतिसलीनता तप के चार भेद बताये गये हें –

(1) इन्द्रिय प्रतिसलीनता–शुभ अथवा अशुभ विषयो अर्थात् भोग वृत्तियो मे रागद्वेष के भावो को छोड कर इन्द्रियो को वश मे करना इन्द्रिय प्रतिसलीनता का तप कहलाता हे। शुभ विषय मे राग न हो तथा अशुभ विषय मे द्वेष नही आवे तो तटस्थ वृत्ति का विकास होगा एव जीवन मे समभाव प्रभावी बनेगा।

(2) कषाय प्रतिसलीनता–क्रोधादि कषायो का अपने भावों मे उदय न होने देना तथा जो कषाय भाव उदय मे आ गये हो उन्हे विफल कर देना कषाय प्रतिसलीनता का तप है। जब इन्द्रियो को जीतने का प्रयत्न सफल बनने लगता है तो कषाय भावो का निरोध भी अधिक श्रमसाध्य नही रहता।

(3) योग प्रतिसलीनता–अकुशल मन, वचन, काया के व्यापारो को रोकना तथा कुशल व्यापारो मे उदीरणा (प्रेरणा) करना योग प्रतिसलीनता का तप होता है। अशुभता अकुशलता होती है तथा शुभता कुशलता, अत अशुभ व्यापार वृत्ति से मन, वचन, काया को शुभ व्यापार वृत्ति मे लाना तथा उन्हे वहीं बनाये रखना इस तप का मुख्य उद्देश्य होता हे।

(4) विविक्त शय्यासनता–स्त्री, पशु ओर नपुसक से रहित एकान्त स्थान मे रहना यह विविक्त शय्यासनता का प्रतिसलीनता तप होता है। इसका अभिप्राय यह है कि काम ससर्गजनितता का कोई दोष तपाराधक को नही लगे।

इस तप के ये मुख्य चार भेद होते हैं जो अवान्तर से तेरह भी बताये गये हैं इद्रिय प्रति सलीनता के पाच–(1) श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसलीनता–श्रोत्रेन्द्रिय को उसके विषयो की ओर जाने से रोकना तथा श्रोत्र द्वारा गृहीत विषयो मे राग द्वेष न करना। (2) चक्षुरिन्द्रिय प्रति सलीनता–आखो को उनके विषयो की ओर प्रवृत्ति करने से रोकना एव आखो द्वारा ग्रहण किये गये विषयो मे राग अथवा द्वेष के भाव नहीं लाना। (3) घ्राणेन्द्रिय प्रतिसलीनता–गध के विषयो का निरोध एव तटस्थता। (4) रसनेन्द्रिय प्रतिसलीनता–रसना के स्वादविषयो पर निग्रह रखना तथा मनोज्ञ एव अमनोज्ञ पर द्वेष नही करना। (5) स्पर्शेन्द्रिय प्रतिसलीनता–स्पर्श विषयो मे प्रवृत्त नहीं होना तथा राग द्वेष नहीं करना। कषाय प्रतिसलीनता के चार (6) क्रोध प्रतिसलीनता–उदय मे आये हुए क्रोध को निष्फल बना देना। (7) मान प्रतिसलीनता–मान कषाय पर नियत्रण रखना अर्थात् अहकार को निष्फल कर देना। (8) माया प्रतिसलीनता–माया के अशुभ भावो को रोकना व विफल करना। (9) लोभ

प्रतिसलीनता–उदयित लोभ को निष्फल कर देना। योग प्रतिसलीनता के तीन (10) मन प्रतिसलीनता–मन की अकुशल प्रवृत्ति को रोकना, कुशल प्रवृत्ति कराना तथा चित्त को एकाग्र–स्थिर बनाना। (11) वचन प्रतिसलीनता–अकुशल वचन को रोकना, कुशल वचन बोलना तथा वचन को स्थिर करना। (12) काय प्रतिसलीनता–अच्छी तरह समाधिपूर्वक शान्त होकर हाथ पैर सकुचित करके कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय होकर आलीन प्रलीन अर्थात स्थिर होना काय प्रतिसलीनता है। (13) विविक्त शय्यासनता–स्त्री, पशु और नपुसक से रहित स्थान मे निर्दोष शयन आदि उपकरणो को स्वीकार करके रहना। आराम, उद्यान आदि मे सथारा अगीकार करना भी विविक्त शय्यासनता है।

मैं चिन्तन करता हूँ कि प्रति सलीनता तप का आचरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। काम भोगों के प्रति आकृष्ट होने वाली इन्द्रियॉ होती हैं और उनकी लिप्तता के साथ ही कषायो की उत्पत्ति होती है। असल मे विषय के साथ कषाय जुडी हुई रहती है और उससे राग द्वेष के घात–प्रतिघात शुरू हो जाते हैं। इनके कुप्रभाव से त्रिविध योग व्यापार की शुभता समाप्त होने लगती है। इस प्रकार जहॉ याने कि जिस आत्मा मे विषय–कषाय का प्राबल्य हो जाता है तथा योग व्यापार निरन्तर अशुभता मे भ्रमित होता रहता है, उस आत्मा का अध पतन होता रहता है। इस दृष्टि से मैं प्रतिसलीनता तप के महत्व को आकता हूँ कि इसकी कठिन आराधना से इन्द्रियों, कषायो तथा योगो पर सफल नियत्रण साधने का यत्न किया जाता है।

मेरी धारणा बनती है प्रतिसलीनता का तप वास्तविक रूप में जितेन्द्रियता का तप होता है जो कामाग रूप इन्द्रियों को वश मे करता है तो उस निग्रह के प्रभाव से कषायो एव योग व्यापारो पर जागृत आत्मा का नियत्रण स्थापित करता है। जब विषय और कषाय मन्दतम हो जाते हैं तथा मन, वचन काया का योग व्यापार अधिकाशत शुभता मे ही रमण करता है, तब आत्म विकास की महायात्रा का एक महत्त्वपूर्ण चरण सम्पन्न हो गया है–ऐसा मानना चाहिये।

ये उपरोक्त छ प्रकार के तप मुक्ति प्राप्ति के बाह्य अग रूप हैं। इन्हे बाह्य द्रव्य आदि की अपेक्षा रहती है तथा ये तप प्राय करके बाह्य शरीर को ही अधिक मात्रा मे तपाते हैं। इन तपो की आराधना का शरीर पर विशेष असर पडता है तथा शरीर मे आत्मिक ओज समा जाता है जो तेज रूप मे बाहर परिलक्षित होता है। इन छ प्रकारो के बाह्य तप इसलिये भी कहा गया है कि इन तपो का सफल आराधक लोक मे तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता

है। वेसे आभ्यन्तर एव बाह्य उभय तप विशेष परस्पर सापेक्ष है। बाह्य तप मे आभ्यन्तर तप गौण भाव मे रहता है और आभ्यतर तप मे बाह्य गौण भाव मे। एक दूसरे का परस्पर घनिष्ठ सबध है उभय प्रकार के तप यथा स्थान आत्म शुद्धि मे सहायक है। शब्द श्रवण मात्र से एक दूसरे को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

प्रायश्चित से पाप शुद्धि

प्रायश्चित–यह तपो के आभ्यन्तर वर्ग को पहला तथा पूरे क्रम मे सातवा तप है। मूलत आभ्यन्तर तपो का सम्बन्ध आत्मा के भावो से जुडा रहता है तथा इनका आचरण अधिकाशत भीतर ही भीतर चलता है। प्रायश्चित दो शब्दो से मिल कर बना है–प्राय अर्थात् पाप ओर चित्त का अर्थ हे शुद्धि अर्थात् पापो से शुद्धि का नाम प्रायश्चित है और इस कारण यह आभ्यन्तर तप है। जिससे मूल गुण एव उत्तर गुण विषयक अतिचारो से मलिन तथा अनादिकालीन पाप स्थानो से मलीन आत्मा अपनी आत्म शुद्धि करले–उसे प्रायश्चित तप कहा है। इस तप के अनुष्ठान से आत्मा के साथ सलग्न पाप रूपी मैल धुल जाता है तथा उसका स्वरूप शुद्ध हो जाता हे।

मैं सोचता हूँ कि यह प्रायश्चित का तप बडा प्रभावकारी होता है क्योंकि मनुष्य अनजाने मे भी भूले करता हैं तो जानकर भी भूले करता हैं और उसका प्रमुख कारण होता है सासारिक काम भोगो का आकर्षण। यह आकर्षण विविध रूप से कषायो को जगाता है और मनुष्य को प्रमादग्रस्त बनाता है। इस रूप मे वह भूले करता है किन्तु भूले करके भी यदि वह बाद मे शुद्ध हृदय से प्रायश्चित कर ले और आगे से वैसी भूले न करने का सकल्प ले ले तो उसकी आत्म शुद्धि हो जाती है। शुद्धिकरण की इस प्रक्रिया मे उसकी करणीयता बनी रहे तो यह पाप मुक्त हो सकता है। प्रमादवश किसी दोष के लग जाने पर उसे दूर करने के लिए जो आत्मालोचना एव तपस्या विधि पूर्वक की जाती है, वही प्रायश्चित का तप है। इसके आठ भेद बताये गये हैं

(1) आलोचना के योग्य अर्थात् जिन पापपूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की शुद्धि अपनी आलोचना के द्वारा हो जाय।

(2) प्रतिक्रमण के योग्य अर्थात् जिनके शुद्धि करण के लिए प्रतिक्रमण करना पडे ओर उन पापपूर्ण वृत्ति प्रवृत्तियो को पुन न दोहराने का सकल्प लिया जाय।

(3) आलोचना ओर प्रतिक्रमण दोनो के योग्य अर्थात् उनके लिये आत्मालोचना एव पुन न दोहराने का सकल्प दोनो करने हो।

(4) विवेक अशुद्ध भक्त पानादि परिठवने योग्य अर्थात् विवेक को अशुद्ध बनाने वाले खाद्य व पेय पदार्थों को परठा दिया जाय।

(5) कायोत्सर्ग के योग्य अर्थात् देह मोह को सर्वथा विसार कर ध्यानावस्था मे ठहरा जाय।

(6) तप के योग्य अर्थात् उनके लिये प्रायश्चित तपश्चरण के साथ किया जाय।

(7) दीक्षा पर्याय का छेद करने योग्य अर्थात् पापपूर्ण वृत्तियों एव प्रवृत्तियो की अशुभता ऐसी गहरी हो कि साधु के दीक्षा काल मे दडस्वरूप कमी की जाय।

(8) मूल के योग्य अर्थात् फिर से महाव्रत लेने के योग्य। वह अशुभता अति प्रगाढ हो कि जिससे साधुत्व ही समाप्त हो जाय। इसके दड स्वरूप जो प्रायश्चित लिया जाता है वह नई दीक्षा के रूप मे लिया जाता है।

अन्य अपेक्षा से प्रायश्चित तप के पचास भेद भी किये गये हैं

(1) मूल प्रायश्चित दस प्रकार का—आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य, विवेक के योग्य, व्युत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, छेद के योग्य, मूल के योग्य, अणवट्ठप्पारिहे (तप के बाद दुबारा दीक्षा देने योग्य) पारचियारिहे (गच्छ से बाहर करने योग्य)।

(2) प्रायश्चित देने वाले के दस गुण—वह आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक (लज्जित शिष्य की मधुरता से लज्जा दूर करके आलोचना कराने वाला), प्रकुर्वक (आलोचित अपराध का प्रायश्चित देकर अतिचारो की शुद्धि कराने मे समर्थ), अपरिस्रावी (आलोचना करने वाले के दोषो को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला) निर्यापक (अशक्त साधु को थोडा थोडा प्रायश्चित देकर निर्वाह करने वाला) अपायदर्शी (आलोचना नही लेने मे परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखाने वाला) प्रियधर्मा (धर्म प्रेमी) तथा दृढधर्मा हो।

(3) प्रायश्चित लेने वाले के दस गुण—वह जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान—सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, क्षमावान, दान्त (इन्द्रियो का दमन करने वाला), अमायी (निष्कपटी) तथा अपश्चातापी हो।

(4) प्रायश्चित के दस दोष– आकपयित्ता (प्रसन्न होने पर गुरु थोडा प्रायश्चित देंगे–यह सोच कर उसे सेवा से प्रसन्न करके फिर आलोचना करना) अट्ठमाणइत्ता (बिल्कुल छोटा अपराध बताने से थोडा दड देगे यह हमें सोचकर अपराध को छोटा करके बताना) दिट्ठ (जिस अपराध को आचार्य ने शुरू किया हो उसी की आलोचना करना) वापक (सिर्फ बडे–बडे अपराधो की आलोचना करना) सुहुम (जो अपने छोटे छोटे अपराधो की भी आलोचना कर देता है, वह बडे अपराधो को केसे छोड सकता है–यह विश्वास पैदा करने के लिए सिर्फ छोटे–छोटे अपराधो की आलोचना करना) छिन्न (अधिक लज्जा के कारण प्रछन्न स्थान मे आलोचना करना) सद्दालु अय (दूसरो को सुनाने के लिए जोर जोर से आलोचना करना) बहुजण (एक ही अतिचार की कई गुरुओ के सामने आलोचना करना) अव्वत्त (साधु को किस अतिचार के लिए कैसा प्रायश्चित दिया जाता है–इसका पूरा ज्ञान नहीं हो उसके सामने आलोचना करना) एव तस्सेवी (जिस दोष की आलोचना करनी हो उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्य के पास आलोचना करना।)

(5) दोष प्रतिसेवना के दस कारण–दर्प–अहकार, प्रमाद, अनाभोग (अज्ञान), आतुर (पीडा की व्याकुलता) आपत्ति (द्रव्य क्षेत्र काल भाव सम्बन्धी) सकीर्ण (सकुचित स्थान अथवा शकित दोष) सहसाकार (अकस्मात्) भय, प्रद्वेष, विमर्श।

प्रायश्चित का पहला उद्देश्य जब पाप शुद्धि होता है तो मैं मानता हूँ कि इस तप की आराधना पूर्ण शुद्ध हृदय से की जानी चाहिये। प्रायश्चित के साथ मायाचार कतई योग्य नहीं होता हे। किन्तु ऐसा भी होता है कि मनुष्य हृदय मे कपट को स्थान देकर बाहर निम्न कारणों से प्रायश्चित करने का ढोंग दिखाता है (1) निन्दा और अपमान से बचने के लिए (2) उपपात की गर्हा बचाने के लिए (3) मनुष्य जन्म की गर्हा बचाने के लिए (4) विराधक न समझे जाने के लिए (5) आराधक होना दिखाने के लिए (6) आलोचना करना दिखाने के लिए (7) अपने को दोषी न दिखाने के लिए तथा (8) मायावी नही समझे–इस भय के लिये। किन्तु ऐसा भी होता है कि मनुष्य मायावी आचरण करते हुए भी उसकी केसी भी आलोचना नहीं करता, दोष के लिये प्रतिक्रमण नहीं करता, आत्मसाक्षी से निन्दा नहीं करता, गुरु के समक्ष आत्मगर्हा नहीं करता, उस दोष से निवृत्त नही होता, शुभ विचार रूपी जल के द्वारा अतिचार रूपी कीचड को नहीं धोता, भूल को दुबारा नहीं करने का निश्चय नही करता तथा दोष के लिये उचित प्रायश्चित नहीं लेता। उसकी

ऐसी प्रायश्चितहीन मनोवृत्ति के ये आठ कारण बताये गये हैं जो त्याज्य हैं–(1) वह यह सोचता हे कि जब मैंने अपराध कर लिया है जो अब उसका प्रायश्चित क्या करना? (2) अब भी मैं उस अपराध को कर रहा हूँ ओर निवृत्ति नही तो आलोचना कैसी? (3) मैं उस अपराध को फिर करूगा तब आलोचना क्यो? (4) आलोचना करने से अपकीर्ति होगी वरना अपराध को कौन जानता है? (5) अवर्णवाद या अपयश (चारो ओर) होगा। (6) पूजा सत्कार मिट जायगा (7) कीर्ति मिट जाएगी तथा (8) यश मिट जायगा।

मैं अपने अपराध को अपराध समझते हुए भी प्रायश्चित न करू अथवा मायाचार के साथ प्रायश्चित करू–यह कतई योग्य नही है क्योकि प्रायश्चित तभी सफल होता है जब शुद्ध हृदय से सचित पाप का छेदन किया जाय। मेरा प्रायश्चित तप का कृत्य अपने अपराध से मलिन चित्त को शुद्ध बनाने वाला होना चाहिये। चित्त की अशुद्धि न मिटे और प्रायश्चित का मात्र ढोग किया जाय–उससे हृदय की अशुद्धि और अधिक बढ जाती है। मैं अपनी चित्त–शुद्धि के लिये निम्न रूप मे चार प्रकार से प्रायश्चित करता हूँ–(1) ज्ञान प्रायश्चित–पाप की छेदने एव चित्त को शुद्ध करने वाला होने से ज्ञान ही प्रायश्चित रूप है–ऐसा चिन्तन करना ज्ञान प्रायश्चित होता है। ज्ञान के अतिचारों की शुद्धि के लिये विधिसम्मत आलोचना करना इस तप की आराधना करना है।

(2) दर्शन प्रायश्चित–इसी प्रकार दर्शन के सम्बन्ध मे आलोचना करना।

(3) चारित्र प्रायश्चित–इसी प्रकार चारित्र के सम्बन्ध में आलोचना करना।

(4) व्यक्तकृत्य प्रायश्चित–गीतार्थ मुनि छोटे बडे का विचार कर जो कुछ करता है, वह सभी पाप–विशोधक हैं। इसलिये व्यक्त अर्थात् गीतार्थ का जो कृत्य है, वह व्यक्तकृत्य प्रायश्चित होता है।

प्रायश्चित के अन्य भेद से भी चार प्रकार कहे गये हैं–

(1) प्रतिसेवना प्रायश्चित–निषिद्ध अथवा अकृत्य का सेवन करना प्रतिसेवना कहलाता है, उसका जो आलोचना रूप प्रायश्चित होता हे, वह प्रतिसेवना प्रायश्चित है।

(2) सयोजना प्रायश्चित–एक जातीय अतिचारो क मिल जाने को सयोजना कहते हैं। जैसे कोई साधु शय्यातर पिड लाया, वह भी गीले हाथो

से ओर उसे भी कोई सामने लेकर आया तथा वह भी आधाकर्मी। अत जुडे हुए इन सभी अतिचारो को प्रायश्चित सयोजना प्रायश्चित हे।

(3) आरोपणा प्रायश्चित–एक अपराध का प्रायश्चित करने पर बार–बार उसी अपराध को सेवन करने से विजातीय प्रायश्चित का आरोप करना आरोपण प्रायश्चित है। जैसे एक अपराध के लिये पाच दिन (उपवास) का प्रायश्चित आया। फिर उसी के सेवन करने का दस दिन का। फिर उसको सेवन करने का पन्द्रह दिन का। इस प्रकार छ मास तक लगातार प्रायश्चित देना। (छ मास से अधिक तप का प्रायश्चित नहीं दिया जाता है।)

(4) परिकुचना प्रायश्चित–द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा अपराध को छिपाना या उसे दूसरा रूप देना परिकुचना है। इसका प्रायश्चित परिकुचना प्रायश्चित कहलाता है।

किसी पर झूठा कलक लगाने को अतीव ही जघन्य माना गया है, बल्कि उसके लिये उतने ही प्रायश्चित का निर्देश दिया गया हे कि जितना स्वय उस कृत्य को करने से लिया जाना चाहिये। निम्न छ बातों मे झूठा कलक लगाने वाले को उतना ही प्रायश्चित आता है, जितना उस दोष के स्वय वास्तविक सेवन करने पर आता है–(1) हिसा न करने पर भी किसी व्यक्ति पर हिसा का दोष लगाना। (2) झूठ न बोलने पर भी झूठ बोलने का दोष लगाना (3) चोरी न करने पर भी चोरी का दोष लगाना (4) ब्रह्मचर्य का भग नहीं करने पर भी दुराचार का दोष लगाना (5) झूठमूठ कह देना कि कोई हिजडा है या (6) झूठमूठ कह देना कि कोई क्रीत दास है।

विनय . धर्म का मूल

मेरी सुदृढ आस्था है कि विनय धर्म का मूल होता है– विनय की जड पर ही आत्म–धर्म फूलता फलता है। मैं विनय का अर्थ लेता हूँ, विशेष रूप से झुकना नम्र बनना। क्यो झुकना? इसलिये कि विनय रूप क्रिया से आठ प्रकार के कर्मो को अलग करने का पुष्ट हेतु उत्पन्न करना। इसमे सम्मानीय, गुरुजनों के आने पर खडा होना, हाथ जोडना, उन्हे आसन देना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना आदि ऐसे सभी शुभ कार्य सम्मिलित है।

मे मानता हू कि विनीत पुरुष ही सयमवन्त होता है ओर जो विनय रहित होता है, वह न तो सयम का सम्यक् रीति से पालन कर सकता है और न ही तप का आराधन। जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इगित तथा आकारो को समझता है, वही शिष्य–विनीत कहलाता है। जैसे ससार मे सुगध के कारण चन्दन, सोम्यता के कारण चद्रमा और मधुरता

ऐसी प्रायश्चितहीन मनोवृत्ति के ये आठ कारण बताये गये हें जो त्याज्य हैं–(1) वह यह सोचता हे कि जब मैंने अपराध कर लिया है जो अब उसका प्रायश्चित क्या करना? (2) अब भी मैं उस अपराध को कर रहा हूँ और निवृत्ति नहीं तो आलोचना कैसी? (3) में उस अपराध को फिर करुगा तब आलोचना क्यो? (4) आलोचना करने से अपकीर्ति होगी वरना अपराध को कोन जानता है? (5) अवर्णवाद या अपयश (चारो ओर) होगा। (6) पूजा सत्कार मिट जायगा (7) कीर्ति मिट जाएगी तथा (8) यश मिट जायगा।

मैं अपने अपराध को अपराध समझते हुए भी प्रायश्चित न करू अथवा मायाचार के साथ प्रायश्चित करू–यह कतई योग्य नही है क्योकि प्रायश्चित तभी सफल होता है जब शुद्ध हृदय से सचित पाप का छेदन किया जाय। मेरा प्रायश्चित तप का कृत्य अपने अपराध से मलिन चित्त को शुद्ध बनाने वाला होना चाहिये। चित्त की अशुद्धि न मिटे और प्रायश्चित का मात्र ढोग किया जाय–उससे हृदय की अशुद्धि और अधिक बढ जाती है। मैं अपनी चित्त–शुद्धि के लिये निम्न रूप मे चार प्रकार से प्रायश्चित करता हूँ–(1) ज्ञान प्रायश्चित–पाप की छेदने एव चित्त को शुद्ध करने वाला होने से ज्ञान ही प्रायश्चित रूप है–ऐसा चिन्तन करना ज्ञान प्रायश्चित होता है। ज्ञान के अतिचारो की शुद्धि के लिये विधिसम्मत आलोचना करना इस तप की आराधना करना है।

(2) दर्शन प्रायश्चित–इसी प्रकार दर्शन के सम्बन्ध में आलोचना करना।

(3) चारित्र प्रायश्चित–इसी प्रकार चारित्र के सम्बन्ध मे आलोचना करना।

(4) व्यक्तकृत्य प्रायश्चित–गीतार्थ मुनि छोटे बडे का विचार कर जो कुछ करता है, वह सभी पाप–विशोधक हैं। इसलिये व्यक्त अर्थात् गीतार्थ का जो कृत्य है, वह व्यक्तकृत्य प्रायश्चित होता है।

प्रायश्चित के अन्य भेद से भी चार प्रकार कहे गये हें–

(1) प्रतिसेवना प्रायश्चित–निषिद्ध अथवा अकृत्य का सेवन करना प्रतिसेवना कहलाता है, उसका जो आलोचना रूप प्रायश्चित होता है, वह प्रतिसेवना प्रायश्चित है।

(2) सयोजना प्रायश्चित–एक जातीय अतिचारा क मिल जाने को सयोजना कहते हैं। जैसे कोई साधु शय्यातर पिड लाया, वह भी गीले हाथों

स ओर उसे भी कोई सामने लेकर आया तथा वह भी आधाकर्मी। अत जुडे हुए इन सभी अतिचारो को प्रायश्चित सयोजना प्रायश्चित है।

(3) आरोपणा प्रायश्चित–एक अपराध का प्रायश्चित करने पर बार–बार उसी अपराध को सेवन करने से विजातीय प्रायश्चित का आरोप करना आरोपण प्रायश्चित है। जैसे एक अपराध के लिये पाच दिन (उपवास) का प्रायश्चित आया। फिर उसी के सेवन करने का दस दिन का। फिर उसको सेवन करने का पन्द्रह दिन का। इस प्रकार छ मास तक लगातार प्रायश्चित देना। (छ मास से अधिक तप का प्रायश्चित नही दिया जाता है।)

(4) परिकुचना प्रायश्चित–द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा अपराध को छिपाना या उसे दूसरा रूप देना परिकुचना हे। इसका प्रायश्चित परिकुचना प्रायश्चित कहलाता है।

किसी पर झूठा कलक लगाने को अतीव ही जघन्य माना गया है, बल्कि उसके लिये उतने ही प्रायश्चित का निर्देश दिया गया है कि जितना स्वय उस कृत्य को करने से लिया जाना चाहिये। निम्न छ बातो मे झूठा कलक लगाने वाले को उतना ही प्रायश्चित आता है, जितना उस दोष के स्वय वास्तविक सेवन करने पर आता है–(1) हिसा न करने पर भी किसी व्यक्ति पर हिसा का दोष लगाना। (2) झूठ न बोलने पर भी झूठ बोलने का दोष लगाना (3) चोरी न करने पर भी चोरी का दोष लगाना (4) ब्रह्मचर्य का भग नहीं करने पर भी दुराचार का दोष लगाना (5) झूठमूठ कह देना कि कोई हिजडा है या (6) झूठमूठ कह देना कि कोई क्रीत दास है।

विनय · धर्म का मूल

मेरी सुदृढ आस्था है कि विनय धर्म का मूल होता है– विनय की जड पर ही आत्म–धर्म फूलता फलता है। मैं विनय का अर्थ लेता हूँ, विशेष रूप से झुकना नम्र बनना। क्यो झुकना? इसलिये कि विनय रूप क्रिया से आठ प्रकार के कर्मो को अलग करने का पुष्ट हेतु उत्पन्न करना। इसमे सम्मानीय, गुरुजनों के आने पर खडा होना, हाथ जोडना, उन्हें आसन देना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना आदि ऐसे सभी शुभ कार्य सम्मिलित हे।

मे मानता हू कि विनीत पुरुष ही सयगवन्त होता है ओर जो विनय रहित होता है, वह न तो सयम का सम्यक् रीति से पालन कर सकता हे ओर न ही तप का आराधन। जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इगित तथा आकारो को समझता है, वही शिष्य–विनीत कहलाता हे। जैसे ससार म सुगध के कारण चन्दन, सोम्यता के कारण चद्रमा ओर मधुरता

के कारण अमृत प्रिय होता है, उसी प्रकार विनय के कारण मनुष्य लोक प्रिय बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष विनय का माहात्म्य समझ कर विनम्र बनता है। इससे लोक मे इसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानो का उसी प्रकार आधार रूप होता है जिस प्रकार यह पृथ्वी प्राणियो के लिये आधार होती है। विनीत शिष्य क्रोधी गुरु को भी अक्रोधी बना देता है।

विनय के मूल सात भेद बताये गये हैं जिसके अवान्तर से 134 भेद होते हैं। वे इस प्रकार है–(1) ज्ञान विनय (2) दर्शन विनय (3) चारित्र विनय (4) मन विनय (5) वचन विनय (6) काया विनय तथा (7) लोकोपचार विनय। 134 अवान्तरभेद (1) ज्ञान विनय के पाच–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान। (2) दर्शन विनय के दो–सुश्रूषा व अनाशतना। सुश्रूषा विनय के दस भेद'अभ्युत्थान, आसनाभिग्रह, आसन प्रदान, सत्कार, सम्मान, कीर्तिकर्म, अजलिप्रग्रह, अनुगमनता, पर्यूपासनता व प्रतिससाधनता। अनाशातना विनय के 45 भेद–अरिहन्त, प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, साभोगिक, क्रियावान, मतिज्ञानवान, श्रुतज्ञानवान्, अवधि ज्ञानवान्, मन पर्ययज्ञानवान् एव केवल ज्ञान्वान्–इन पन्द्रह की आशातना नहीं करने याने इनका विनय करने, भक्ति करने और गुणग्राम करने रूप 45 भेद हो गये। (3) चारित्र विनय के पाच भेद–सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय, यथाख्यात चारित्र–इन पाचो प्रकार के चारित्रधारियो का विनय करना। (4) मन विनय के दो भेद–प्रशस्त मन एव अप्रशस्त मन। अप्रशस्त मन विनय के बारह भेद–सावध, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, कठोर (फरूस) आश्रवकारी, छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी एव भूतोपघातकारी। इनसे विपरीत प्रशस्त मन के भी बारह भेद होते हैं। (5) इसी प्रकार विनय के भी प्रशस्त–अप्रशस्त के दो भेद तथा दोनो के क्रमश बारह–बारह भेद से चौबीस भेद होते हैं। (6) काय विनय के भेद–प्रशस्त एव अप्रशस्त। प्रशस्त काय विनय के सात भेद–सावधानी से मनन करना, ठहरना, बैठना, सोना, लाघना, बारबार लाघना तथा सभी इन्द्रियो व योगो की प्रवृत्ति करना। इसके विपरीत अप्रशस्त काय विनय के भी सात भेद जो सावधानी की जगह आसावधानीपूर्वक होते हैं। (7) लोकोपचार विनय के सात भेद–अभ्यासवृत्तिता (गुरु आदि के पास रहना) परच्छन्दानुवर्तिता (गुरु आदि की इच्छा के अनुकूल कार्य करना) कार्य हेतु (गुरु के कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करना) कृत प्रतिकिया (अपने लिये किये उपकार का बदला चुकाना) आर्त गवैषणा (वीमार साधुओ की सार–समाल करना) देश

कालानुज्ञता (अवसर देखकर कार्य करना) तथा सार्वर्थाप्रतिलोभना (सब कार्यों मे अनुकूल प्रवृत्ति करना)।

इस प्रकार विनय को स्व–पर कल्याण की प्राप्ति का आधार एव श्रेष्ठ तप मानकर जो विनय की प्रधान रूप से आराधना करता है, वह विनयवादी कहलाता है। विनयवादी 32 प्रकार के होते है–देव, राजा, याति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता–इन आठो का मन, वचन, काया एव दान रूप प्रकारो से विनय बत्तीस रूप मे होता है। किन्तु जो एकान्त रूप से विनय को ही आधार मानकर विनयवादी कहलाना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योकि विनय तप की प्रधानता भी एक अपेक्षा से कही जाती है, एकान्त रूप से नही। इसी प्रकार कोरी क्रिया ही सार्थक नही बनती–ज्ञान और क्रिया का सफल सयोग होना चाहिये। अत विनयी साधक को अनेकान्तवादी दृष्टिकोण वाला एव सम्यक् दृष्टि होना चाहिये।

आचार्य भी अपने विनयी शिष्य को चार प्रकार की प्रतिपत्ति सिखा कर उऋण होता है, जो निम्नानुसार विनय प्रतिपत्ति रूप कहलाती है–

(1) आचार विनय–चार प्रकार– (अ) सयम समाचारी सयम के भेदो का ज्ञान करना, सत्रह प्रकार के सयम का स्वय पालन करना तथा सयम मे उत्साह देना व सयम मे शिथिल होने वाले को स्थिर करना। (ब) तप समाचारी–तप के बाह्य और आभ्यन्तर भेदो का ज्ञान करना, स्वय तप करना व तप करने वाले को उत्साह देना, तथा तप मे शिथिल होते हो तो उन्हे स्थिर करना। (स) गण समाचारी–गण के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करते रहना, सारणा वारणा आदि द्वारा भलीभाति रक्षा करना, गण मे स्थित रोगी, बाल, वृद्ध एव दुर्बल साधुओ की यथोचित व्यवस्था करना। (द) एकाकी विहार समाचारी–एकाकी विहार प्रतिमा का भेदोपभेद सहित सागोपाग ज्ञान करना, उसकी विधि को ग्रहण करना, स्वय एकाकी विहार प्रतिमा को अगीकार करना एव दूसरे को ग्रहण करने हेतु उत्साहित करना। यह एकाकी विहार प्रतिमा पूर्व घर मुनि तथा क्षमा आदि यति धर्मो से सम्पन्न हो साथ ही अनुकूल प्रतिकूल परिषह उपसर्गो को सहन करने परिपक्व एव स्थिरचित्त हो वह किसी भी परिस्थिति मे सिद्धात एव सच्चरित्र निष्ठा से किंचित् भी विचलित न होने की सामर्थ्य वाला है, अतिशय ज्ञानी–मुनि की आज्ञा से ही प्रतिमा ग्रहण की जाती हे, इससे विपरीत प्रवर्तन वाले ससारी किया (2) श्रुतविनय–चार प्रकार (अ) मूल सूत्र पढाना (व) अर्थ पढाना (स) हित वाचना देना अर्थात् शिष्य की योग्यता के अनुसार मूल व अर्थ पढाना एव (द) नि शेष वाचना देना

अर्थात् नय, प्रमाण आदि द्वारा व्याख्या करते हुए शास्त्र की समाप्ति पर्यन्त वाचना देना। (3) विक्षेपणा विनय-चार प्रकार (अ) धर्म नही जानने तथा सम्यक् दर्शन का लाभ नही लेने वाले को प्रेमपूर्वक सम्यक् दर्शन रूप धर्म दिखाकर सम्यक्त्वी बनाना। (ब) जो सम्यक्त्वी हे, उसे सर्वविरति रूप चारित्र धर्म की शिक्षा देकर सहधर्मी बनाना। (स) जो धर्म से भ्रष्ट हो, उन्हे धर्म मे स्थिर करना। (द) चारित्र धर्म की जैसे वृद्धि हो वैसी प्रवृत्ति करना।

(4) भेद निर्धातन विनय-चार प्रकार (अ) मीठे वचनों से क्रोधी के क्रोध को शान्त करना। (ब) दोषी पुरुष के दोषो को दूर करना। (स) उचित काक्षा को निवृत्त करना तथा (द) क्रोध, दोष, काक्षा आदि मे प्रवृत्ति न करते हुए आत्मा को सुमार्ग पर लगाना।

इस प्रकार के सुकृत्यों द्वारा आचार्य अपने शिष्य की विनीतता का ऋण चुकाता है।

विनय तप का उपर्युक्त विश्लेषण मुझे प्रेरित करता है कि मैं इस तप की विशुद्ध हृदय से आराधना करू। मैं गुरु सेवा मे रहते हुए अहकार, क्रोध, छल तथा प्रमाद का त्याग करू और अपने गुरु को मन्द बुद्धि, अल्पवयस्क और अल्पज्ञ जानकर भी उनकी निन्दा न करू, क्योकि जो अविनीत शिष्य गुरु की भारी आशातना करता है, वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। ज्ञान मे न्यूनाधिक होने पर भी मैं सदाचारी और सद्गुणी गुरुजनों का अपमान नहीं करू। कारण, आचार्य की आशातना करना जलती हुई आग पर पैर रखकर चलने के सामान होता है। मैं अपने आचार्य को प्रसन्न रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहू जिससे मुझे अनाबाध मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। मैं अपना कर्त्तव्य समझू कि गुरु के पास आत्म विकास करने वाले धर्मशास्त्र की शिक्षा लू, उनकी पूर्ण विनय भक्ति करू, हाथ जोड सिर नवा कर नमस्कार करू तथा मन, वचन, काया से उनका सदा उचित सत्कार करू। मैं आचार्य द्वारा प्रदत्त उपदेशो को सुनकर अप्रशत भाव से उनकी सेवा करू तो अवश्य मुझे सद्गुणो की प्राप्ति होगी तथा एक दिन सिद्धि की भी प्राप्ति हो सकेगी।

में वीतराग देवो की वाणी को आत्मसात् करना हूँ तो विनय तप के आचारण के प्रति अपार आस्था जागती है और जानता हूँ कि धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका उत्कृष्ट फल। विनय से ही कीर्ति श्रुत ओर श्लाघा वगैरा सभी वस्तुओ की प्राप्ति होती है। ससार मे विनीत स्त्री और पुरुष सुख भोगते हुए समृद्धि-सम्पन्न तथा महान् यश कीर्ति वाले देखे जाते हें। मैं भी विनय को अपनी समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे रमा लेना चाहता हूँ। मैं

अपनी शय्या, गति, स्थान ओर आसन आदि सब नीचे ही रखू, आचार्य को नीचे झुककर पैरो मे नमस्कार करू तथा नीचे झुककर विनयपूर्वक हाथ जोडू। मैं गुरु के मनोगत अभिप्रायो तथा उनकी सेवा करने के समुचित उपायो को नाना हेतुओ से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार जानकर समुचित प्रकार से उनकी सेवा करू। मुझे आशा है, कि यदि गुरु की आज्ञानुसार चलूगा तथा धर्म और अर्थ का ज्ञाता बनकर विनय मे चतुर होऊगा तो ससार रूप दुरूतर सागर को पार करके एव कर्मो का क्षय करके उत्तम गति प्राप्त कर सकूगा।

मैं आप्त–पुरुषो द्वारा उपदेशित विनीत के निम्न पन्द्रह लक्षणो का चिन्तन करते हुए अपने गुरुजनो की सेवा सुश्रुषा करने की भावना रखता हू–

(1) विनीत गुरुजनो के सामने नमकर रहता है, नीचे आसन पर बैठता है, हाथ जोडता है और चरणो मे धोक लगाता है।

(2) विनीत प्रारभ किये हुए काम को नही छोडता, चचलता नही लाता, जल्दी–जल्दी नही चलता किन्तु विनयपूर्वक धीरे–धीरे चलता है एक जगह बैठ कर वह हाथ पैर आदि अगो को भी नहीं हिलाता है। यह असत्य, कठोर तथा अविचारित वचन नही बोलता एव एक काम को पूरा किये बिना दूसरा काम शुरू नहीं करता।

(3) विनीत सरल होता हे तथा अपने गुरु जनो के साथ छल नहीं करता।

(4) विनीत कौतूहल–क्रीडा से सदा दूर रहता है और खेल तमाशे देखने की लालसा नही रखता।

(5) विनीत अपनी छोटी–सी भूल को भी दूर करने का यत्न करता है और किसी का अपमान नहीं करता।

(6) विनीत क्रोध नही करता एव क्रोध को पैदा करने वाले कारणो से भी दूर रहता है।

(7) विनीत मित्र का प्रत्युपकार करता है और कभी भी कृतघ्न नही बनता।

(8) विनीत विद्या पढकर अभिमान नही करता किन्तु जेसे फलो से लदने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है, उसी प्रकार विद्या रूपी फल को प्राप्त करके वह विशेष नम्रता धारण कर लेता हे।

(9) विनीत किसी समय आचार्य आदि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना (भूल) हो जाने पर भी उनका तिरस्कार या अपमान नही करता।

(10) विनीत बडे से बडा अपराध मित्रो द्वारा हो जाने पर भी कृतज्ञता दिखाते हुए उन पर क्रोध नही करता।

(11) विनीत अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नही करता, अपितु उनके लिये भी कल्याणकारी वचन ही बोलता है।

(12) विनीत कलह और क्लेश (डमर) से सदा दूर रहता हे।

(13) विनीत कभी भी अपना कुलीनपना नहीं छोडता और अपने को सौंपे हुए काम को पूरा करता है।

(14) विनीत ज्ञानवान् होता है तथा किसी समय बुरे विचारो के आ जाने पर भी वह कुकृत्य मे प्रवृत्ति नही करता। तथा

(15) विनीत बिना कारण गुरुजनो के निकट या दूसरी जगह इधर–उधर नहीं घूमता फिरता।

इस प्रकार के गुणो से युक्त पुरुष विनीत कहलाता है।

सेवा की तन्मयता

मैं जानता हू कि सेवा धर्म को परम गहन तथा योगियो के लिये भी अगम्य कहा गया है। इसी से इसकी महत्ता स्पष्ट है। इसे ही नववे क्रम पर वैयावृत्य तप कहा गया है। धर्म साधन के लिये गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहार आदि लाकर देना तथा उन्हे सयम मे यथाशक्ति सहायता देना वैयावृत्य तप कहलाता है।

वैयावृत्य तप का मूल्याकन करते हुए मुझे समझ मे आता है कि प्रायश्चित, विनय और वैयावृत्य तपों की जैसे एक कडी है तथा यह कडी लोकोपकार की महता को प्रकाशित करती है। किसी को कष्ट दिया हो तो उसका खेद करना व फिर किसी को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा करना प्रायश्चित तप है तो विनय तप मन–मानस को ऐसा शुभ मोड दे देता है कि सबके प्रति सहिष्णु बन जाय तथा सबका समादर करें। उसके बाद क्रम आता है कि अपने विचार और आचार से सभी प्राणियो को सुख पहुचाये। इस उद्देश्य की पूर्ति मे ही व्यक्तिगत सुख पहुचाने की प्रक्रिया वैयावृत्य तप से प्रारभ होती है जो विशाल एव व्यापक रूप लेती हुई समाज, राष्ट्र एव मानवता तथा सम्पूर्ण प्राणी समूह की सेवा के रूप मे परिणत हो जाती है। इस सेवा के कई रूप हो सकते हैं, किन्तु उद्देश्य यही रहता हे कि अपने क्रिया कलापो से अधिक से अधिक लोग या प्राणी सुख का अनुभव करे। इस तप की आराधना मे सेवा की तन्मयता इतनी गहरी हो सकती है कि तपस्वी अपने

स्वार्थों को तो त्यागता ही है, लेकिन अपने हितो तक को भूल जाता हे एव सेवा कार्यों मे सर्वस्व न्यौछावर करके आत्मा विसर्जित बन जाता हे।

मे मानता हू कि वैयावृत्य व्यक्ति की तथा सेवा समाज (अपने वृहत्तत अर्थ मे) की होती है। जैसे एक साधु होता है, वह अपने आचार्य, गुरु आदि की वैयावृत्य करता है, अपनी सेवा से उन्हे सुख शाता उपजाता है तो क्या वह वीतराग वाणी के उपदेशो का प्रसार करके और कल्याण का मार्ग दिखा कर सम्पूर्ण विश्य की सेवा नहीं करता? कोई सेवा किसी रूप मे करता है तो कोई अन्य रूप मे किन्तु सेवा का लक्ष्य एक ही होता है कि अधिक से अधिक प्राणियों को सुख मिले। दया और दान क्या होते हैं? इस सेवा के ही तो प्रकारान्तर हैं। किन्तु सेवा के इतने प्रकार होते हैं कि लोग उन्हे समझ नहीं पाते और उसके परिणामो के प्रति निष्कर्ष नही निकाल पाते हैं–इसी कारण सेवा धर्म को अगम्य माना गया है। वह अगम्य उनके लिये ही नहीं होता जो सेवा पा रहे हैं, बल्कि कई बार उनके लिये भी अगम्य रह जाता है जो स्वय सेवा कर रहे होते हें। सेवा की गूढता खोजना और उसका रसास्वादन करना महान् तपस्या का ही सुफल होता है।

वैयावृत्य या सेवा तप की एक आन्तरिकता और होती है। दूसरो को सुख पहुचावे–यह तो इस तप मे है ही किन्तु जब दूसरो को सुख पहुचाना चाहते हैं तो निश्चय ही अपना सुख गोण हो जाता है लेकिन सेवा के क्षेत्र में एक कदम और आगे बढना होता हे। वह इस रूप मे कि दूसरो (गुरुजनों) की वैयावृत्य करते हुए अथवा व्यापक रूप से सेवा करते हुए स्वय को कष्ट भी उठाने पडते हैं। किन्तु सेवा तप की भावना इतनी उत्कृष्ट होती हे कि तप का आराधक उन कष्टो को कष्ट रूप मानने को ही तैयार नहीं होता, बल्कि उन कष्टो को अपने आत्मिक आनन्द का स्त्रोत मानता है। इस रूप मे सेवा तप की आराधना एक सच्चे आराधक के लिये आत्म–विकास का महान् चरण रूप होती है।

में वीतराग वाणी का ध्यान करता हू, जिस मे कहा गया है कि वैयावृत्य तप की सम्यक् आराधना से कर्मो की महानिर्जरा होती हे तथा पुन कर्मों के उत्पन्न न होने से महापर्यवसान होता हे अर्थात् उप तपस्वी आत्मा का आत्यन्तिक अन्त होता है। इस महानिर्जरा ओर महापर्यवसान के पाच बोल वताये गये हैं–(1) आचार्य (2) उपाध्याय (सूत्र पढाने वाले ज्ञानदाता) (3) स्थविर (4) तपस्वी तथा (5) ग्लान साधु की ग्लानिरहित वहुमानपूर्वक वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रथ महानिरा वाला होता है और पुन उत्पन्न

न होने से महापर्यवसान अर्थात् आत्यन्तिक अन्त वाला होता है। इसी के पाच बोल इस प्रकार भी हैं–(1) नवदीक्षित साधु–थोडे समय की दीक्षा पर्याय वाले (2) कुल–एक आचार्य की शिष्य मडली को कुल कहते हैं। (3) गण–कुल के समुदाय को गण कहते हैं। (4) सघ–गणो के समुदाय को सघ कहते हैं। एव (5) साधर्मिक–लिग और प्रवचन की अपेक्षा से समान धर्म वाला साधु साधर्मिक कहा जाता है, इस प्रकार इन पाचो की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैयावृत्य करने वाला साधु महानिर्जरा ओर महापर्यवसान् वाला होता है।

यो वैयावृत्य के दस भेद बताये गये हैं जिनमे उपरोक्त दस बोलो का समावेश हो जाता है–(1) आचार्य (2) उपाध्याय (3) स्थविर (4) तपस्वी (5) ग्लान (6) शेक्ष (नवदीक्षित) (7) कुल (8) गण (9) सघ तथा (10) साधर्मिक की वैयावृत्य करना। अपने से बडे या असमर्थ की सेवा सुश्रूषा का दूसरा नाम ही वैयावृत्य है। इन दस भेदो मे भी पीछे के चार भेद व्यक्ति वाचक से अधिक समूहवाचक है और इनकी सेवा मे सामूहिक दृष्टिकोण का समावेश करना होता है। कुल, गण या सघ का वैयावृत्य व्यक्ति से अधिक विस्तृत रूप का होता है और यही वैयावृत्य अप्रत्यक्ष रूप से जब सम्पूर्ण विश्व के प्रति होता है तो वह सेवा का विशालतम रूप होता है।

आत्म चिन्तन का अध्याय

मैं स्वाध्याय तप की अचिन्त्य महिमा मानता हू, क्योकि मेरे 'मैं' से इसका गहरा सम्बन्ध होता है तथा उसके रूपान्तरण का भी यह तप सबल माध्यम बनता है। स्वाध्याय शब्द + अधि + अय से मिल कर बना है जिसका अर्थ होता है अपने मे गमन करना अर्थात् आत्मा मे रमण करना आत्म–चिन्तन करना। इसे आत्म चिन्तन का अध्याय कह सकते है और साथ ही यह अध्याय आत्म चिन्तन के लिये भी हो। आत्मा का चिन्तन तथा आत्मा के लिये चिन्तन–इन दोनो का समावेश स्वाध्याय मे हो जाता है।

मैं अपनी आत्मा का चिन्तन करता हू–इसका अभिप्राय यह होगा कि मैं अपनी आत्मा के मूल स्वरूप का चिन्तन करता हू– उस मे निहित अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का चिन्तन करता हू तथा उसके परम प्रताप एव सर्वशक्तिमत्ता का चिन्तन करता हू कि वह जागृत होकर सक्रिय हो ओर सर्वोच्च विकास का पुरुपार्थ करे। मैं अपनी आत्मा के लिये चिन्तन करता हू जिसका अर्थ होगा कि में उन शास्त्रो, सूत्रो अथवा ग्रथो का पठन और मनन करता हू जो आत्म विकास की सही दिशा का ज्ञान देते हैं। इस रूप मे स्वाध्याय तप का सम्बन्ध मूलत आध्यात्मिक याने आत्मा के प्रति होता है।

आन्तरिक चिन्तन ओर बाह्य अध्ययन दोनो का लक्ष्य एक ही है।

इस आध्यात्मिक अध्ययन को स्वाध्याय का बाह्य रूप मानते हुए इसके पाच भेद बताये गये हैं–

(1) वाचना–शिष्य को सूत्र (शास्त्र) एव उनका अर्थ पढाना वाचना कहलाता है। शिष्य का कर्त्तव्य है कि गुरु जिस रूप मे सूत्र की वाचना दे व उच्चारण करे, उसी रूप मे वह वाचना ले तथा उच्चारण करे। वाचना मे सूत्र के शब्दों एव उसके अर्थ–भावार्थ पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये। उसमे हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोषहीन आदि दोषो से बचने का पूरा यत्न होना चाहिये।

(2) पृच्छना–वाचना ग्रहण करने के बाद उस मे किसी प्रकार का सशय होने पर पुन पूछना पृच्छना कहलाता हे। पहले सीखे हुए सूत्र आदि के ज्ञान में भी शका होने पर प्रश्न करना पृच्छना है। इसका अभिप्राय यह है कि शिष्य को वाचना लेने के बाद उस पर पहले ही अपने मन में तर्क–विर्तक और चिन्तन मनन करना चाहिये तभी पढे हुए ज्ञान मे शका की स्थिति पैदा हो सकती हे। ज्यो ही किसी भी प्रकार की शका उत्पन्न हो, उसे गुरु से पूछकर उसका समाधान ले लेना चाहिये।

(3) परिवर्तना–पढा हुआ ज्ञान विस्तृत न हो जाय, इस उद्देश्य से उसे बार बार फेरने को परिवर्तना कहते हैं। एक–एक पढे हुए सूत्र को बार बार फेरने से उसे भुलाया नहीं जा सकेगा, इस कारण शिष्य को परिवर्तना पद्धति की सहायता लेनी चाहिये।

(4) अनुप्रेक्षा–सीखे हुए सूत्र के अर्थ का विस्मरण न हो जाय इस लक्ष्य से उस अर्थ का बारबार चिन्तन–मनन करना अनुप्रेक्षा है। यह शिष्य का दायित्व है कि वह सूत्र वाचना को ग्रहण करने के बाद तात्त्विक दृष्टि से उस पर गभीर चिन्तन–मनन बार बार करता रहे ताकि उसका अर्थ विन्यास उसके मष्तिष्क में जम जाय। यह अनुप्रेक्षा की पद्धति बहुत महत्त्व की है क्योंकि किसी भी विषय पर जब बार–बार चिन्तन–मनन किया जाता है तो उस सूत्र या वाचना के अर्थ की गूढता मे प्रवेश होता जाता है एव नवीन अर्थ की प्राप्ति होती रहती है।

(5) धर्मकथा–उपरोक्त चारो प्रकार से शास्त्र एव अन्य ज्ञान का अभ्यास करने पर श्रोताओ को प्रवचन देना धर्मकथा है। सूत्र–वाचना, पृच्छना, परिवर्तना एव अनुप्रेक्षा के उपायो से सीखे हुए ज्ञान की परिपक्वता पैदा हो जाती है और ऐसा अनुभव होने के बाद ही प्रवचन देना सार्थक हो सकता

है। चिन्तन–मनन एव आत्मनिर्णय के पश्चात् ही किसी तत्त्व का स्वरूप दूसरो को बताने पर श्रोताओ की जिज्ञासा को सम्यक् रीति से शान्त की जा सकती है। अधूरे ज्ञान के साथ व्याख्यान देना समुचित नही कहा गया हे, क्योकि उससे अज्ञान का प्रचार का समव है। धर्मकथा की इस प्रक्रिया की उपमा मधुमक्खियो की प्रक्रिया से दी जाती है। जैसे मधुमक्खी अपने विवेक से योग्य पुष्प देखकर उस पर बैठती है, उसका रस ग्रहण करती है और उस रस को पचा कर फिर अपने छत्ते मे व्यवस्थित रखती है। ऐसा रस जब शहद रूप मे लोगो को मिलता है तब वह आरोग्य प्रदायक होता है। इसी प्रकार एक शिष्य को न केवल सूत्र के शब्दो का सही उच्चारण करना आना चाहिये, बल्कि उन के अर्थ को जान कर अर्थ पर अपना गभीर चिन्तन मनन करना चाहिये। मधुमक्खी द्वारा पुष्प चयन की तरह उसे श्रेष्ठ ग्रथो का चयन करना चाहिये, उनसे ज्ञान का अपने मन मानस मे एक धारा–प्रवाह बनाना चाहिये और भीतर ही भीतर आत्म विश्वास पैदा करना चाहिये कि वह उस विषय पर अधिकारपूर्वक प्रवचन दे सकता है। इस प्रकार की आत्मविश्वस्ति के पश्चात् ही वह व्याख्यान दे ओर श्रोताओ की शका विशकाओ का समुचित समाधन देने का सामर्थ्य पैदा करे।

स्वाध्याय के इन भेदो पर जब मैं गभीर चिन्तन करता हूँ तो मेरा हृदय प्रकाश से भर उठता है। वीतराग देव सर्वज्ञ थे और वे जानते थे यदि ज्ञानार्जन पूर्ण नही होगा ओर उसके पहले ही प्रवचन देना प्रारम कर दिया गया तो उसके दो परिणाम सामने आ सकते हैं। एक तो यह कि स्वय शका–पूर्ण हृदय वाला प्रवचन–दाता जब प्रवचन देगा और श्रोताओ की शकाओ का निराकरण नहीं कर सकेगा तो उससे सद्ज्ञान के प्रसार की अपेक्षा भ्रान्तियो का ही प्रसार अधिक होगा। कई बार तो उसे अधकचरेपन से सम्यक् ज्ञान भी लाछित होगा। दूसरे, यदि श्रोताओ मे अधिक ज्ञानी पुरुष हुए और उन्होने प्रवचन दाता को सही तत्त्व स्वरूप बताना चाहा तो उससे प्रवचन दाता के प्रति सामान्य लोगो की अश्रद्धा भी पेदा हो सकती है। में सोचता हूँ कि यो तो ज्ञान के महासागर को आत्मसात् करना अत्यन्त श्रमसाध्य विषय है, फिर भी यथासाध्य ज्ञान की पूर्णता साधने का शिष्य का यत्न होना चाहिये ओर कम से कम जिन विषयो का वह प्रवचन मे उल्लेख करना चाहता है, उन पर उसका गूढ आत्म विश्वास एव अधिकार होना चाहिये। ऐसा होने पर ही सद्धर्म का प्रभावशाली प्रचार समव होता है।

मैं इस विश्लेषण से अनुभव करता हूँ इस मर्म का कि स्वाध्याय को तप क्यो कहा गया है? वह भी इतना ऊँचा तप जो आभ्यन्तर तप क्रम मे भी बहुत ऊपर रखा गया हे। सवाध्याय के रूप मे आत्म चिन्तन के लिए अध्यायो का अध्ययन हो तथा उससे आत्म चिन्तन विकसित बने, तभी जाकर अपने ज्ञान की धारा बाहर प्रवाहित की जा सकती है क्योकि वैसी अजस्र धारा ही दूसरो को अपने आत्म विकास की बलवती प्रेरणा दे सकती है। वीतराग देवो ने यह भी बताया है कि गुरु शिष्य को वाचना देने एव सूत्र सिखाने के समय निम्न बोलो को ध्यान मे रखे

(1) शिष्य को शास्त्र ज्ञान का ग्रहण हो और उनके श्रुत का सग्रह हो–इस प्रयोजन से शिष्य को वाचना देवे।

(2) उपग्रह के लिए शिष्य को वाचना देवे, जिससे सूत्र सीखा हुआ शिष्य आहार, पानी, वस्त्र आदि की शुद्ध गवैषणा द्वारा प्राप्ति कर सके और जो गवैषणा उसके सयम की सहायक बन सके।

(3) सूत्रो की वाचना देने से मेरे कर्मो की निर्जरा होगी–इस विचार से गुरु वाचना देवे।

(4) गुरु यह सोचकर भी वाचना देवे कि वाचना देने से मेरा सूत्रज्ञान भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

(5) शास्त्र का व्यवच्छेद न हो और शास्त्र की परम्परा चलती रहे–इस प्रयोजन से गुरु शिष्य को वाचना देवे।

शिष्यो के लिए भी निर्देश दिये गये हैं निम्न पाच प्रकारो मे कि वे किस प्रयोजन से ज्ञानार्जन करे

(1) तत्त्वो के ज्ञान के लिए सूत्र सीखे।

(2) तत्त्वो पर श्रद्धा करने के लिए सूत्र सीखे।

(3) चारित्र के लिए सूत्र सीखे।

(4) मिथ्याभिनिवेश छोडने के लिए अथवा दूसरो के छुडवाने के लिए सूत्र सीखे।

(5) सूत्र सीखने से यथावस्थित द्रव्य एव पर्यायो का ज्ञान होगा–इस विचार से सूत्र सीखे।

स्वाध्याय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शोमन रीति से मर्यादापूर्वक अस्वाध्याय काल का परिहार करते हुए शास्त्र का अध्ययन

करना स्वाध्याय हे जिसके अनुसार रीति एव मर्यादा के साथ काल-समय को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। इस रूप मे अस्वाध्याय के प्रकार निम्न बताये गये हैं

(1) दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय जिनमे उल्कापात (तारा टूटने से एक प्रहर तक), दिग्दाह (दिशा विशेष में आग जैसी रौशनी दीखने पर एक प्रहर तक), गर्जित (मेघ गर्जना पर दो प्रहर तक) विद्युत (बिजली चमकने पर एक प्रहर तक वर्षा ऋतु मे नही) निघर्ति (व्यन्तर आदि की प्रचड ध्वनि होने पर एक अहोरात्रि तक) यूपक (शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सध्या के समय प्रभा के मिल जाने से रात्रि के प्रथम प्रहर तक) यक्षादीप्त (व्यन्तर कृत अग्नि दीपन पर) धूमिका (धूवर पडने पर पडने तक) महिका (जल रूप धुधल गिरने पर गिरने तक) तथा राज उद्घात (चारो ओर धूल छा जाने पर) शामिल हैं। ये सब अस्वाध्याय काल मान गये हैं।

(2) दश औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय-अस्थि, मास और रक्त किसी पचेन्द्रिय तिर्यच या मनुष्य का साठ या सौ हाथ के भीतर होने पर, अशुचि (मल मूत्र) निकट होने या उसकी दुर्गंध आने पर, श्मशान के चारो ओर सौ सौ हाथ तक, चन्द्रग्रहण होने पर आठ से बारह प्रहर तक, सूर्यग्रहण होने पर बारह से सोलह प्रहर तक, राजा के निधन पर दूसरे के सिहासनारूढ होने तक, राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर शान्ति होने तक, उपाश्रय मे तिर्यच या मनुष्य का निर्जीव शरीर पडा होने पर सो हाथ तक अस्वाध्याय होता है।

(3) चार महाप्रतिप्रदा (आषाढ, आश्विन, कार्तिक व चैत्र पूर्णिमाओ के बाद की प्रतिपदाएँ) तथा इन चारों महापूर्णिमाओ को स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(4) प्रात काल, मध्यान्ह, सायकाल और अर्धरात्रि-इन चारों सध्या काल मे भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

मैं मानता हूँ कि स्वाध्याय प्रत्येक चिन्तनशील मानव के लिये एक अनिवार्य तप और अनुष्ठान है। उसकी चिन्तनशक्ति को सत्प्रेरणा सूत्र-शास्त्र और सत्साहित्य के अध्ययन से ही मिल सकती हे। उसका अध्ययन जितना गहरा, जितना अध्यवसायपूर्ण और जितना हार्दिकता के साथ होगा उतना ही उसका ज्ञान परिपुष्ट प्रखर एव परिपक्व बनेगा। स्वाध्याय की श्रेष्ठ रीति के लिये इन नियमो का अनुपालन लाभप्रद हो सकता है

(1) स्वाध्याय के समय चित्त की एकाग्रता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव आवश्यक होती है। मन इधर उधर डोलता रहे और पाठो का उच्चारण चलता

रहे तो अर्थ क्या शब्द भी सही तरीके से पल्ले नही पडेगे। चारो ओर से ध्यान हट कर अपनी अध्ययन सामग्री मे ही वह केन्द्रित हो जाना चाहिये। मानसिक चचलता में स्वाध्याय का आनन्द आ ही नहीं सकता है।

(2) स्वाध्याय का स्थान भी इस दृष्टि से स्वच्छ, शान्त और एकान्त होना चाहिये। स्थान की अनुकूलता आवश्यक है क्योकि चहल पहल, कोलाहल या गदगी वाले स्थान पर बैठकर मानसिक एकाग्रता नहीं साधी जा सकती है।

(3) स्वाध्याय प्रतिदिन यथासमय किया जाना चाहिये। उसमे विक्षेप नहीं होना चाहिये तथा नियम का कडाई से पालन किया जाना चाहिये।

(4) स्वाध्याय के ग्रथो का चयन करते समय सदा यह लक्ष्य रहना चाहिये कि उसमें ऐसा कोई भी साहित्य सम्मिलित न हो जो किसी भी प्रकार से विषय–कषाय के दुर्गुणो को किसी भी रूप मे उत्तेजित करे। स्वाध्याय के विषय सयम एव ज्ञानार्जन को परिपुष्ट बनाने वाले हो होने चाहिये।

(5) स्वाध्याय करते समय अध्येता को यह आत्म विश्वास होना चाहिये कि वह विषय की गूढता को समझ रहा है तथा स्वाध्याय से उसके हृदय मे ज्ञान के प्रकाश की किरणे प्रकाशित हो रही हैं। वह अपने सकल्प को दृढीभूत करता रहे।

मैं स्वाध्याय के स्वरूप को समझता हूँ तथा आत्म चिन्तन रूप जागृति को निरन्तर बनाये रखने के लिए प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपनी रूपान्तरण की प्रवृत्ति का प्रति समय निरीक्षण करता रहूँ कि (1) मन किसी अशुभ विचार की ओर तो उन्मुख नहीं हो रहा है, (2) गुणो की ओर मेरा जो आकर्षण बना है, वह अभिवृद्ध हो रहा है या नहीं? (3) दोषों के प्रति मेरी जो गर्हा बनी थी, वह गहरी हो रही है अथवा नहीं (4) गुणो के पोषक स्थान अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि और वैसे निमित्तों का सेवन भी जारी है या नही–और इन्हीं आधारो पर मैं अपने स्वाध्याय–तप का मूल्याकन करूगा तथा आत्म चिन्तन के अध्याय को सम्पन्न और सम्पूर्ण बनाऊगा।

उच्चता ध्यान साधना की

प्रायश्चित से पवित्र बना, विनय से मडित, सेवा में तन्मय और आत्म चिन्तन का अध्येता होकर मेरा मन जब ध्यानावस्थित होगा तो निश्चय ही वह उसकी उच्चता को भी साध सकेगा। ध्यान तप की साधना से मेरी आत्म शक्तिया प्रकाशित भी होगी तथा प्रभावशाली भी। उनके सुप्रकटीकरण से

मेरी आत्मा का परम प्रताप एव सर्वशक्ति वेमव मुझे असीम आनन्द की अनुभूति देगा।

ध्यान तप की महत्ता का आकलन करने के लिये पहले ध्यान के प्रकारो को समझ लेना आवश्यक है। वैसे ध्यान को योग का सातवा अग कहा गया है। बहुत देर तक चित्त को किसी एक ही तत्त्व या बात को सोचने मे लगाये रखना भी एक तरह का ध्यान कहलाता हे। इस प्रकार यदि बारह सेकिंड मात्र तक भी चित्त एक स्थान पर स्थिर रह जाय तो उसे धारणा भी कहते हैं। वस्तुत बारह धारणाओ का एक ध्यान होता है। अशुभ एव ध्यान रूप ध्यान के चार भेद एव 48 उपभेद निम्नानुसार कहे गये हैं

(1) आर्तध्यान–दु ख के निमित्त अथवा दु ख मे होने वाला ध्यान कहलाता है। यह आर्त याने दु खी प्राणी का ध्यान होता है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग एव अमनोज्ञ वस्तु के सयोग आदि के कारणो से जब चित्त मे आकुलता–व्याकुलता फैलती और बढती है और आत्मा जब मोहवश राज्य या सत्ता के उपभोग, धन वैभव, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गध, माला, मणि, रत्न, आभूषण आदि पदार्थों की जो अतिशय कामना करती है तब वह आर्तध्यान रूप अशुभ ध्यान मे रत बनती है। इस ध्यान के चार प्रकार हैं–(अ) अमनोज्ञ वियोग चिन्ता–अमनोज्ञ, अप्रिय या अनिच्छित शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श, विषय एव उनके साधन भूत पदार्थो का सयोग होने पर उनकी वियोग स्थिति की चिन्ता करना वियोग हो जाने पर सुख का अनुभव करना तथा भविष्य मे भी उनका सयोग न हो सके ऐसे प्रयत्नो मे व्याकुल बने रहना–यह आर्त्तध्यान का पहला प्रकार है। इस प्रकार का मूल कारण अमनोज्ञ के प्रति द्वेष होता है। (ब) रोग चिन्ता–शूल, सिर दर्द आदि रोगो का आक्रमण होने पर उनकी चिकित्सा मे व्याकुल होकर रोगो के मिट जाने की चिन्ता करना और भविष्य मे रोग सयोग न हो इस के लिए आतकित रहना रोग चिन्ता आर्तध्यान है। (स) मनोज्ञ सयोग चिन्ता–पाचो इन्द्रियो के विषय एव उनके साधन रूप स्वय, माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र, धन तथा साता वेदना के सयोग मे, उनका वियोग न हो ऐसी चिन्ता करना तथा भविष्य मे भी उनके सयोग की इच्छा रखना–यह आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है। इस प्रकार का मुख्य कारण राग माना गया है। (द) निदान (नियाणा)–सम्राट, इन्द्र, चक्रवती वासुदेव आदि की ऋद्धि या रूप राशि देखकर अथवा सुनकर उनमे आसक्ति लाना तथा यह सोचना कि मैंने जो तप–सयम आदि के धर्मकृत्य किये हैं, उनके फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि और रूपराशि प्राप्ति हो–यह निदान

आर्त्तध्यान है। इसे अधम चिन्ता कही गई है। इसका मूल कारण अज्ञान होता है क्योकि अज्ञानी ही दूसरो के प्राप्त सुखो मे आसक्ति भाव लाते हैं। ज्ञानी पुरुषो के चित्त मे तो सदा ही मोक्ष की लगन लगी रहती हे।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान राग, द्वेष से युक्त होने के कारण ससार मे अधिक भव भ्रमण कराने वाला है। आर्तध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं–(अ) आक्रन्दन–ऊँचे स्वर से रोना ओर चिल्लाना, (ब) शोचन–आखो मे आसू लाकर दीन–भाव धारण करना, (स) परिवेदना–बार–बार आर्त भाषण करना तथा विलाप करना एव (द) तेपनता–झार झार आसू गिराना। इष्ट–वियोग, अनिष्ट सयोग और वेदना के निमित्त से ये चारो चिह्न एक आर्तध्यानी मे दिखाई देते हैं।

(2) रौद्र ध्यान–हिसा की ओर उन्मुख बनी आत्मा द्वारा प्राणियो को कष्टित कर रूलाने और सत्रस्त बनाने वाले व्यापार का चिन्तन करना रौद्र ध्यान होता है। हिसा की ओर उन्मुख होने वाली आत्मा हिसा के साथ झूठ, चोरी, धन रक्षा आदि से भी अपने मन को जोडती है और वैसी दशा मे अतिक्रूर परिणामो से ग्रस्त बनकर वह रौद्र ध्यानी होती है। उस प्रकार के ध्यान मे छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना, शोषण करना, अधीन बनाना आदि के सकल्प–विकल्प ही चलते रहते हैं और ऐसा रौद्र ध्यानी इन सब कुकृत्यो के प्रति राग भाव रखता है और उसके हृदय मे अनुकम्पा–दया का भाव नहीं रहता है। रौद्रध्यान के चार प्रकार कहे गये हैं (अ) हिसानुबन्धी–प्राणियों को चाबुक, बेत आदि से मारना, कील आदि से नाक वगैरा बींधना, किसी को रस्सी, जजीर आदि से बाधना, अग्नि मे जलाना, अग्नि–दाग (डाम) लगाना, तलवार आदि धारदार शस्त्र से प्राण–वध करना अथवा इस प्रकार के व्यवहार न करते हुए भी क्रोध के वश हो कर निर्दयतापूर्वक निरन्तर इन हिसाकारी व्यापारो को करने का चिन्तन करना हिसानुबधी रौद्र ध्यान है। (ब) मृषानुबन्धी–रौद्रध्यान के इस प्रकार मे दूसरो को ठगने की मायावी प्रवृत्तियॉ चलाई जाती हैं तथा छिप कर पापाचरण करते हुए अनिष्ट सूचक शब्द, असभ्य वचन, असत् अर्थ का प्रकाशन, सत् अर्थ का अपलाप एव एक के स्थान पर दूसरे पदार्थ आदि का कथन रूप असत्य वचन तथा प्राणियो के उपघात करने वाले कहे जाते हैं अथवा कहने की निरन्तर चिन्ता की जाती है। (स) चौर्यानुबन्धी–तीव्र क्रोध एव लोभ से व्यग्रचित्त वाले पुरुष की प्राणियो के उपघातक अनार्य काम जैसे, पर द्रव्य हरण आदि मे निरन्तर चित्तवृत्ति का उलझी हुई रहना चौर्यानुबन्धी रौद्र ध्यान है। (द)

सरक्षणानुबन्धी–पाचो इन्द्रियो के शब्द, रूप आदि पाच विषयो के साधन रूप धन की रक्षा करने की फिक्र मे लगे रहना एव न मालूम दूसरा क्या करेगा–इस आशका से रात–दिन ग्रस्त रहना ओर दूसरो का उपघात करने की कषायमयी चिन्तना करना रौद्र ध्यान के इस प्रकार मे होता है।

रौद्र ध्यान उन लोगों के साथ लगा रहता है जो राग, द्वेष एव मोह से सदा आकुल व्याकुल रहता है। हिसा, मृषा, चौर्य एव सरक्षण स्वय करना, दूसरो से कराना एव करते हुए की प्रशसा (अनुमोदना) करना–इन तीनो कारण विषयक चिन्ता करना रौद्रध्यान का रूप होता है। रौद्रध्यान के भी चार लक्षण बताये गये हैं (अ) आसन्न दोष–रोद्र ध्यानी हिसा आदि से निवृत्त न होने के कारण बहुलता पूर्वक हिसा आदि मे से किसी एक पाप मे प्रवृत्ति करता है–यह आसन्न दोष है। (ब) बहुलदोष–रौद्रध्यानी हिसा आदि सभी पापो व दोषो मे प्रवृत्ति करता है–यह बहुलदोष है। (स) अज्ञान दोष–अज्ञान के कारण कुशास्त्र के कुसस्कार से नरक आदि गति दिलाने वाले अधर्म–स्वरूप हिसा आदि कार्यो को धर्म कार्य मान कर उस बुद्धि से उन्नति के लिये प्रवृत्ति करना अज्ञान दोष है। इसे नानादोष भी कहते हैं, क्योकि रौद्र ध्यानी विविध हिसा आदि के उपायो मे अनेक बार प्रवृत्ति करता है। (द) आमरणान्त दोष–मरण पर्यन्त क्रूर हिसा आदि के कार्यो मे अनुताप या पछतावा नहीं होना और हिसा आदि के कार्यो मे प्रवृत्ति करते रहना यह दोष है।

(3) धर्म ध्यान–वीतराग प्रणीत धर्म और उनकी आज्ञा के अनुरूप वस्तु–स्वरूप के चिन्तन मनन मे मन को एकाग्र बनाना धर्म ध्यान है। यह ध्यान श्रुत एव चारित्र धर्म से युक्त होता है। धर्मध्यानी सूत्र एव अर्थ की ज्ञान–साधना करता है, महाव्रतो को धारण करता है, बध और मोक्ष तथा गति और आगति के हेतुओ का विचार रखता है, पाचो इन्द्रियों के विषयो से निवृत्ति लेता है तथा प्राणियो के प्रति दया भाव से द्रवित होता है और इन सभी प्रवृत्तियो मे स्थिरचित्ती बनता है। धर्म ध्यान मे रत रहने वाली आत्मा वीतराग एव सुगुरु के गुणो का कथन करने वाली, उनकी प्रशसा करने वाली, श्रुतिशील एव सयम मे अनुरक्त होती है।

धर्मध्यान के चार प्रकार होते हैं–(अ) आज्ञा विचय–वीतराग देव की आज्ञा (उपदेश वाणी) को सत्य मानना, उस पर श्रद्धा करना तथा उसमें प्रतिपादित तत्त्वो पर चिन्तन और मनन करना। वीतराग देवो की वाणी कैसी होती हे? सूक्ष्म तत्त्वो की विवेचना करने से यह अति निपुण, अनादि–अनन्त,

सभी प्राणियो के लिए हितकारी, अनेकान्त का ज्ञान कराने वाली, अमूल्य, अपरिमित, अन्य प्रवचनो से अपराभूत, महान्, अर्थवाली, महाप्रभावशाली, नयभग एव प्रमाण से गहन अतएव अकुशलन जनो के लिये दुरज्ञेय होती है। वीतराग आज्ञा की पूर्ण सत्यता मे ऐसा नि शक विश्वास होना चाहिये कि यदि वीतराग देवो के प्रतिपादित तत्त्व के रहस्य को समझाने वाले आचार्य महाराज समक्ष न हो, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से या दुर्बल बुद्धि बुद्धि के कारण कोई स्वरूप, हेतु या उदाहरण समझ मे नही आवे, तब भी विचारो मे किसी प्रकार का सन्देह प्रविष्ठ नहीं होना चाहिये। यही विचारधारा रहनी चाहिये कि वीतराग देवो द्वारा असत्य कथन का कोई कारण नहीं है क्योकि वे अनुपकारी जन के प्रति भी उपकार मे तत्पर रहने वाले जगत् मे प्रधान, त्रिलोक के ज्ञाता, एव राग, द्वेष व मोह के विजेता होते हैं। इस निष्ठा के साथ वीतराग वाणी का चिन्तन–मनन करना और गूढ तत्त्वो के विषय मे कोई शका न रखते हुए उन्हें दृढतापूर्वक सत्य समझना तथा वीतराग की आज्ञा मे मन को एकाग्र करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है। (ब) अपाय विचय–इस प्रकार के अनुसार राग, द्वेष, कषाय आदि के उपायो के चिन्तन करने मे मन को एकाग्र करना है। राग–द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव एव क्रियाओ से होने वाले ऐहिक व पारलौकिक कुफल और हानियो पर विचार करना। जैसे कि रोग ग्रस्त व्यक्ति को अपथ्य अन्न की लालसा होती है, वैसे ही कर्मग्रस्त आत्मा प्राप्त हुए राग को अपने से चिपकाये रखना चाहती है किन्तु अपथ्य अन्न की तरह प्राप्त राग भी अतीव हानि प्रद होता है। इसी प्रकार प्राप्त हुआ द्वेष भी आत्मा को उसी प्रकार तपा देता है जैसे कोटर मे रही हुई आग वृक्ष को जल्दी ही जला डालती है। राग और द्वेष इहलोक और परलोक दोनो को बिगाडते हैं। यही अवस्था अनियन्त्रित क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषायो की होती है जो बढते हुए ससार रूपी वृक्ष को सींचते रहते हैं। कषायी आत्मा प्रशय आदि गुणो से शून्य तथा मिथ्यात्व से मूढ होती है। कषायो से भी अज्ञान अधिक दु खदायी होता है क्योकि अज्ञानी आत्मा अपना हिताहित भी नहीं पहिचानती है। हिसा आदि आश्रव से अर्जित पापकर्मो के कारण आत्मा दीर्घकाल तक नीच गतियो मे भटकती हुई अनेक उपायो (दु खो) की भाजन होती है। इन दोषो से होने वाले, कुफल का चिन्तन करने वाली आत्मा इन दोषो से अपनी रक्षा करने में सावधान हो जाती है, जिससे वह सफलतापूर्वक आत्म–कल्याण की साधना कर सकती है। (3) विपाक विचय–आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना कि वह अनन्त ज्ञान, दर्शन एव सुख रूप है किन्तु कर्मावृत्त होने के कारण उसके मूल गुण दबे हुए हैं और उसी से उसका

ससार परिभ्रमण चल रहा हे। सम्पत्ति–विपत्ति या सयोग–वियोग आदि से होने वाले सुख–दु ख आत्मा के ही पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल होते हे क्योकि आत्मा ही अपने सुख–दु ख का भोक्ता और कर्ता होती है। आत्मा की भिन्न–भिन्न अवस्थाओ मे कर्मों के ही भिन्न–भिन्न फल होते हैं। इस प्रकार कषाय एव योग जनित शुभाशुभ कर्म प्रकृति बध, स्थिति बध, अनुभाग बध, प्रदेश बध, उदय, उदीरणा, सत्ता इत्यादि कर्म विषयक चिन्तन मे मन को एकाग्र करना विपाक विचय धर्मध्यान है। (द) सस्थान–विचय–इस अनादि अनन्त ससार सागर का चिन्तन करना कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य एव उनकी पर्याय, जीव–अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोक का स्वरूप, जीव की गति आगति एव जीवन मरण आदि ससार ससरण के रूपक हैं तथा इस ससार सागर मे आत्मा और उसके कर्म से उत्पन्न जन्म जरा रूप जीवन मरण अथाह जल रूप है, क्रोध आदि कषाय जल–तल (पाताल) है, विविध दु ख मगरमच्दछ आदि हैं, अज्ञान रूपी वायु उठती रहती है तथा सयोग–वियोग रूपी लहरे रात दिन चलती रहती हैं। इसके साथ ही यह भी चिन्तन करना कि इस ससार सागर को पार कराने मे समर्थ चारित्र रूपी नौका होती है, जिसको सम्यक् ज्ञान रूपी नाविक चलाता है और जो सम्यक् दर्शन रूपी बधनो से सुदृढ होती है। यह नौका सवर से छेदरहित, तप रूपी पवन से वेगवती, वैराग्य मार्ग पर चलने वाली किन्तु अपध्यान से न डगमगाने वाली बहुमूल्य शील रत्न से परिपूर्ण होती है। जिसे मुनि रूपी व्यापारी निर्बाध रूप से खेकर निर्वाण रूपी नगर को पहुँच जाते हैं। मोक्ष के अक्षय, अव्याबाध, स्वाभाविक व निरूपम सुखो की अभिलाषा रखते हुए वीतराग देवों द्वारा उपदेशित सिद्धान्तो के गहन अर्थ चिन्तन मे मन को एकाग्र करना सस्थान विचय धर्म ध्यान है।

धर्म ध्यान के भी चार लक्षण बताये गये हैं (1) आज्ञा रुचि–सूत्र मे प्रतिपादित अर्थो पर रुचि धारण करना (2) निसर्ग रुचि–स्वभाव से ही बिना किसी उपदेश के वीतराग भाषित तत्त्वो पर श्रद्धा करना, (3) सूत्र रुचि–सूत्र द्वारा वीतराग प्ररूपित द्रव्यादि पदार्थों पर श्रद्धा करना तथा (4) अवगाढ (उपदेश) रुचि–वीतराग देवो की उपदेशों जो सुगुरु द्वारा कहे जावे के भावो पर श्रद्धा करना। समुच्चय मे तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व ही धर्म ध्यान का प्रमुख लक्षण होता है। धर्मध्यानी वीतराग देव एव सुगुरु के गुणो का कथन करता हे, उनकी प्रशसा और स्तुति करता हे, गुरु आदि का विनय करता है, दान देता है, तथा श्रुत, शील एव सयम मे अनुराग रखता है। धर्म ध्यान रूपी महल

पर चढने के लिये स्वाध्याय के चार प्रकार वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा प्रधान अवलम्बन होते हैं। धर्म ध्यानी की चार भावनाएँ मुख्य होती हैं-(1) एकत्त्व भावना-इस ससार मे मैं अकेला आया हूँ, मेरा कोई नही और मैं किसी का नही हूँ। (2) अनित्य भावना-शरीर अनेक विघ्न बाधाओ एव रोगो का स्थान है और प्रत्येक पदार्थ नश्वर हैं। (3) अशरण भावना--जन्म, जरा, मृत्यु भय से पीडित एव वेदना से व्यथित इस ससार मे आत्मा का त्राण रूप कोई नही है सिवाय सद्धर्म के। (4) ससार भावना-ससार की अवस्थाएँ अति विचित्र होती है।

एक अन्य अपेक्षा से भी धर्म ध्यान के चार भेद किये गये हैं (1) पिडस्थ (पृथ्वी अग्नि आदि पाच धारणाओ का एकाग्रता से चिन्तन करना) (2) पदस्थ (पच परमेष्ठि में किसी पद पर आश्रित होकर मन को एकाग्र करना) (3) रूपस्थ (अरिहत भगवान के शान्त रूप को हृदय मे स्थापित करके मन को एकाग्र करना। एव (4) रूपातीत (निरजन निर्मल सिद्ध भगवान् का आलबन लेकर उनके साथ अपनी आत्मा की एकरूपता का चिन्तन करना)।

(4) शुक्ल ध्यान--जो ध्यान आठ प्रकार के कर्मो का मैल दूर करता है तथा जो सम्पूर्ण शोक को नष्ट करता है, वह शुक्ल ध्यान है। इस ध्यान के माध्यम से पूर्व विषयक श्रुत के आधार पर मन की अत्यन्त स्थिरता एव योग का निरोध साधा जाता है तथा बिना किसी दूसरे के अवलम्बन के निर्मल आत्म स्वरूप पर तन्मयता पूर्वक चिन्तन किया जाता है। शुक्लध्यानी इन्द्रिय-सम्बन्धित विषयो का सम्बन्ध होने पर भी अपने वैराग्य के बल से अपने चित्त को बाहरी विषयो की ओर नहीं ले जाता एव अपने शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर रहकर चित्त को अपने शुक्ल ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगमिगाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद बताये गये हैं-(अ) पृथकत्त्व वितर्क सविचारी-शुक्ल ध्यान के इस प्रकार मे ध्यानी साधक एव द्रव्य से सम्बन्धित अनेक पर्यायो का पृथक पृथक् रूप से पहले जाने गये श्रुत के अनुसार विस्तारपूर्वक द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयो से गभीर चिन्तन करता है। यह ध्यान विचार सहित होता है तथा विचार का स्वरूप होता है अर्थ, व्यजन (शब्द) और योगो मे सक्रमण। इस ध्यान मे अर्थ से शब्द में, शब्द से अर्थ मे और शब्द से शब्द मे तथा अर्थ से अर्थ मे एव एक योग से दूसरे योग मे सक्रमण होता है। यह शुक्ल ध्यान पूर्वधारी को होता है जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयो से पदार्थो की पर्यायो का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन

करता है। कभी यह ध्यान उनको भी प्राप्त हो सकता हे जो पूर्वधारी नही हें। उन्हे यह ध्यान अर्थ, व्यजन एव योगो मे परस्पर सक्रमण रूप होता हे। (ब) एकत्व वितर्क अविचारी–शुक्ल ध्यान के इस प्रकार मे ध्यानी साधक पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायो के एकत्त्व अर्थात् अभेद से किसी एक पदार्थ अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करता है। इस ध्यान मे अर्थ, व्यजन एव योगो का सक्रमण नहीं होता। बिना हवा वाले घर मे रखे हुए दीपक के समान इस ध्यान मे चित विक्षेप रहित होकर स्थिर रहता है। (स) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती–मोक्ष गमन के पहले केवल भगवान् मन, वचन के योगो का भी निरोध कर लेते हैं और अर्ध काय–योग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामो की विशेष उच्चता के कारण इस स्तर से केवली पुन पीछे नही हटते हैं। इस रूप का होता है शुक्ल ध्यान का तीसरा प्रकार। (द) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती–शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर केवली सभी योगो का निरोध कर लेते हैं। योगो के निरोध से सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती है। यह ध्यान सदा बना रहता है, इसी कारण इसे समुछिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहते हें। शुक्ल ध्यान का पहला प्रकार सभी योगो मे होता है, दूसरा किसी एक योग मे होता है, तीसरा केवल काय योग मे होता है तो चौथा प्रकार अयोगी को ही होता है। छद्मस्थ अवस्था मे मन को निश्चल बनाना तो केवल ज्ञान की अवस्था मे काया को निश्चल करना ध्यान कहलाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार लक्षण कहे गये हैं–(1) अव्यथ–शुक्लध्यानी परिषहो व उपसर्गों से डर कर ध्यान से चलित नहीं होता है अत वह लिगवाला होता है। (2) असम्मोह–शुक्ल ध्यानी को अत्यन्त सूक्ष्म व गहन विषयों मे अथवा देवादि रचित माया मे सम्मोह नहीं होता, अत वह असम्मोह लिग वाला होता है। (3) विवेक–शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न तथा सर्व सयोगो को आत्मा से भिन्न समझता है अत वह विवेक लिग वाला होता है। (4) व्युत्सर्ग–शुक्लध्यानी नि सग रूप से देह एव उपधि का त्याग करता है अत वह व्युत्सर्ग लिग (लक्षण) वाला होता हे। शुक्ल ध्यान के भी चार अवलम्बन बताये गये हैं–(1) क्षमा–क्रोध न करना, उदय मे आये क्रोध को दबाना व क्रोध का त्याग करना (2) मार्दव–इसी प्रकार मान का त्याग करना (3) आर्जव–इसी प्रकार माया का त्याग करके सरलता लाना एव (4) मुक्ति–लोम का त्याग करके शोच निर्लोभता प्रकट करना। शुक्लध्यानी की चार भावनाए होती हें–(1) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा–भव परम्परा की अनन्तता की भावना करना (2) विपरिणामानुप्रेक्षा–वस्तुओ के विपरिणमन पर विचार करना

(3) अशुभानुप्रेक्षा–ससार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना एव (4) अपायानुप्रेक्षा–आश्रवो से होने वाले, जीवो को दु ख देने वाले विविध अपायो से चिन्तन करना।

मैं सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान के परमोच्च स्वरूप पर चिन्तन करता हू तो मेरा हृदय आत्मोत्साह से आल्हादित हो उठता है। पापपक से कलकित बनी यह आत्मा अपने परमपुरुषार्थ से इस रूप मे परम प्रतापी बन सकती है–तब अनुत्साह का क्या कारण है? मात्र दिशा परिवर्तन की आवश्यकता है कि मोहग्रस्त यह आत्मा अपने मोहावरण को सर्वथा समाप्त कर देने का कठिन सकल्प ग्रहण करले ओर शुकल ध्यान की श्रेणी तक पहुचने का अध्यवसाय बनावे।

समत्त्व के शिखर पर

मैं भावना भाता हू कि तपाराधन के क्रम मे आठ कर्मों के बधनो को तोडता हुआ मैं भी एक दिन व्युत्सर्ग तप का आचरण करते हुए समत्त्व के शिखर पर आरूढ होऊ। प्रायश्चित से लेकर व्युत्सर्ग तक के छ आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति के अन्तरग कारण माने गये हैं।

अन्तर्दृष्टि आत्मा ही इनका सेवन करती है तथा वही इन्हे तप रूप मे जानती ओर देखती है। इन तपो की आराधना का असर आन्तरिक राग, द्वेष, कषाय आदि पर पडता है, जिसे बाह्य दृष्टि से लोग देख नहीं पाते हैं। आभ्यन्तर तपो की शृखला मे व्युत्सर्ग अन्तिम एव सर्व श्रेष्ठ तप है जिसका अर्थ है ममत्व का सर्वथा त्याग कर देना और ममत्व के सर्वथा त्याग का ही प्रतिफल होता है समत्व के शिखर पर आरूढ हो जाना।

सामान्य रूप से व्युत्सर्ग तप के दो भेद कहे गये हैं– (1) द्रव्य–गण, शरीर, उपधि और आहार का त्याग करना एव (2) भाव–कषाय, ससार और कर्म का त्याग करना। यो नि सग अर्थात् ममत्वरहित होकर शरीर और उपधि के त्याग रूप इस व्युत्सर्ग तप के सात भेद भी किये गये हैं–(1) शरीर व्युत्सर्ग–ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना, (2) गण व्युत्सर्ग–अपने सगे सम्बन्धी या शिष्य वगैरा का त्याग करना, (3) उपधि व्युत्सर्ग–भड, पात्र उपकरण आदि का त्याग करना, (4) भक्तपान व्युत्सर्ग–आहार पानी का त्याग करना, (5) कषाय व्युत्सर्ग–क्रोध, मान माया तथा लोभ कषायो का त्याग करना, (6) ससार व्युत्सर्ग–नरक आदि के आयुष्य–बध के कारण ससार के कारणभूत मिथ्यात्व आदि का त्याग करना एव (7) कर्म व्युत्सर्ग–कर्म बधन के कारणों का त्याग करना। इन सात व्युत्सर्गो मे से प्रथम चार द्रव्य तथा

अन्तिम तीन भाव व्युत्सर्ग कहलाते हैं। जैसे कषाय व्युत्सर्ग के क्रोध मान, माया, लोभ रूप चार भेद होते हैं, वैसे ही ससार व्युत्सर्ग के भी चार भेद हैं–नैरयिक, तिर्यच, मनुष्य व देव एव कर्म व्युत्सर्ग के आठ भेद हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गौत्र तथा अन्तराय।

मैं अपने अनुभव के आधार पर चिन्तन करता हू कि यह ममत्व ही ससार परिभ्रमण का मूल है और इसी कारण आठ कर्मो मे मोहनीय कर्म सर्वाधिक शक्तिशाली माना गया है–कर्म दल का सेनापति। अत कर्मा के सारे बधन को तोडकर मुक्ति मार्ग की ओर गति करनी हे तो मुझे अपनी अपूर्व आत्मशक्ति का स्वरूप दर्शन करना होगा जो समीक्षण वृत्ति की सहायता से ही मैं कर पाऊगा। अपनी आत्म–साक्षात्कार की अवस्था मे मैं स्पष्ट जान लूगा कि मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है? ओर वह मार्ग है तपाराधन का, जिसकी पूर्णाहूति होती है व्युत्सर्ग तप से। मानव का सर्वथा त्याग की आध्यात्मिक जीवन का परम साध्य है क्योंकि इस त्याग के पश्चात् ससार के सभी हेतु विनष्ट हो जाते हैं तथा समत्व योग की प्राप्ति हो जाती है। समभाव, समदृष्टि एव समता के सर्वोच्य आनन्द मे आत्मा का रमण अव्याबाध और शाश्वत बन जाता हे। आत्मा की अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त सुख की यह अवस्था ही उसे अनन्त शक्ति की अनुभूति देती है तथा सर्वशक्तिमान् के पद से विभूषित बनाती है।

तपस्या का अ आ इ ई

मैं बारह प्रकार के तपाराधन का यह विवेचन समझता हू तो एक बात मन में उठती है कि प्रबुद्ध, भव्य और सशक्त आत्माओ के लिये तो साधना का विशाल क्षेत्र है, किन्तु अपने आपको अशक्त मानने वाली आत्मा यदि किंचित् जागरण के प्रभाव से तपाराधन प्रारभ करना चाहे तो वह क्या करे? उसके लिये तपस्या का अ आ इ ई याने आरभ क्या हो सकता हे? उसके लिये ऐसे तप होने चाहिये जिनकी साधना सरल हो किन्तु फल की दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नहीं हो। ऐसे तपाराधन के प्रति सामान्य जन भी सहज रूप से प्रभावित हो सकते हें।

मे समझता हूं कि अति सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को भी आत्मा और शरीर के अलगाव का ज्ञान करा दिया जाये, कर्मो के मैल से आत्मा की स्वरूप विकृति का भान दिला दिया जाय ओर यह बता दिया जाय कि विषय कषाय के घात–प्रतिघातो से इस सासारिक जीवन मे कितने घोर कष्ट भोगने पडते हे तो उसकी चेतना को तपाराधन की दिशा मे प्रभावकारी मोड दिया

जा सकता है। उसे तपाराधन के निम्न सामान्य प्रयोग बताये जा सकते हें तथा उसे प्रेरित किया जा सकता है कि वह उस प्राथमिक अवस्था मे अपनी सकल्प शक्ति को सुदृढ बनाता हुआ आगे बढता जावे–

(1) प्रतिदिन तीन मनोरथ का चिन्तवन किया जाय। इसमे त्याग कुछ नही करना है, केवल त्याग की भावना बनानी होती है। तीन मनोरथ इस प्रकार हैं– (अ) वह दिन मेरे लिए धन्य होगा, जिस दिन मैं ससार के समस्त प्राणियो से सम्बन्धित आरम एव समारभ तथा सभी प्रकार के बाह्य एव आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करूगा। (ब) वह दिन मेरे लिये धन्य होगा, जिस दिन मैं द्रव्य से अपने मस्तक तथा भाव से अपने मन को मुडित बना कर साधु धर्म की दीक्षा अगीकार करूगा। एव (स) वह दिन मेरे लिये धन्य होगा जिस दिन मैं अठारह पाप तथा चारो आहार का त्याग करके आत्मालोचना एव सलेखना सहित पडित मरण को प्राप्त करूगा। मनोरथ चिन्तन की निरन्तरता से आत्म भाव की पुष्टि होती रहेगी और इस रूप मे यह पावन कार्य तप रूप ही होगा।

(2) प्रतिदिन इसी प्रकार चौदह नियमो का भी चिन्तवन किया जाय जिससे त्याग की वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण होता चले। तथा सामान्य त्याग का अभ्यास भी बनता चले। चौदय नियम इस प्रकार हैं– (अ) सचित (आ) द्रव्य (इ) विगय (ई) उपानह (पगरखी वगैरा) (उ) ताम्बूल–पान (ऊ) वस्त्र (ए) पुष्प (ऐ) वाहन (ओ) शय्या (मलमूत्र स्थान सहित (औ) लेपन (अं) ब्रह्मचर्य (अ) स्नान (ऋ) भोजन मे प्रतिदिन कुछ न कुछ *यथाशक्ति मर्यादा ली जाय* तथा प्रतिदिन अधिकतर तयाग की भावना रखी जाय।

(3) मृत्यु अवश्यभावी है लेकिन कब होगी–यह अज्ञात है अत बिना त्याग प्रत्याख्यान के अकस्मात् मृत्यु हो जाय तो आत्म सशोधन नही होगा–इस भावना से प्रतिदिन रात्रि को सोते समय आश्रव क्रियाओ का त्याग करके सागारी सथारा कर लेना चाहिये जिसकी अवधि दूसरे दिन प्रात उठने तक के समय की होगी। सुविधा के लिये यह पाठ उच्चारित कर लिया जाय–'आहार, शरीर, उपधि, पचखू पाप अठार। मरण पाऊ तो वोसिरे, जीऊ जागू तो आगार।' ऐसा ही तपोपाय दिन भर आहार क्रिया से बचने के सम्बन्ध मे भी किया जा सकता है। प्रति समय खाया तो जाता नही है किन्तु उसका त्याग भी नही होता है अत एक अगुली मे अगूठी पहिन कर व्रत ले लिया जाय कि जब भी खाना होगा अगूठी उतार कर महामत्र पढकर खाऊगा, वरना अगूठी पहने–पहने भोजन का त्याग रहेगा। इससे भी तपश्चरण की भावना पुष्ट होगी तथा अनावश्यक क्रिया रूप पाप बध से बचा जा सकेगा।

(4) प्रति दिन अथवा दिन रात मे शुभ समय मिलने पर वन्दना करने का नियम लिया जाय। यह वन्दना सुदेव व सुगुरु के प्रति भक्ति दर्शाने वाली हो तथा उनके गुणो का स्मरण कराने वाली हो। ऐसे भक्ति सहित वन्दन नमन से आन्तरिकता मे रही हुई कषाय वृत्तियॉ मन्द होगी तो नमने से कर्मो की निर्जरा भी होगी।

(5) अनशन तप की सीमा एक नवकारसी या पहरसी से लेकर छ माह तक की होती है। कम से कम शक्ति वाला व्यक्ति भी नवकारसी (रात्रि बारह बजे से सूर्योदय के बाद 48 मिनिट तक कुछ भी नही खाना पीना) तथा पहरसी (एक पहर तक कुछ भी नही खाना पीना) की तपस्या कर सकता है। कठिनाई मामूली है लकिन फल ऊचा माना गया है। कहते हैं एक नवकारसी करने से सौ वर्ष नरक मे जितने दु:ख भोगे उतने अशुभ कर्मो का क्षय होता है और एक पहरसी से हजार वर्ष नरक मे जितने दु ख भोगे उतने अशुभ कर्मो का क्षय होता है। एकासना तप का इससे भी अधिक फल मिलता है।

तपोपूत आत्म-शक्ति

जैसे तपस्या का अ आ इ ई होता है, वैसे उसका डि लिट् भी होता है तपाराधना के रूप मे तथा उसमे भी सर्वोच्च आभ्यान्तर तपों की साधना मे। इन तपो का आचरण करते हुए कर्मो का मैल प्रक्षालित होता रहता है और आत्म–स्वरूप निर्मल बनता जाता ऐसी तपोपूत आत्मा ही शक्ति का केन्द्र बनती है। मैं वैसी आत्म शक्ति का दर्शन वीतराग देवों के जीवन में करता हूँ और चिन्तन करता हूँ कि ऐसी शक्ति का धारक बनकर मैं भी लोकोपकार के नये नये आयाम साधू।

मैं इस दृष्टि से अपनी आत्मा को भी तपोपूत बनाने का निश्चय करता हूँ, क्योकि मैं जानता हू कि बिना तपाराधन के मोक्ष की प्राप्ति समव नहीं हे, कारण, बिना तपाराधन के कर्मो की निर्जरा नहीं होती है। अत मैं तप करने के उद्देश्यो को इस रूप में रखता हू–

(1) आत्मा रूपान्तरण–मैल से गदे बने कपडे को साबुन सोड़े से धोने का प्रयत्न करेंगे, तभी स्वच्छ निकल कर उस कपडे का रूपान्तरण हो सकेगा। में भी तपाराधन से इस रूप मे अपने आत्मस्वरूप का रूपान्तरण करना चाहूगा। यह रूपान्तरण अशुभता से शुभता मे होगा। आत्मा के लिये साबुन–सोडे का काम तप करता है जो कर्म मैल को निर्जरा के रूप मे दूर कर देता है। मैं तपाराधन द्वारा कर्मक्षय करके आत्मा के रूप को निर्मलता मे परिवर्तित कर दूगा। में तप की आराधना अपने मनोबल, शारीरिक शक्ति,

श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र को दृष्टि मे रखते हुए करता हू किन्तु प्रयत्न करता हू कि मेरा मनोबल निरन्तर बढता रहे। मैं तपश्चरण को उसी रीति मे योग्य समझता हू जिससे मन समाधि मे रहे, अमगल की चिन्ता न हो, आर्त व रौद्र ध्यान न सतावे तथा इन्द्रियो व योगो का हनन न हो। तपाराधना मे न तो प्रदर्शन की कामना होनी चाहिये तथा न ही अन्य प्रकार की ऐहिक शसाए। तपाराधन की केन्द्र स्थली आत्मा रहे तथा मैं आत्म रूपान्तरण के प्रति सदा सतर्क रहू।

(2) देह–मोह–नाश–तपाराधना के क्षणो मे मैं अपने आत्मस्वरूप पर गभीर चिन्तन करू तथा अनुभूति लू कि मैं अर्थात् मेरी आत्मा मेरे ही शरीर से पृथक है। मैं जो तप कर रहा हू, उसका उद्देश्य एक ओर आत्मा को तपा कर निर्मल बनाना है तो दूसरी ओर देह को तपाकर उसके प्रति जमे हुए मोह से भी मुझे मुक्ति लेनी है। तप का उद्देश्य देह त्याग नही, बल्कि देह बुद्धि और देह मोह का त्याग करना तथा विदेही की अनुभूति लेनी है। मैं सोचता हू कि भूख प्यास, पीडा वेदना देह को होती है, आत्मा को नही अत अनन्त आनन्द की शाश्वत स्रोत आत्मा का धर्म अलग है तथा देह का धर्म अलग है।

(3) इच्छाओ और आसक्ति का अन्त–मैं तपश्चरण का यह महत्वपूर्ण परिणाम समझता हू कि तप जितना दृढ सकल्प के साथ साधा जायगा, उतनी ही त्वरित गति से इच्छाओ का सशोध और आसक्ति का अन्त होता जायगा जबकि अनेकानेक इच्छाए व आसक्तिया ही आत्मा को लुभाती हैं और पतन के गहर मे गिराती है। मैं तप काठिन्य को बढाता हुआ अज्ञान, विषय व कषाय का समूल विनाश करता रहूगा।

तपश्चरण के महान् उद्देश्यो को केन्द्रस्थ बनाकर मैं तप के महात्म्य का भी निरन्तर चिन्तन करता रहूगा ताकि तपश्चरण के प्रति मेरी अभिरुचि अभिवृद्ध होती जाय। मेरी मान्यता है कि आत्म विकास की महायात्रा को सफल बनाने के लिये तप ही आध्यात्मिक उष्मा और ऊर्जा है, जो आत्म गति को ऊर्ध्वगामी बनाती हे। मोह–ममत्व एव कर्मो के लेप को हटाना तप सेवन के बिना अशक्य है। तपश्चरण से आत्मा निर्मल होती है तथा बाह्य एव आन्तरिक जीवन निर्विकार बनता है। इस रूप मे तपश्चरण शारीरिक एव मानसिक रोगो से भी मुक्ति दिलाता है। जिन आधि–व्याधियो की चिकित्सा करने मे चिकित्सक और चिकित्सा प्रणालियॉ विफल हो जाती हैं उन्हे तप की क्रमिक साधना जड मूल से दूर कर देती है। अनशन तप के नियमित नियम से व्याधियॉ नही आती हैं और शरीर निरोग बना रहता हे।

मेरे अनुभव मे आया है कि तप की प्राभाविकता भी विपुल होती है। तपस्वी के समक्ष शक्तिशाली पशुबल भी हार मान लेता है क्योकि उसका आत्मबल अजेय बन जाता हैं। तपश्चरण से धर्म की समूची आराधना समन्वित रूप मे हो जाती हे। तप आत्मा को धर्म के सन्निकट ले जाता है। सवर के बाद तप से ही कर्म क्षय होते हैं और निर्जरा के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। तप ऐसी प्रखर अग्नि होती है जिसमे अनिकाचित कर्म तक नष्ट हो जाते हैं। बिना तप के मोक्ष नहीं है और तपश्चरण से शीघ्र मोक्ष मिलता है। अत मैं तप का आराधन विवेक सहित तथा समभाव पूर्वक करता हू और यह निश्चय करके कि तपाराधना मे कोई लौकिक एषणा नही रखूगा, मात्र कर्म क्षय करने का हेतु ही समक्ष रखूगा। मेरे तपाराधन मे वन्दन–स्तुति का भाव भी नहीं रहेगा तथा तप के मूल तत्त्व धैर्य और समत्व भाव को आत्मसात् करके निश्चल बना रहूगा। इस प्रकार मेरी आत्मा तप मे तपेगी, अपने स्वकरूप मे पवित्र बनेगी एव शक्ति सचय मे अग्रगामी होती। तपोपूत आत्मशक्ति की तभी मुझे प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकेगी।

सातवां सूत्र और मेरा संकल्प

तपोपूत आत्म शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति से मेरी आत्मा का समग्र स्वरूप उल्लसित हो उठेगा क्योकि महाप्रतापी और सर्वशक्तिमान बनने का उसका लक्ष्य समीप आता हुआ दिखाई देगा। तब मेरा सोचना भी सार्थक हो जायगा कि कर्म बधन कैसे टूटते हैं और मुक्ति के मार्ग पर कैसे पहुचते हैं? मैं उस स्तर तक पहुचने के लिये आज अपनी आत्म–शक्ति पर समीक्षण ध्यान करता हू और आत्म–साक्षात्कार तक पहुचना चाहता हू। मैं जानता हू कि यह महद् कार्य मैं वीतराग देवो की आज्ञा मे अपने पुरुषार्थ को नियोजित करके ही सम्पन्न कर सकूगा।

अत मैं सकल्प लेता हू कि मैं वीतराग देवो की आज्ञा में ज्ञान और क्रिया का सयोग बनाकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रगामी बनूगा। इसी प्रगति मे में बारह प्रकार के तपो की कठोर आराधना करूगा और कर्म बधनो को तोडता हुआ देहमोह से भी मुक्त होने की अवस्था तक पहुच जाऊगा।

में अपने सकल्प मे सुदृढ रहते हुए अपनी अनन्त आत्मिक शक्ति की अनुभूति लूगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊगा तथा महाप्रतापी एव सर्वशक्तिमान् होने का उपक्रम करूगा।

अध्याय नौ

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ८ :

मैं ज्ञान पुज हूँ, समत्व योगी हूँ।

मुझे सोचना ही है कि मुझे अमिट शान्ति क्यो नहीं मिलती, अमिट सुख क्यो नही प्राप्त होता?

ज्ञान के प्रकाश मे मैं अनुभव करूँगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एव विश्वकल्याण का चारण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है? तब मैं वीतराग देवो की आज्ञा में रहता हुआ एकावधानता से सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना करूँगा, गुणस्थानो के सोपानो पर चढता जाऊगा और समत्व योग के माध्यम से अमिट शान्ति एव अक्षय सुख को प्राप्त कर लूगा।
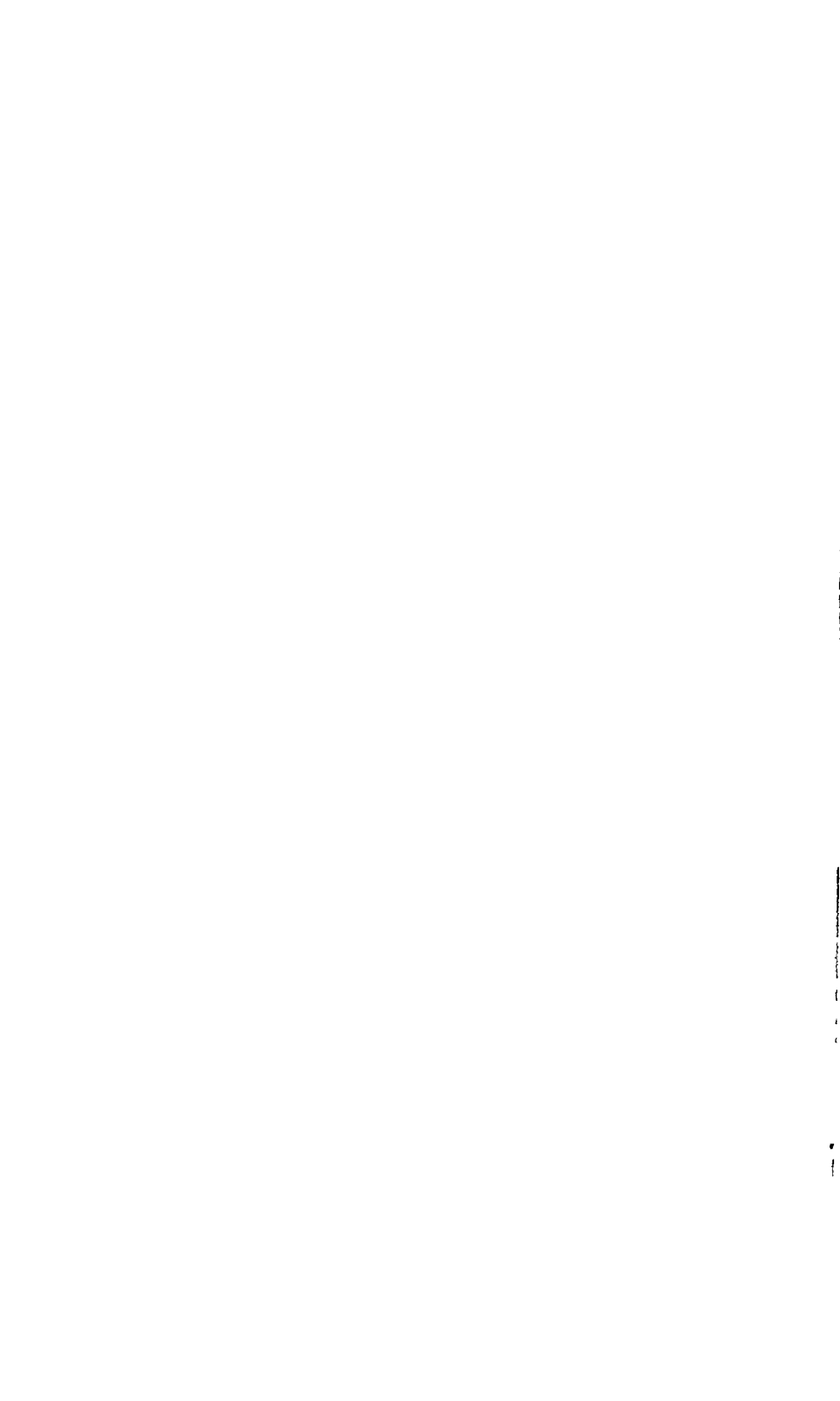
सूत्र आठवां

मैं ज्ञानपुज हू, समत्व योगी हू। मेरी आत्मा मे अज्ञान आया हुआ है, ज्ञान मूल मे है ओर वह ज्ञान भी सामान्य नहीं, अनन्त ज्ञान है। इसीलिये मैं ज्ञानी ही नही, ज्ञानपुज हू।

मैं ज्ञानपुज हू, अपार ज्ञान का धारक हू। अज्ञान इस सासारिकता मे मेरे आत्म स्वरूप से सलग्न हुआ हे और उसने मेरी ज्ञान शक्ति को आछन्न कर दी है, किन्तु उस अज्ञान को दूर कर देने का सामर्थ्य भी मेरे ही भीतर हुआ है–अधकार को समाप्त कर देने वाला प्रकाश भी मेरी ही आन्तरिकता मे समाया हुआ हे। मैं उस प्रकाश का आव्हान करू–उसे अनावृत्त करने का पुरुषार्थ करू तो मैं प्रकाश पुज बन सकता हू, ज्ञानपुज हो सकता हू। ज्ञान पुज ही प्रकाश पुज होता है।

में ज्ञानपुज हू और उसकी ही सम्पूर्ति मे मैं समत्व योगी भी हू। मेरा सम्यक् ज्ञान ही मेरा पथ दर्शक बनकर मुझे समत्व योग तक पहुचाता हे–समता रस का पान कराता हैं। मैं अपने ही ज्ञान के उत्तरोत्तर उर्ध्वगामी सोपानो पर आरुढ होता हुआ समत्व को प्राप्त करता हू तो शिखर पर पहुच कर समत्व–योगी बन जाता हू।

मैं ज्ञानपुज हू, समत्व योगी हू। मेरा ज्ञान ही चारित्र मे ढलता है, मुझे चारित्र्यशील बनाता है ओर ज्ञान एव चारित्र का गतिशील सामजस्य स्थापित कर देता है। मेरा ज्ञान मेरी आत्मा की आखे बन जाता है और मेरा चारित्र उसके सशक्त पाव–तब समता के मार्ग पर उसकी दौड आसान हो जाती है। मेरी आत्मा तब समतावादी से समता धारी और समता धारी से समतादर्शी हो जाती है। समतादशी हो जाना ही समत्त्व योग की चरम परिणति होती है। मैं समत्व योगी हो जाता हू।

मैं समत्व योगी हू। इसी योग के सुफल स्वरूप मुझे अमिट शान्ति मिलती है और मिलता है अक्षय सुख। उस शान्ति और सुख का मैं तब शाश्वत धनी हो जाता हू। वह शान्ति मुझसे फिर कभी विलग नही होती, वह सुख

मुझे फिर कभी नही छोडता–सदा शान्ति सदा सुख मेरी ज्योतिर्मयी आत्मा के सतत साथी बन जाते हैं।

मैं समत्व योगी होता हू तो सबको–सभी जीवो एव पदार्थो को यथावत् रूप मे समता की दृष्टि से देखता हू, सबका हित चिन्तन करता हू और अभिलाषा रखता हू कि सभी अपने सम्यक् ज्ञान को जगावे, सम्यक् चारित्र को सक्रिय बनावे और समता के प्रशस्त पथ पर बढ चले।

मैं ज्ञानपुज होना चाहता हू और समत्व योग तक सफलता पूर्वक पहुचना चाहता हू, इसी कारण अपने लिये भी चाहता हू और सभी भव्य जीवो के लिये भी चाहता हू कि ज्ञान ओर क्रिया (चारित्र) का श्रेष्ठ समन्वय किया जावे और दोनो को एकरूपता मे ढाल कर आत्मविकास का शक्तिशाली माध्यम बना दे।

मैं अपने ज्ञान और समता (दया और क्रिया) के सयोग से जानता हू कि पहले ज्ञान और फिर दया (क्रिया) की आवश्यकता होती है क्योकि मैं अपने ज्ञान के प्रकाश मे ही सुयोग्य क्रिया का चयन करता हू। ज्ञान के बिना ही क्रिया को पकड लूगा तो मैं उसके सही स्वरूप को नही जान पाऊगा ओर उस क्रिया की शक्ति को भी नहीं पहिचान पाऊगा कि वह मुझे मेरी आत्म–विकास की महायात्रा मे सफलता दिला सकेगी अथवा नहीं। इसके विपरीत केवल ज्ञान को ही पकड लूगा तो प्रकाश अवश्य फेल जायगा किन्तु क्रिया के अभाव मे गति नहीं पकड सकूगा। प्रकाश मे ही सही–लेकिन अपने प्रस्थान के स्थान पर ही ठहरा रहूगा तो अपने गतव्य तक पहुचूगा कैसे? समत्व योग तक पहुचू–उसके लिये मुझे प्रकाश भी चाहिए ओर गति भी। मुझे न अधकारपूर्ण गति चाहिये और न प्रकाशपूर्ण स्थिति। मेरी ज्ञान और मेरी समता ही परस्पर जुड कर मेरी आत्मा को ऊर्ध्वगामी प्रगति प्रदान करेगे। क्योकि ज्ञान और क्रिया–दोनो ही एकरूप क्रियाशीलता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोगी स्वरूप का एक रूपक है। एक बीहड जगल मे एक लगडा व्यक्ति पडा हुआ था, वह पास के नगर मे पहुच कर सुख से जीवन बिताना चाहता था। उसे नगर तक पहुचने का सही मार्ग भी मालूम था, लेकिन वह एक कदम भी चल नहीं सकता था, इसलिये नगर मे पहुचे तो पहुचे केसे ? उसकी मार्ग की सही जानकारी और सुख पाने की अभिलाषा भी उसके कुछ काम नहीं आ रही थी। वह असहाय बना चारो ओर नजर घुमा रहा था कि वहीं उसका कोई सहायक मिल जाय। अचानक उसे

कुछ दूरी पर एक दूसरा व्यक्ति दिखाई दिया। वह कभी एक पड से टकरा रहा था तो कभी किसी झाडी मे गिर रहा था। कभी वह पत्थर से ठोकर खा जाता तो कभी उसका सिर किसी नीची डाल से टकरा जाता। कभी वह गिरते–गिरते बच जाता तो कभी गिर कर अपने घुटने तोड ही डालता। वह लहूलुहान था। उसकी वह दुर्दशा देखकर लगडा व्यक्ति चौंक उठा।

उसके दिमाग मे एक नया ही विचार कौंधा। वह लगडा व्यक्ति समझ गया कि सामने आने वाला व्यक्ति जरूर ही अधा है। उसने देखा कि इतनी ठोकरें खाते रहने पर भी उसके पावो मे अच्छी ताकत है, क्योकि तब भी वह काफी स्थिर गति से चल रहा था। उसने विचार किया कि अगर वे दोनो मिल जाय तो उसकी अभिलाषा पूरी हो सकती है। उसने अधे व्यक्ति को जोर से पुकारा कि वह उसके पास चला आवे। फिर पुकारता रहा ताकि आवाज के सहारे वह उस तक पहुच सके। धीरे–धीरे वह अधा व्यक्ति भी उसके पास पहुच गया। वह बहुत घबरा रहा था। उसने पूछा– तुम कौन हो? तुमने मुझे यहा क्यो बुलाया है? लगडा व्यक्ति उसके हाव भाव समझ कर बोला–पहले मैं पूछू कि तुम जगल मे क्या कर रहे थे? अपनी खोज खबर लेने की हार्दिकता से अधे व्यक्ति का दिल भर आया, रूधे हुए कठ से वह बोला–भाई, तुम देख रहे होवेगे कि मैं अधा हू। अपनी गलत हठ के कारण मैं घर से रवाना हो गया और इस जगल मे भटक गया। अब तुम्हीं मुझे पार लगादो और पास के नगर तक पहुचा दो।

एक ठडी आह भर कर लगडे व्यक्ति ने अपनी सहानुभूति का हाथ अधे व्यक्ति की पीठ पर फिराया और कहा–भाई, तुम देख नही पा रहे हो, लेकिन मैं भी तुम्हारी ही तरह अशक्त हू। मैं भी पास के नगर तक जाना चाहता हू किन्तु चल नहीं सकता हू। मैं लगडा हू, इसीलिए यहॉ पडा हुआ हू। अधे व्यक्ति की व्याकुलता भी फूट पडी–भाई, हम दोनो दुखी हैं, फिर भी क्या हुआ? दोनो मिल जाय तो कोई न कोई राह निकल ही आयगी। लगडे व्यक्ति ने कहा–राह तो मैंने सोच भी ली है भाई, अगर तुम मान जाओ तो बेडा पार हो सकता है।

अधा व्यक्ति खुशी के मारे लगडे व्यक्ति से लिपट गया क्योकि वह अपने अधेपन के भारी कष्टो को भुगता चुका था और बोला–लो भाई हम दोनो लिपट कर एक हो गये हैं, अब बताओ राह। लगडे व्यक्ति ने तब समझाते हुए कहा–मेरे पाव नहीं है और तुम्हारे पाव हैं। तुम्हारे आखें नहीं है, और मेरी आखे हैं। मैं तुम्हारी आखे बन जाऊ और तुम मेरे पाव बन

जाओ—बस हम दोनो चल पडगे। फिर जहा भी हम पहुचना चाहगे, खुशी से पहुच सकेगे।

फिर क्या था? अधे ने लगडे को अपने कधो पर बिठा लिया। फिर लगडा स्पर्श के सकेतो से अधे को रास्ता बताता रहता और अधा अपने मजबूत पावो से चलता रहता। एक की चमकदार आखे ओर दूसरे के मजबूत पाव जब तक अलग अलग थे, दोनो व्यर्थ हो रहे थे और बीहड जगल मे पडे हुए थे—भटक रहे थे। लेकिन जब दोनो एक हो गये तो गति बन गई—केवल गति ही नहीं, सुमार्गगामी गति बन गई।

मैं सोचता हू कि ज्ञान लगडा होता है ओर क्रिया अधी। ज्ञान चल नहीं सकता ओर क्रिया देख नही सकती। क्रिया बिना ज्ञान ठहरा रहेगा और ज्ञान के बिना क्रिया भटकती रहेगी। और जब दोनो एक बन जायेगे तो सीधे और सपाट मार्ग पर तीव्र गति से प्रगति कर लेगे।

मैं ज्ञानपुज हू इसीलिये ज्ञान को साधता हू—प्रकाश की किरणे फैलाता हू। ज्ञान के प्रकाश मे ही में सत्य मार्ग की शोध करता हू ओर अपने शाश्वत गतव्य को निर्धारण करता हू। मैं समत्व योगी हू, तभी तो आचरण की महत्ता को समझता हू—गति के आनन्द का अनुभव लेता हू। प्रकाश और प्रगति मेरे सहचर बन जाते हें।

मैं ज्ञानपुज ओर समत्व योगी बनने की अपनी आत्मिक शक्ति को पहचान चुका हू तो मेरा दृढ विश्वास बनता है कि मैं एक दिन ज्ञान पुज ओर समत्व योगी बन भी जाऊगा।

मैं ज्ञानपुज और समत्व योगी बन जाऊगा योगी बन जाऊगा किन्तु कब? में ज्ञान ओर क्रिया की समवेत साधना करूगा और वह भी उन वीतराग देवो की आज्ञा मे रहकर—जिन्होने स्वय ने ऐसी समवेत साधना सिद्ध की ओर ससार के समक्ष न सिर्फ अपना आदर्श ही प्रस्तुत किया, अपितु वह सुपथ भी प्रशस्त किया है जिस पर चलकर सभी भव्य आत्माए ज्ञानपुज ओर समत्व योगी बन सकती हें। मैं भी उसी पथ पर अटल निश्चय ओर निश्चल गति से आगे बढूगा—मोक्ष—पथगामी बनूगा।

मोक्ष का राजमार्ग

मेरा ज्ञान सजग बनता है ओर मैं यह जानना चाहता हू कि मोक्ष क्या है? और वहा पहुचने का राजमार्ग कौनसा है? मैं आप्त वचनो का स्मरण करता हू ओर जानता हू कि सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र ओर

तप–ये चारो मोक्ष मार्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं जिनकी आराधना करने से आत्मस्वरूप का विकास होता है। सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा जीव अजीव आदि तत्त्वो व पदार्थो को जानती है, सम्यक दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है, चारित्र द्वारा नवीन कर्मो को आने से रोकती है तथा तप द्वारा पुराने कर्मो को क्षय करके शुद्ध स्वरूपी बनती है।

मैं चिन्तन करता हू कि जब मैं जीव, अजीव आदि तत्त्वो को भलीभाति जान लेता हू तो सब जीवो को नानाविध नरक तिर्यच आदि गतियो को भी जान लेता हू और तदनुसार पुण्य, पाप, बध और मोक्ष को भी जान लेता हू। जब मै पुण्य, पाप, बध ओर मोक्ष को जान लेता हू तो देवता और मनुष्य सम्बन्धी समस्त काम भोगो को असार जानकर उनसे विरक्त हो जाता हू एव माता पिता व सम्पत्ति रूप बाह्य सयोग तथा राग द्वेष कषाय रूप आभ्यान्तर सयोग को भी छोड देता हू। जब मैं उक्त बाह्य एव आभ्यन्तर सयोग को छोड देता हू तो मुडित होकर अनगार वृत्ति (मुनिधर्म) को अगीकार कर लेता हू। जब मुडित होकर अनगार वृत्ति को अगीकार करता हू तो मैं सर्व प्राणातिपात आदि विरति रूप उत्कृष्ट सवर–चारित्र धर्म का यथावत् पालन करता हू और चारित्र धर्म के इस पालन के साथ मैं मिथ्यात्व रूप कलुष परिणाम से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रज को झाड देता हू कर्म क्षय के पश्चात् अशेष वस्तुओ को विषय करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति आत्मा को जिन और केवली बनाकर लोक और अलोक का सम्पूर्ण ज्ञान करा देती है। केवल ज्ञानी आपनी स्थिति पूरी होने पर मन, वचन, काया रूप योगो का निरोध करता है तथा शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। तदनन्तर अशेष कर्मो का सर्वथा क्षय करके वह कर्म रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। तब वह सिद्ध गति मे रहने वाला शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

मोक्ष मार्ग पर प्रस्थान करने से लेकर गतव्य तक पहुचने का इस प्रकार मे सक्षिप्त विवरण जानता हू और इस पर मनन करता हू। इसी का सार रूप सक्षिप्ततम विवरण भी मुझे वीतरागत–वाणी मे मिलता है जो इस प्रकार है–(1) सत्सग से धर्मश्रवण (2) धर्म श्रवण से तत्त्व ज्ञान (3) तत्त्वज्ञान से विज्ञान विशिष्ट तत्त्व बोध (4) विज्ञान से प्रत्याख्यान सासारिक पदार्थो से विरक्ति तथा व्रत ग्रहण (5) प्रत्याख्यान से सयम (6) सयम से अनाश्रव–नवीन कर्मागमन का अभाव (7) अनाश्रय से तप (8) तप से पूर्व बद्ध कर्मो का नाश (9) पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता–सर्वथा कर्मरहित स्थिति ओर (10) निष्कर्मता से मोक्ष–सिद्धमुक्त अवस्था।

मैं इस रूप मे मोक्ष का मार्ग जानता हू ज्ञान और क्रिया का–इसमे श्रद्धा को स्थान देने से रत्न त्रय की रचना होती हे याने कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र–ये तीन मोक्ष के मार्ग हैं। तप को चारित्र मे समाहित कर लिया जाता है। रत्नत्रय का सरल अर्थ मैं इस रूप मे करता हू कि मैं सही जानू और जो सही जानू उसे मानू–उस पर अपनी आस्था बनाऊ क्योकि केवल जानना ही कार्य करने के लिए पर्याप्त नही होता है–उस जानने को मन से मानना भी जरूरी है। इस प्रकार जो मे जानू और मानू, वैसा ही करू। तब ज्ञान, आस्था और कर्म (कार्य) का सगम होता हे तथा इनकी एकरूपता सधती है तब कोई भी साध्य कठिन नही रहता। मोक्ष का साध्य भी इनकी उत्कृष्ट साधना से सिद्ध होता ही है।

यो मोक्ष प्राप्ति में पाच कारणो का सयोग होना भी बताया गया है–(1) कालसमयावधि की परिपक्वता, (2) स्वभाव–अपने भाव मे स्थिति की अवस्था (3) नियति–भाग्य (4) पूर्वकृत कर्मक्षय–पहले के सचित कर्मो का नाश तथा (5) पुरुषकार–पुरुषार्थ। इनमे से किसी एक, दो या पाच से कम कारणो के मिल जाने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। पाचो कारणो का सयोग तद् हेतु आवश्यक हे।

मैं जानता हू कि अनादि काल से जीव निगोद आदि गतियो मे परिभ्रमण कर रहा है। कई जीव ऐसे हैं जिन्होने स्थावर अवस्था को छोडकर त्रस अवस्था को भी प्राप्त नही की है। अत त्रसत्व आदि मोक्ष के पन्द्रह अग बताये गये हैं। जिनकी प्राप्ति ही बहुत कठिन होती है–

(1) जगमत्त्व (त्रसत्व)–निगोद तथा पृथ्वीकाय आदि को छोडकर जगम अवस्था (द्वीन्द्रिय आदि) को प्राप्त करना।

(2) पचेन्द्रियत्व–जगम अवस्था (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक) से निकल कर पचेन्द्रियपना प्राप्त होना।

(3) मनुष्यत्त्व–पचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त होने के बाद भी नरक, तिर्यच आदि गतियो से निकल कर दुर्लभ मनुष्य भव मिलना।

(4) आर्यदेश–मनुष्य भव भी अनार्य (सस्कृतिविहीन) देश मे न मिलकर धर्म सस्कृति से समुन्नत आर्य देश मे मिले।

(5) उत्तम कुल–नीच कुल की अपेक्षा धर्म क्रिया की यथासाध्य सामग्री जहा प्राप्त हो–ऐसे उत्तम कुल का प्राप्त होना।

(6) उत्तम जाति–पितृपक्ष को कुल और मातृपक्ष को जाति कहते हैं

जिसक अनुसार जाति भी सुसस्कारयुक्त मिले।

(7) रूप–समृद्धि–पाचो इन्द्रियो की पूर्णता, समर्थता एव सम्पन्नता को रूप समृद्धि कहते हैं ताकि धर्मराधना यथाविधि की जा सके। विकलागता से धर्म क्रियाओ मे बाधा पडती है।

मोक्ष तत्त्व का विचार उसके निम्न नौ द्वारो से भी किया जाता है–

(1) सत्पद प्ररूपणा–मोक्ष सत्स्वरूप है क्योकि मोक्ष शुद्ध एव एक पद वाले सभी सत्स्वरूपी होते है। इस द्वार का वर्णन चौदह मार्गणाओ द्वारा भी किया जाता है जो इस प्रकार है–गति (चार) इन्द्रिय (पाच) काय (छ) योग (तीन) वेद (तीन) कषाय (चार) ज्ञान (आठ) सयम (सात) लेश्या (छ) भव्य (दो) सम्यक्त्व (छ), सज्ञी (दो) तथा आहार (दो)। इन 62 भेदो मे से जीव को मोक्ष मे पहुचाने वाली मार्गणाए हैं–मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, भव्यसिद्धिक, सज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन। कषाय, वेद, योग, और लेश्या मार्गणाओ से जीव कभी मोक्ष मे नही जा सकता।

(2) द्रव्य द्वार–सिद्ध जीव अनन्त हैं।

(3) क्षेत्र द्वार–लोकाकाश के असख्यातवे भाग मे सब सिद्ध अवस्थित हैं।

(4) स्पर्शन द्वार–लोक के अग्रभाग में सिद्ध रहे हुए हैं।

(5) काल द्वार–एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धो की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं।

(6) अन्तर द्वार–सिद्ध जीवों मे अन्तर नहीं है। सब सिद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान हैं।

(7) भाग द्वार–सिद्ध जीव ससारी जीवो के अनन्तवे भाग हैं।

(8) भाव द्वार–सिद्ध जीवो मे पाच भावो से दो भाव–केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव तथा जीवत्त्व रूप पारिणामिक भाव ही होते हैं।

(9) अल्प बहुत्त्व द्वार–सबसे थोडे नपुसक सिद्ध, स्त्री सिद्ध उनसे सख्यात गुणे अधिक तथा पुरुष सिद्ध उनसे सख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार मोक्ष के राजमार्ग तथा मोक्ष के स्वरूप पर मैंने चिन्तन किया है तथा ज्ञान लिया है कि क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब गुण

स्थानो के सोपानो (गुणस्थानो का विस्तृत वर्णन आगे इसी अध्याय मे है) पर चढती हुई चार धाती कर्मो को नष्ट कर लेती हैं, तब उसके स्वरूप पर पडे ज्ञान, दर्शन, मोह और अन्तराय के आवरण हट जाते हैं तथा उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एव अनन्त शक्ति के मूल गुण प्रकट हो जाते हैं। तेरहवे व चौदहवे गुणस्थानो मे गति पूरी करके आत्मा शेष चार कर्मो का भी क्षय कर लेती है। तब उसमे सिद्धो के चार गुण प्रकट होते हें–अव्याबाध सुख, अनन्त स्थिति, अरूपीत्व तथा अगुरुलघुत्व। यो मुक्तात्मा के आठ गुण हो जाते हैं।

ऐसे मोक्ष रूपी गतव्य पर कौन भव्य आत्मा जल्दी से जल्दी नही पहुच जाना चाहेगी? किन्तु यह प्राप्ति पुरुषार्थ के बिना समव नही है तथा आत्मा को यह पुरुषार्थ करना पडेगा रत्न–त्रय की साधना मे। जानो, मानो और करो का पुरुषार्थी क्रम बिठाना होगा।

रत्न-त्रय की साधना

मैंने समझ लिया है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की युति ही रत्न त्रय कहलाती हे तथा रत्न त्रय की साधना ही मोक्ष प्राप्ति की साधना होती है। यह विचारणीय तथ्य हे कि यह युति सम्यक् होनी चाहिये वरना बिना सम्यक्त्व के तीनो रत्न नहीं रहते। ज्ञान जीव मात्र मे पाया जाता है तथा ऐसा कोई समय नहीं आता, जब जीव ज्ञान रहित हो जाय, क्योकि ज्ञान का सर्वथा अभाव हो तो जीव नहीं रहेगा, जड हो जायगा ओर जीव कभी भी अजीव (जड) होता नहीं हे। ज्ञान तो होता ही है लेकिन वह मिथ्या ज्ञान भी हो सकता है और सम्यक् ज्ञान भी। मिथ्या ज्ञान को अज्ञान भी कहा जाता है। अत मिथ्या एव सम्यक् ज्ञान के अन्तर को समझना आवश्यक हे। इस अन्तर को एक शब्द मे यो कह सकते हैं कि जब ज्ञान सम्यक् दर्शन से युक्त होता है तब वह सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

इस दृष्टि से मैं समझता हू कि आस्था सही होगी तो ज्ञान भी सही होगा–दर्शन की इस कारण सही होने की अपेक्षा रहती है क्योकि दर्शन भी मिथ्या और सम्यक् दोनो प्रकार का हो सकता है। मिथ्या दर्शन रहेगा तब ज्ञान भी मिथ्या ही रहेगा। इसलिये सम्यक्त्व की प्रथम अनिवार्यता मानी गई है। मोक्ष का अर्थ होता है आत्म शक्तियो का सम्पूर्ण विकास। इस दृष्टि से इसका यह अर्थ भी हुआ कि आत्म शक्ति के विकास मे वाधा डालने वाले तत्त्वो का विनाश। इस अर्थ के अनुसार सम्यक् ज्ञान वह होगा जो आत्म शक्तियो का विकास साधे और मिथ्या ज्ञान वह होगा जो इस विकास मे

बाधाए खडी करे। यह कसौटी है जिस पर ज्ञान के खरेपन या खोटेपन की हर समय परीक्षा की जा सकती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा अपनी प्रत्येक वृत्ति एव प्रवृति को इस कसौटी पर कसकर उसकी जाच कर सकती है। जिससे भ्रम या सशय समाप्त किया जा सकता है। वैसे भी सम्यक्तवधारी आत्मा सदा सत्य की शोध मे रत रहती है कि वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ले सके।

मेरी दृढ मान्यता हे कि जब ज्ञान और दर्शन दोनो मे सम्यक्त्व का समावेश हो जायगा तब चारित्र भी निश्चय रूप से सम्यक् बन जायगा। सम्यक्त्वी आत्मा अपने ज्ञान का उपयोग सासारिक वासनाओ के पोषण मे नही करती है, अपितु अपने आध्यात्मिक विकास मे नियोजित रखती है। किन्तु सम्यक्तव रहित आत्मा का व्यवहार इसके विपरीत होता है। कई बार उसका ज्ञान सही भी होता है किन्तु आस्था सही नही होने से वह अपने मत के प्रति दुराग्रही होती है तथा दूसरो की सही सम्पत्ति को भी तुच्छ समझती है। वह अपने ज्ञान का उपयोग सासारिक वासनाओ की पूर्ति मे करती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति का होता है अत उसका सारा पुरुषार्थ इसी ओर लगा रहता है चाहे वह सासारिक शक्तियो से सम्बन्धित हो अथवा आध्यात्मिक शक्तियो से सम्बन्धित। इस प्रकार उद्देश्यो की भिन्नता के आधार पर ही ज्ञान मिथ्या अथवा सम्यक् कहलाता है।

सम्यक् ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि प्रमाण और नय से होने वाला जीवादि तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है जो वीर्यान्तराय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से उत्पन्न होता है। अत प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु स्वरूप को जानना सम्यक् ज्ञान है। तब यह समझे कि प्रमाण और नय क्या है? जो ज्ञान शब्दो मे उतारा जा सके या जिसमे वस्तु को उद्देश्य और विधेय रूप मे कहा जा सके उसे नये कहते हैं। उद्देश्य और विधेय के विभाग के बिना ही जिसमे अविभक्त रूप से वस्तु का भाव हो उसे प्रमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे जो ज्ञान वस्तु के अनेक अशो को जाने वह प्रमाण ज्ञान है तथा अपनी विवक्षा से किसी एक अश को मुख्य मानकर व्यवहार करना नय हे। नय ओर प्रमाण दोनो ज्ञान हैं। किन्तु वस्तु के अनेक धर्मो मे से किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय है ओर अनेक धर्मो वाली वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना प्रमाण है। जैसे दीपक मे नित्य धर्म भी रहता है और अनित्य धर्म भी। यहा अनित्यत्त्व का निषेध न करते हुए अपेक्षावश दीपक को नित्य कहना नय है।

प्रमाण की अपेक्षा दीपक नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो धर्मो वाला होने से उसे नित्यानित्य कहा जायगा।

नयो के निरूपण का अर्थ है विचारो का वर्गीकरण, अत नयवाद का अर्थ हुआ विकारो की मीमासा। इस वाद मे विचारो के कारण, परिणाम या विषयो की पर्यालोचना मात्र नही है। वास्तव मे परस्पर विरुद्ध दीखने वाले किन्तु यथार्थ मे अविरोधी विचारो के मूल कारणो की खोज करना ही नयवाद का मूल उद्देश्य है। नय के सक्षेप मे दो भेद हैं–(1) द्रव्यार्थिक नय–वस्तु के सामान्य अश पर किया गया विचार तथा (2) पर्यायार्थिक नय–वस्तु के विशेष अश पर किया गया विचार। पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का विचार करते समय दोनो प्रकार के नय उपयोग मे लिये जाते हैं। नय के विशेष रूप से सात भेद हैं–(1) नैगम नय–जो विचार लौकिक रूढि या सस्कार का अनुसरण करे, (2) सग्रह नय–जो भिन्न–भिन्न वस्तुओ या व्यक्तियो मे रहे हुए किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर सबमे एकता बतावे (3) व्यवहार नय–जो विचार सग्रह नय के अनुसार एक रूप से ग्रहण की हुई वस्तुओ मे व्यावहारिक प्रयोजन के लिये भेद डाले। ये तीनो नय सामान्य दृष्टि के होने से द्रव्यार्थिक वर्ग मे आते हैं। (4) ऋजुसूत्र नय–जो विचार भूत और भविष्य काल की उपेक्षा करके वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे, (5) शब्द नय–जो विचार शब्द प्रधान हो ओर लिग, कारक आदि शाब्दिक धर्मो मे भेद माने, (6) समभिरूढ नय–जो विचार शब्द के रूढ अर्थ पर निर्भर न रह कर व्युत्पत्ति के अर्थानुसार समान अर्थो वाले शब्दो मे भी भेद माने तथा (7) एवमूत नय–जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही वस्तु को उस रूप मे स्वीकार करे।

प्रमाण ओर नय से जाने गये वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर ही अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सिद्धान्त आधारित है। वस्तु के विभिन्न धर्मो को जानकर उनका समन्वय करना स्याद्वाद है, कारण स्याद्वाद पहले वस्तु धर्म के सारे पहलुओं की जानकारी कर लेता है। सभी पहलुओ को सप्तभगी के रूप मे बताये जाते हें–(1) कथचित् है (2) कथचित नहीं है (3) कथचित् है और नही है (4) कथचित कहा नहीं जा सकता (5) कथचित है फिर भी कहा नहीं जा सकता, (6) कथचित् नही है फिर भी कहा जा सकता तथा (7) कथचित् हे, नही हे, फिर भी कहा नही जा सकता। वस्तु के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक पर्याय के धर्मो के उक्त रूप मे सात प्रकार के ही होने से व्यस्त और समस्त, विधि निषेध की कल्पना से सात ही प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हें,

अत सात ही प्रकार के उत्तर सप्तभर्गी मे दिये गय हें।

प्रमाण की परिभाषा यह बताई गई है कि सच्चा ज्ञान अपना और दूसरो का निश्चय कराता है। प्रमाण ज्ञान वस्तु को सब दृष्टि बिन्दुओ से जानता है अर्थात् वस्तु के सभी अशो को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं। इसके चार भेद कहे गये हें–

(1) प्रत्यक्ष–अक्ष का अर्थ आत्मा और इन्द्रिय हे अत इन्द्रियो की सहायता के बिना आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान तथा केवल ज्ञान होता है और इन्द्रियो से सीधा सम्बन्ध रखने वाला इन्द्रिय ज्ञान होता है। दोनो ही प्रत्यक्ष होते हैं। आत्मा की सहायता से होने वाला ज्ञान निश्चय मे तथा इन्द्रियो की सहायता से होने वाला ज्ञान व्यवहार मे प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

(2) अनुमान–लक्षण या कारण को ग्रहण करके सम्बन्ध या प्यापित के स्मरण से पदार्थ का जो ज्ञान होता है याने साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है।

(3) उपमान–जिसके द्वारा सदृशता से उपमेय पदार्थों का ज्ञान होता है उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे गवय गाय के समान होता है।

(4) आगम–शास्त्र द्वारा होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है।

मैं नय और प्रमाण के विश्लेषण से यह जान पाया हू कि वीतराग देवो ने आत्मा को स्वतत्र विचार एव निर्णय का कितना विशाल क्षेत्र सौंपा है? मात्र आगम प्रमाण के सिवाय सभी प्रमाण और नय की कसौटी पर आत्मा को ही सम्यक्त्व का ज्ञान करना होता है और उसी रूप मे अपनी वृत्तियो को परख कर निर्णय लेना होता है। इस दृष्टि से आत्मा प्रत्येक वस्तु–स्वरूप पर स्वय चिन्तन करे और निर्णय ले जिसका समाधान सम्यक्त्व की कसौटी पर और आगम प्रमाण के अनुसार किया जा सकता है।

मूलत ज्ञान एव दर्शन के समन्वित रूप को उपयोग कहा गया है। जो उपयोग पदार्थो के विशेष धर्मो का जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है वह ज्ञान है। जो उपयोग पदार्थो के सामान्य धर्म याने सत्ता का ग्राहक है वह दर्शन है। ज्ञान साकार उपयोग और दर्शन निराकार उपयोग होता हे।

ज्ञान के दो भेद किये गये हैं–(1) प्रत्यक्ष व (2) परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा से जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है जेसे अवधि, मन पर्यय व केवल ज्ञान। इन्द्रियों और मन की सहायता से जो

ज्ञान हो वह परोक्ष ज्ञान है जैसे मति व श्रुत ज्ञान। इस रूप मे ज्ञान के पाच भेद हुए।

(1) मतिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य देश मे रही हुई वस्तु को जानने वाला ज्ञान। इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं–(अ) अवग्रह–सामान्य प्रतिभास के बाद होने वाला अवान्तर सत्ता सहित वस्तु का सर्वप्रथम ज्ञान। जैसे दूर से किसी चीज का ज्ञान होना। (ब) ईहा–सर्वप्रथम ज्ञान मे सशय को दूर करते हुए विशेष की जिज्ञासा। दूर से दीखने वाली चीज मनुष्य या पशु ऐसा सशय दूर करके यह जान लेना कि वह मनुष्य होना चाहिये। (स) अवाय–ईहा से जाने हुए पदार्थो मे यह वही है, अन्य नही है। ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान। जैसे यह मनुष्य ही है। (द) धारणा–से जाने हुए पदार्थो के ज्ञान का दृढ हो जाना कि जो विस्मृत न हो।

(2) श्रुतज्ञान–वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय ओर मन के कारण से होने वाला ज्ञान। यह ज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द ओर अर्थ की पर्यालोचना से उत्पन्न होता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर या आख से घडे को देखने पर उसके बनाने वाले का, उसके रग का और इसी प्रकार के उससे सम्बन्धित भिन्न भिन्न विषयो का विचार करना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के दो प्रकार हैं–(1) अगप्रविष्ठ श्रुतज्ञान–जिन आगमो मे गणधरो ने तीर्थकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है उन आगमो को अगप्रविष्ठ श्रुतज्ञान कहते हें। इसमे आचाराग आदि बारह अगो का ज्ञान सम्मिलित है। (2) अगबाह्य श्रुतज्ञान–द्वादशागो के बाहर का शास्त्र ज्ञान बाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

(3) अवधिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, मर्यादा लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान। यह मर्यादा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की होती हे। इसके दो प्रकार हैं–(1) भव–प्रत्यय अवधिज्ञान–जिस अवधिज्ञान के होने मे भव ही कारण हो। जैसे नारकीयो वे देवताओ को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है। (2) क्षयोपशम प्रत्यय अविधज्ञान–ज्ञान, तप आदि कारणो से मनुष्यो और तिर्यचो को जो अवधिज्ञान होता है, वह क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। इसे गुण प्रत्यय या लब्धि–प्रत्यय भी कहते हें।

(4) मन पर्यय ज्ञान–इन्द्रिय ओर मन की सहायता के बिना, मर्यादा को लिये हुए सज्ञी जीवो के मनोगत भावो का ज्ञान। इसके दो प्रकार हे–(1) ऋजुमति मन पयर्य ज्ञान–दूसरे के मन मे सोचे हुए भावो को सामान्य रूप से जानना। जसे अमुक व्यक्ति ने घडा लाने का विचार किया है। (2) विपुल मति

मन पर्यय ज्ञान–दूसरे के मन मे सोचे हुए पदार्थ के विषय मे विशेष रूप से जानना। जैसे अमुक व्यक्ति ने अमुक रग का, अमुक आकार वाला या अमुक समय मे बना घडा लाने का विचार किया है। विचार की विशेष पर्यायो व अवस्थाओ को जानना।

(5) केवलज्ञान–मति आदि ज्ञान की अपेक्षा के बिना, त्रिकाल एव त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् (एक साथ हाथ मे रखे हुए आवले के समान) जानने वाला ज्ञान। केवल ज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होता है।

सम्यक् ज्ञान की महत्ता को हृदयगम करते हुए मैं जानता हू कि पहले ज्ञान और उसके बाद क्रिया। यह आत्मा सुनकर कल्याण का मार्ग जानती है ओर सुनकर ही पाप का मार्ग जानती है, अत साधक का कर्त्तव्य है कि दोनो मार्गों का श्रवण करे और जो श्रेयस्कर प्रतीत हो उस का आचरण करे। जैसे धागा पिरोई हुई सुई कचरे मे पड जाने पर भी गुम नही होती, उसी प्रकार श्रुतज्ञान वाली आत्मा ससार मे रहकर भी आत्म स्वरूप को नही भुलाती है। ज्ञान इस दृष्टि से आत्म विकास का प्रकाश स्तभ होता है।

तत्त्वार्थ श्रद्धान् को सम्यक् दर्शन कहा है जो मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। सम्यक् दर्शन हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप मे परिणत हो जाते हैं। सम्यक् दर्शन हो जाने पर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रयत्न किया जाता है, शरीर को आत्मा से अलग समझा जाता है तथा सासारिक भोगो को दु खमय एव निवृत्ति को सुखमय माना जाता है। सम्यक् दर्शन से आत्मा मे ये गुण प्रकट होते हैं–(1) प्रशम (2) सवेग (3) निर्वेद (4) अनुकम्पा एव (5) आस्तिक्य।

मैं सम्यक् दर्शन की शुभ भावनाओ से जब अभिभूत होता हू तो मेरी आस्था दृढतर बन जाती है कि जिन्होने राग–द्वेष, मद, मोह आदि आत्म शत्रुओ को जीत लिया है, वे वीतराग देव मेरे सुदेव हैं, पांच महाव्रत पालने वाले सच्चे साधु मेरे सुगुरु हैं तथा राग–द्वेष रहित वीतराग देवो द्वारा कथित यथार्थ वस्तु स्वरूपमय धर्म ही मेरा सुधर्म है।

मैं मानता हू कि दृढ विश्वास और श्रद्धा सफलता की कुजीर होती है तथा सभी प्रकार की आधि भौतिक एव आध्यात्मिक सिद्धियो के लिये तो आत्म–विश्वास परमावश्यक है। मोक्ष के लिये भी यह आवश्यक हे कि मोक्ष के उपाय मे दृढ विश्वास हो और यही सम्यक् दर्शन है। विश्वास मे जो व्यक्ति डावाडोल रहता है या हो जाता है, उसकी सफलता भी सदिग्ध बन जाती

है। इसलिये सम्यक दर्शन के पाच दोष बताये गये है–(1) शका–मार्ग मे सन्देह करना, (2) काक्षा–मोक्ष के निश्चित मार्ग को छोडकर दूसरी बातो की इच्छा करने लग जाना, (3) वितिगिच्छा–धर्माराधन के फल मे सन्देह करना, (4) परपाखडप्रशसा–धर्महीन ढोगी (पाखडी) की लोकिक ऋद्धि को देखकर उसकी प्रशसा करना, तथा (5) परपाखडसस्तव–ऐसे ढोगी का परिचय करना तथा उसके पास अधिक उठना–बैठना। सम्यक् दर्शन का अर्थ अन्ध विश्वास मैं कतई नही मानता हू क्योकि अन्ध विश्वास का अर्थ होता है हिताहित, सत्यासत्य अथवा सदोष–निर्दोष का भान नहीं रखना तथा अपने मत का हठ पकडकर बैठ जाना। जबकि सम्यक् दर्शन का अर्थ है कि जो वस्तु स्वरूप सत्य हो, उसी पर दृढ विश्वास करना। मैं सम्यक् दर्शन का श्रद्धान् यही मानता हू कि जीव आदि तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त कर उसका मनन करना, परमार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने वाले महात्माओ की सेवा भक्ति करना तथा सम्यक्त्व से गिरे हुए पुरुषो एव कुदार्शनिको की सगति नही करना। सम्यक्त्व विहीन पुरुष को सम्यक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सम्यक् ज्ञान बिना चारित्र–गुण प्रकट नहीं होते। गुणरहित पुरुष का सर्व कर्म क्षय रूप मोक्ष नहीं होता। यह भी कहा है कि चारित्र भ्रष्ट आत्मा भ्रष्ट नही है, पर दर्शन भ्रष्ट आत्मा ही वास्तव मे भ्रष्ट है। सम्यक् दर्शन धारी आत्मा ससार मे परिभ्रमण नही करती। सम्यक्त्व धारी आत्मा की भावना सम्यक् होती है, इसलिये उसे सम्यक् या असम्यक् कोई भी रूप से ही परिणत होती है।

दर्शन के चार प्रकार बताये गये हैं–(1) चक्षु दर्शन–दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु द्वारा जो पदार्थो के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। (2) अचक्षुदर्शन–अचुक्ष दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय तथा मन से जो पदार्थो के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे अचक्षु दर्शन कहते हैं। (3) अवधि दर्शन–अविध दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के विना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, वह अवधि दर्शन है। तथा (4) केवल दर्शन–केवल दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा द्वारा ससार के सकल पदार्थो का जो सामान्य ज्ञान होता हे उसे केवल दर्शन कहते हैं।

कर्मो का नाश करने की चेष्टा को में चारित्र धर्म कहता हू जिसका कारण भूत मूल गुणो तथा उत्तर गुणो का समूह भी है तो धर्म सम्बन्धित क्रियाए भी। मैं अनुभव करता हू कि आत्म विकास के मार्ग पर चलने वाले

सभी लोग समान शक्ति वाले नही होते। कोई इतना दृढ होता है जो मन, वचन और काया से सब पापो का त्यागकर एक मात्र आत्म विकास को अपना ध्येय बना लेता है। दूसरा कुछ दृढ दुर्बल ऐसा होता है कि सासारिक इच्छाओ को एकदम रोकने का सामर्थ्य नहीं होने से धीरे–धीरे त्याग करता है। इसी तारतम्य के अनुसार चारित्र के दो भेद किये गये हैं–

(1) सर्व विरति चारित्र, अणगार धर्म या साधु धर्म–सर्वविरति रूप धर्म में पच महाव्रत होते हैं तथा तीन करण तीन योग (मन, वचन, काया तीनो से न करना, न करवाना तथा न करने का अनुमोदन करना) से त्याग होता है। साधु सदोष क्रियाओ का सम्पूर्ण रूप से त्याग करता है। पूर्ण होने से ही उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। ये पाच होते हैं।

(2) देशविरति चारित्र, सागार धर्म या श्रावक धर्म–श्रावक द्वारा आगार सहित व्रतो के पालन को देशविरति चारित्र कहते हैं। पूर्ण त्याग का सामर्थ्य न होने पर भी त्याग की भावना होने से श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार मर्यादित त्याग करता है। साधु की अपेक्षा छोटे होने से श्रावक के व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। ये बारह होते हैं।

मेरी मान्यता है कि मूल रूप से विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं जो अन्य जन्म मे ग्रहण किये हुए करम सचय को दूर हटाने के लिये मोक्षाभिलाषी आत्मा को सर्वसावद्य योग से निवृत्त करता है। अन्य अपेक्षा से इसके पाच भेद हैं–

(1) सामायिक चारित्र–आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व निर्जरा से होने वाली आत्म विशुद्धि का प्राप्त होना सामायिक है। सामायिक के क्रियानुष्ठान से आत्मा जन्म मरण के चक्र से होने वाले क्लेश को प्रतिक्षण नाश करती है, चिन्तामणि, कामधेनु एव कल्पवृक्ष के सुखो का तिरस्कार करती है और निरूपम सुख पाती हुई ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की श्रेष्ठ पर्यायो को प्राप्त होती है। सामायिक चारित्र का अर्थ है सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एव निरवद्य व्यापार का सेवन करना। यो तो चारित्र के सभी भेद सावद्य योग विरति रूप हैं और वैसा भेद सामायिक भी है किन्तु जहा दूसरे भेदो के साथ छेद आदि विशलेषण होने से नाम और अर्थ से भिन्न बताये गये हैं, वहा सामायिक सामान्य रूप ही है। सामायिक के दो भेद हैं–(1) इत्वरकालिक सामायिक–अल्प काल की सामायिक जिसमे भविष्य मे दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश हो। पहले और अन्तिम तीर्थकरो के तीर्थ मे जब तक शिष्य मे महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता तब तक उसके

इत्वरकालिक सामायिक होती है। तथा (2) यावत् कथिक- सामायिक- यावज्जीवन की सामायिक जो शेष बावीस तीर्थंकरो के तीर्थ मे होती है, क्योकि इन शिष्यो को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता।

(2) छेदोपस्थापनिक चारित्र—पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं, उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र कहते हैं। इसमे पूर्व पर्याय का छेद एव महाव्रतो मे उपस्थान—आरोपण होता है। यह चारित्र प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरो के तीर्थ मे ही होता है। इसके भी दो भेद कहे गये हैं—(1) निरतिचार छेदोपस्थापनिक—जो इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एव एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ मे जाने वाले साधुओ के व्रतो के आरोपण मे होता हे तथा (2) सातिचार छेदोपस्थापनिक—जो मूल गुणो की घात करने वाले साधुओ के व्रत के आरोपण मे होता है।

(3) परिहार विशुद्धि चारित्र—जिस चारित्र मे परिहार तप विशेष से कर्म निर्जरा रूप शुद्धि होती है। इसमें अनेषणीय आदि का परित्याग विशेष रूप से शुद्ध होता है। स्वय तीर्थंकर भगवान् के सामने पहले जिसने यह चारित्र अगीकार किया हो, उसके पास ही यह प्रकार भी अगीकार किया जाता है। नव साधुओ का गण परिहार तप अगीकार करता हे—इनमे से जो चार तप करते हैं, वे पारिहारिक कहलाते हैं। जो चार वैयावृत्य करते हें, वे अनुपारिहारिक कहलाते हें। परिहार तप का कल्प अट्ठारह मास मे पूर्ण होता है। इस तप के भी दो प्रकार हैं—(1) निर्विश्यमानक परिहार तप—तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमानक कहलाते हें ओर उनका चारित्र निर्विश्यमानक परिहार विशुद्धि चारित्र, एव (2) निर्विष्टकायिक परिहार तप—तप करके वैयावृत्य करने वाले अनुपारिहारिक साधु और तप करने के बाद गुरु पद पर रहा हुआ साधु निर्विष्टकायिक कहलाता है तथा उसका चारित्र निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र।

(4) सूक्ष्म सम्यपराय चारित्र—जिस चारित्र मे सम्पराय (कपाय) सूक्ष्म अर्थात् सज्वलन लोभ का सूक्ष्म अश रहता हे। इसके दो भेद हैं—(1) विशुद्धयमान—क्षपक श्रेणी एव उपशम श्रेणी पर चढने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका चारित्र सूक्ष्म सम्पराय चारित्र शुद्धयमान कहलाता है, तथा (2) सक्लिश्यमान—उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम सक्लेशयुक्त होते हैं इसलिए उन का सूक्ष्म सम्पराय चारित्र सक्लिश्यमान कहलाता हे।

(5) यथाख्यात चारित्र–सर्वथा कषाय का उदय न होने से अतिचार रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र होता है। इसके भी दो भेद हैं–छद्मस्थ यथाख्यात व केवली यथाख्यान इन दोनों के भी दो–दो प्रकार हैं (1) जो चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से प्राप्त होता है वह उपशात छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र होता है। (2) जो चारित्र मोहनीय कर्म की पूर्ण प्रकृतियो के क्षय से प्राप्त होता है साथ ही अप्रतिपाति भी होता है यह केवल ज्ञान के पूर्व की अवस्था होती है।

सयम मे बाधक चारित्र कथा को विकथा कहते हैं। चारित्र विकथा के सात भेद हैं–(1) स्त्री कथा काम विकार को बढाने वाली स्त्रियो से सम्बन्धित चर्चा करना जिसमे प्रशसा और निन्दा दोनो शामिल है। यह जाति कथा, कुल कथा, रूप कथा और और वेशकथा के रूप मे हो सकती है। स्त्री कथा करने व सुनने वालो को मोह की उत्पत्ति होती है और लोक मे भी निन्दा होती है। इससे सूत्र और अर्थ के ज्ञान मे हानि होती है, ब्रह्मचर्य मे दोष लगता है, सयम से पतन होता है तथा साधु वेश मे रहकर अनाचार सेवन करके कुलिगी हो जाता है।

(2) भक्त (भात) कथा–आहार सम्बन्धी चर्चा करने से उसमे गृद्धि होती है और आहार किये बिना ही गृद्धि (आसक्ति) के कारण साधु को दोष लगते हैं। इससे लोकनिन्दा भी होती है कि यह साधु जितेन्द्रिय नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान आदि छोडकर आहार की चर्चा करता है। आसक्ति भाव से उसे षट्जीव निकाय के वध की अनुमोदना भी लगती है और उसका एषणा शुद्धि का विचार भी ढीला होता है। भक्त कथा भी चार प्रकार की होती है–आवाय कथा (भोजन बनाने की विधि की कथा), निर्वाय कथा (अन्न, व्यजन की विविधता की कथा), आरभ कथा (जीव हिसा सम्बन्धी कथा बनाने में) तथा निष्ठान कथा (भोजन मे लागत की कथा रुपयो की)।

(3) देश कथा–देश कथा करने से विशिष्ट देश के प्रति राग या दूसरे देश से अरुचि होती है जो कर्म बध का कारण बनता है। स्वपक्ष व परपक्ष की चर्चा मे वादविवाद से कलह भी खडा हो सकता है तथा कई प्रकार के दोष लग सकते हैं। इसके भी चार भेद हैं–देशविधि कथा (देश विशेष के भोजन, मणि, भूमि आदि की चर्चा) देश विकल्प कथा (देश विशेष में धान्य उत्पत्ति, सिचाई साधन, भवन आदि की चर्चा) देश छद कथा (गम्य, अगम्य विषयक चर्चा) तथा देश नेपथ्य कथा (स्त्री पुरुषो के स्वभाव, शृगार आदि की चर्चा)।

(4) राज कथा–राजा या राज्य से सम्बन्धिक राजनेतिक चर्चा करना। चार प्रकार–अतियान कथा (राजा के नगर प्रवेश व वैभव का वर्णन) निर्याण कथा (नगर से बाहर जाने व ऐश्वर्य का वर्णन) बल वाहन की कथा (राजा की चतुरगिणी सेना, वाहन आदि का वर्णन) तथा कोष और कोठार की कथा (राजा के खजाने और भडार का वर्णन)।

(5) मृदुकारुणिकी–पुत्र आदि के वियोग से दु खी माता आदि के करुण, क्रन्दन की चर्चा।

(6) दर्शनभेदिनी–दर्शन याने सम्यक्त्व मे दोष लगे ऐसी चर्चा करना जैसे ज्ञान आदि की अधिकता के कारण कुतीर्थी की प्रशसा करना।

(7) चारित्रभेदिनी–चारित्र की उपेक्षा या निन्दा करने वाले चर्चा जैसे आज कल साधु महाव्रतो का पालन नहीं कर सकते, साधुओ में प्रमाद बहुत बढ़ गया है आदि।

चारित्र शुद्धि की दृष्टि मे धर्मकथा को ही महत्त्व दिया गया है। यह कथा–चर्चा दान, दया, क्षमा आदि धर्म के अगो का वर्णन करने वाली तथा धर्म की उपादेयता बताने वाली होनी चाहिये। यह चार प्रकार की है–आक्षेपणी (श्रोता को मोह से हटाकर तत्व की ओर आकर्षित करना आचार, व्यवहार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद की अपेक्षा से) विक्षेपणी (श्रोता को कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाना अपने सिद्धान्त के गुणो, स्थापना, अभिप्राय और आस्तिक्य बताकर) सवेगनी (श्रोता मे विपाक की विरसता बताकर वैराग्य उत्पन्न करना इहलोक, परलोक, स्पशरीर ओर पर शरीर के भेदो से) तथा निर्वेदनी (श्रोता मे पाप–पुण्य के शुभाशुभ फल को बताकर ससार से उदासीनता पेदा करना भव भवान्तरो की कर्म फल विचित्रता का वर्णन करके)।

में इससे रत्न त्रय की महत्ता को जानता हू और विचार करता हू इसकी सम्यक् साधना कितनी निष्ठा, वैचारिक, विवेक, सयम तथा तपाराधना से की जानी चाहिये क्योकि इसी का शुभ परिणाम मोक्ष प्राप्ति मे प्रतिफलित होता है।

संसार से मोक्ष कितनी दूर ?

मेंने मोक्ष का स्वरूप जाना है, मोक्ष के राजमार्ग पर आगे बढाने वाली रत्न–त्रय की साधना के स्वरूप को पहिचाना हे और अव मैं सोचता हू कि ससार से मोक्ष की कितनी दूरी है–इसको भी समझ लू। मोक्ष प्राप्ति ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है–इस दृष्टि से यदि मैं मोक्ष की दूरी का अनुमान लगा

लू तो अपनी गति की त्वरितता पर ध्यान द सकूगा।

ससार से मोक्ष की कितनी दूरी हे—यह ज्ञान कोई सख्यात्मक नही हे कि इतने कोस या मील है सो अमुक गति से चलेगे तथा इतने समय मे उसे पार लेगे। वस्तुत यह दूरी गुणात्मक है—पथिक या साधक की स्वय की गुणपूर्ण साधना पर आधारित है। यह गुणों की साधना जब भी परमोत्कृष्ट बन पडेगी, तभी मोक्ष प्राप्त हो जायगा। यो इस आत्मा को ससार के जन्म मरण के चक्र मे भ्रमित होते हुए अनन्त समय हो गया है और साधना की परिपक्वता न बन पडे तो अनन्त समय और निकल सकता है। और यो इस साधना की परमोत्कृष्टता सध जाय तो मोक्ष की दूरी कुछ ही पलो मे दूरी हो सकती है।

इसमे भी मैं एक तथ्य पर और सोचता हू और वह तथ्य यह है कि इस ससार की सभी आत्माए कभी न कभी मोक्ष मे चली जायगी? यदि कभी न कभी सभी आत्माए मोक्षगामी बन जायगी तो क्या ससार का अन्त आ जायगा? आप्त वचनों के अनुसार ऐसा कभी नही होगा। आत्माओ के दो वर्ग माने गये हैं—एक तो भवि आत्माएँ और दूसरी अभवि आत्माएँ। भवि आत्माओ मे तो कभी न कभी मोक्ष पद प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य माना गया है परन्तु अभवि आत्माए कदापि मोक्ष मे नही जायेगी। वे इस दृष्टि से सामर्थ्य हीन आत्माए हैं। जेसे चने भिगाये जाते हैं और काफी समय तक भीगते रहने के बाद भी उनमे जो घोरडू (बिना भीगे चने) रह जाते हैं, वे कितने ही पानी मे कितनी ही देर रख जाय, तब भी भीगते नहीं है, उसी प्रकार अभवि आत्माए धर्म—रस में कभी भी भीगती नहीं है और धर्म रर्स मे भीगती नहीं तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकती नही हैं। इस प्रकार भवि आत्माओ का वर्ग ही मोक्ष प्राप्ति की साधना को सफल बना सकता है और साधना की सफलता उनकी अपनी गुण—विकास शक्ति पर निर्भर करती हे। पर भव्यात्माए भी ससार मे अनन्त होने से अनन्त भव्यात्माओ के मोक्ष जाने पर भी, ससार कभी भी भव्यात्माओं से खाली नही होगा क्योकि अनन्त भी अनन्त प्रकार का होता है, और अनन्त का कभी अन्त नहीं होता।

मैं सोचता हू कि ससार से मोक्ष की दूरी इस रूप में भवि—आत्माए ही पार करती हैं, इसीलिये इन्हे भव्य आत्माए कहा गया हे। किन्तु भव्य और अभव्य आत्माए दोनो गुणो के स्थानो या सोपानो पर चढती—उतरती हैं ओर अपनी भाव—सरणियो की उच्चता एव निम्नता के अनुसार ऊपर नीचे होती रहती हें। कभी कभी तो बहुत ऊचाई तक ऊपर चढकर भी कई आत्माए

ससार–मोह के धक्को में विचलित हो जाती हैं ओर बहुत नीचे तक गिर जाती हैं। विरली भव्य आत्माए ही अपनी सुस्थिर गति से ऊपर तक चढती जाती हें और अन्तगोगत्वा सभी गुण के स्थानो को पार करती हुई मोक्ष के परम पद को प्राप्त कर लेती हैं।

यह सब सोचकर जब मैं ध्यानमग्न होता हू तो मुझे अनुभूति होती है कि में ससार से मोक्ष की इस दूरी को अवश्य ही पार कर सकूगा और वह भी यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र। मेरी यह अनुभूति ही मुझे अपने आत्म गुणो के विकास की सबल प्रेरणा देती है। इसी अनुभूति के प्रभाव से मैं घनान्धकार मे खडा हुआ भी प्रकाश की किरणे देखता हू, प्रकाश पाने के लिये मचलता हू ओर प्रकाश को आत्मसात करने लगता हू। प्रकाश की इस दौड मे मेरे भीतर और बाहर का समूचा वातावरण प्रकाशमय होने लगता है। ज्यो–ज्यो प्रकाश का घनत्व और उसकी तेजस्विता अभिवृद्ध होती हे, त्यो–त्यो मेरी आत्मा ऊर्ध्वगामी बनती है। यह ऊर्ध्वगामिता ही उसका मूल स्वभाव या धर्म होता है, जिसकी प्राप्ति के साथ वह गुणो के सोपानो पर भी ऊपर से ऊपर तक चढती हुई चली जाती है।

मुझे इसी प्रकाश की अपेक्षा है। में अधकार से इसी प्रकार मे आगे से आगे बढते रहने का दृढ इच्छुक हू। मैं अधकार से जागता हू और उससे दूर हटता हू तो सासारिक मोह–व्यामोह से दूर होता हू तथा उसी परिमाण में कर्म बधनों से मोक्ष की दिशा मे आगे बढता हू। इसका अर्थ होता है कि मैं विषय–कषाय की आगे से दूर होता हू और सत्कृत्यो की शीतलता को प्राप्त करता हू। अशान्ति से दूर होता है और शान्ति का रसास्वादन करता हू। दु खों की असह्य वेदना को भूलता हू और आत्म सुख की अनुभूति लेता हू। यही अवस्था गुण–विकास की होती है।

आत्मा के गुण विकास की अवस्थाएं

आत्मा के गुण–विकास की विभिन्न अवस्थाओ का ज्ञान मैं अपने लिये आवश्यक मानता हू, क्योकि यह ज्ञान ही मुझे ससार से मोक्ष तक की दूरी के बीच मे पडने वाले मील के पत्थरो की जानकारी देता हे। वीतराग देवो ने ये मील के पत्थर चौदह की संख्या मे बताये हैं और यह भी बताया है कि किस प्रकार की साधना के बल पर एक मील के पत्थर से दूसरे मील के पत्थर तक पहुचा जा सकता है और अपनी प्रगति की निरन्तरता को कैसे बनाई हुई रखी जा सकती है? साधना की उस उत्कृष्टता का स्वरूप भी समझाया गया है कि जिसकी सफल क्रियान्विति से ऊपर की ऊची चढाई पर पहुच जाने

के बाद पाव फिसल कर नीचे की ढलान पर वापस लुढक जाने से भी बचा जा सकता है। इन ऊर्ध्वगामी सोपानो को गुणस्थान नाम से पुकारा गया है जो चौदह हैं–

गुणस्थानो का द्वारो से विचार

मेरी मान्यता है कि आत्मिक गुणो के इन स्थानों का सभी अपेक्षाओ से विचार किया जाना चाहिये ताकि उनका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो सके। ये सारे गुणस्थान कषाय की तारतम्यता पर प्रमुखत आधारिक हैं अत कषाय के बध, उदय, उदीरणा, सत्ता, स्थिति, क्रिया, निर्जरा आदि का ज्ञान आवश्यक है।

(1) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान–जैसे पीलिये रोग वाले को सफेद रग की वस्तु भी पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि वाली आत्मा वस्तु स्वरूप को विपरीत रूप में देखती है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान की ऐसी विपरीत दृष्टि बनती है। मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव मे देव बुद्धि, कुगुरु मे सुगुरु बुद्धि तथा कुधर्म मे धर्म बुद्धि रखती है। आत्मा की इसी अवस्था को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

आश्रव के पाच भेदो मे पहला मिथ्यात्व है, जो कर्मों के आगमन का मुख्य स्रोत होता है। इस विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यात्व के पाच भेद होते हैं–आभिग्रहिक–सिद्धान्त का पक्षपात पूर्ण मडन व खडन। अनाभिग्रहिक–गुण दोष देखे बिना सब सिद्धान्तो को समान बतलाना। आभिनिवेशिक–अपने पक्ष को असत्य जानते हुए दुराग्रह करना। साशयिक–देव गुरु के स्वरूप मे शका लाना तथा अनाभोगिक इन्द्रिय–विकल जीवो को रहने वाला मिथ्यात्व। यो मिथ्यात्व दस माने गये हैं जो धर्म, मार्ग, जीव, साधु तथा मुक्तात्मा से सम्बन्धित है। यह विपरीत श्रद्धान् आत्मा को गुणों को निकृष्ट स्थान रूप पहले गुणस्थान मे पतित बनाये रखता है।

(2) सास्वादान सम्यक् दृष्टि गुणस्थान–जो आत्मा औपशमिक सम्यक्त्व वाली है किन्तु अनन्तानुबधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड कर मिथ्यात्व की ओर झुकती है, वह आत्मा जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती, तब तक सास्वादान सम्यक् दृष्टि कहलाती है। और उसकी इस प्रकार की अवस्था से इस दूसरे गुणस्थान का नाम और लक्षण है। यद्यपि आत्मा का झुकाव मिथ्यात्व की ओर तथापि खीर खाकर उसका वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव मे आता है, उसी प्रकार वैसी आत्मा को भी कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है।

(3) मिश्र गुणस्थान–मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से जब आत्मा की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या रहती है, तब इस सम्यक मिथ्यादृष्टि गुण स्थान (मिश्र) का अस्तित्व रहता है। इस मे अनन्तानुबधी कषाय का उदय नही रहने से आत्मा मे शुद्धता तो मिथ्यात्व मोहनीय के अर्थ विशुद्ध पुज का उदय हो जाने से अशुद्धता रहती है। जेसे गुड मिले हुए दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, वही अवस्था आत्मा के श्रद्धान् की होती है जो कुछ सच्चा और कुछ मिथ्या होता है। इस कारण से आत्मा वीतराग देवो द्वारा उपदेशित तत्त्वो पर न तो एकान्त रुचि रखती है और न ही एकान्त अरुचि। जेसे नारियल वाले द्वीप के निवासी चावल नहीं जानते सो उसके स्वाद मे न रुचि रखते हे, न अरुचि, वही अवस्था आत्मा की इस गुणस्थान मे वीतराग मार्ग पर होती है। किन्तु यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त ही रहती है, फिर सम्यक्त्व या मिथ्यात्व इन दोनो मे से जिसकी स्थिति प्रबल होती हे उधर आत्मा मुड जाती है। अत इस तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही मानी गई है।

(4) अविरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान–जो आत्मा सम्यक् दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम को धारण नहीं कर सकती है, वह इस गुणस्थान मे रहती है। सावद्य व्यापारो को छोड देना और पापजनक कार्यों से अलग हो जाना–यह विरति कहलाता है और यही चारित्र एव व्रत होता है। इस गुणस्थान में आत्मा अविरति रूप रहती है जिसके सात प्रकार हो सकते हैं–जो लोग व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हें और न पालते हैं ऐसे साधारण लोग जो व्रतो को जानते नही, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं–ऐसे अपने आप निर्णय लेने वाले बाल तपस्वी जो व्रतो को जानते नहीं किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार करके पालते नहीं है–ऐसे ढीले पासत्थे साधु सयम लेकर निभाते नहीं जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है किन्तु उनका स्वीकार और पालन बराबर करते हैं ऐसे अगीतार्थ मुनि जो व्रतो को जानते हुए भी उनका स्वीकार तथा पालन नहीं करते जो व्रतो को जानते हुए भी उनका स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु पालन करते हैं जो व्रतो को जान कर स्वीकार कर लेते हें किन्तु बाद मे उसका पालन नहीं कर सकते। व्रत की सफलता का रहस्य सम्यक् ज्ञान, सम्यग्ग्रहण तथा सम्यक् पालन में निहित होता है–किसी एक की भी कमी से व्रताराधन का पूरा फल नहीं होता है। उपरोक्त सात प्रकार के अविरतो मे से पहले चार अविरत जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योकि व्रतों का यथार्थ ज्ञान ही नही है। पिछले तीन प्रकार के अविरत सम्यक् दृष्टि हैं क्योकि वे व्रतो का यथाविधि ग्रहण या पालन न कर सकने पर भी उन्हे अच्छी तरह जानते हैं। इस गुणस्थान मे कोई औपशमिक सम्यक्त्व वाला होता है

तो कोई क्षायिक सम्यक्त्व वाला। व्रतो के ज्ञान के बावजूद भी पालन आत्मा इसलिये नही करती कि उसमे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता हे और उसके उदय मे रहते चारित्र का ग्रहण और पालन अवरुद्ध रहता है।

(5) देशवरित गुणस्थान–प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो आत्मा पापजनक क्रियाओ से सर्वथा निवृत्त न होकर एक देश से निवृत्त होती है, वह उसका देशविरति अथवा श्रावक व्रत होता है। कोई श्रावक एक व्रत को धारण करता है अथवा एकाधिक व्रत भी अगीकार करता है किन्तु उसका यह त्याग दो करण तीन योग (अनुमोदन का त्याग नही) से होता है। अनुमोदन या अनुमति तीन प्रकार की है–प्रतिसेवानानुमति–अपने या दूसरे के लिये बने हुए भोजन आदि का उपभोग करना। प्रतिश्रवणानुमति–पुत्र आदि किसी सम्बन्धी द्वारा किये गये पाप कर्म को सुनकर भी पुत्र आदि को उस पाप कर्म से नहीं रोकना तथा सवासानुमति–जो श्रावक पाप जनक आरभो मे किसी प्रकार से योग नहीं देता, केवल सवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावको से श्रेष्ठ है।

(6) प्रमत्त सयत गुणस्थान–जो आत्मा पापजनक व्यापारो से सर्वथा निवृत्त हो जाती है वही सयत (मुनि धर्म का पालन करती हुई) होती है। सयत होने पर भी जब तक प्रमाद का सेवन चलता है तब तक वह प्रमत्त सयत कहलाती है और उसका यह छठा गुणस्थान होता है। सयत (मुनि) को सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है–वह सवासानुमति का भी सेवन नहीं करता। इस गुणस्थान से लेकर आगे तक किसी भी गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता।

(7) अप्रमत्त सयत गुणस्थान–जो मुनि निन्द्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादो का सेवन नही करते, वे अप्रमत्त सयत होते हैं और उनका स्वरूप इस गुणस्थान वाला होता है। आत्मा मे अशुद्धि का कारण प्रमाद होता है। और प्रमाद छूटने से आत्मा की विशुद्धि बढने लगती हे। यही कारण है इस सातवे गुणस्थान से आत्मस्वरूप उत्तरोत्तर विशुद्ध होने लगता है तथा इस गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानो मे अवस्थित मुनि–आत्माए प्रमाद का सेवन नही करती। वे मुनि जागृत होते हैं।

(8) निवृत्ति बादर गुणस्थान–जिस आत्मा के अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ चारो निवृत्त हो गये हो उसके स्वरूप विशेष को निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हें। इस गुण स्थान से दो श्रेणिया प्रारभ होती हैं–उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी।

उपशम श्रेणी वाली आत्मा मोहनीय की प्रकृतियो को उपशम करती हुई ग्यारहवे गुणस्थान तक जाती है और क्षपक श्रेणी वाली आत्मा मोहनीय कर्म का क्षपण करती हुई दसवे से सीधी बारहवे गुणस्थान मे जाकर अप्रतिपाती हो जाती है—नीचे नहीं गिरती हे। जो आत्माए इस आठवे गुणस्थान को प्राप्त कर चुकी है, प्राप्त कर रही हे ओर जो प्राप्त करेगी, उन सबके अध्यवसाय स्थानो की सख्या असख्यात लोकाकाशों के प्रदेशो के बराबर हे। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। जितनी आत्माए और जितने समय, उतने ही अध्यवसायो के प्रकार। अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाओ से पर–पर समय के अध्यवसाय भिन्न–भिन्न समझने चाहिये तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायो की अपेक्षा पर–पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुना विशुद्ध समझने चाहिये। आठवें गुणस्थान के समय जीव पाच वस्तुओ का विधान करता है–स्थिति घात–जो कर्म दलिक आगे उदय मे आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने–अपने उदय के नियत समयो से हटा देना रस घात–बधे हुए ज्ञानादि कर्मों के प्रचुर रस को अपवर्तना करण के द्वारा मन्द कर देना। गुणश्रेणी–जिन कर्म दलिकों का स्थितिघात किया जाता है उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना। गुण सक्रमण–जिन शुभ कर्म प्रकृतियो का बध अभी हो रहा हे उनमे पहले बधी हुई अशुभ प्रकृतियो का सक्रमण कर देना। अपूर्व स्थिति बध–पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मो का बाधना। जैसे राज्य पाने की योग्यता मात्र से राजकुमार राजा कहा जाता है, वैसे ही आठवे गुणस्थान में रही हुई आत्मा चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशयक या क्षपक कहलाती है। चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ तो नवें गुणस्थान मे ही होता हे, आठवे गुणस्थान मे तो केवल उसकी योग्यता होती है।

(9) अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान–केवल सज्वलन क्रोध, मान, माया रूप कषाय से जिस आत्मा की निवृत्ति नहीं हुई हो, वैसी आत्मा की उस अवस्था विशेष को अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय स्थान इस गुणस्थान में माने जाते हैं क्योकि इसमें जितने जीव समसमयवर्ती रहते हैं उन सबके अध्यवसाय एक समान शुद्धि वाले होते हैं। इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर उत्तर समय के अध्यवसाय स्थान को अनन्तगुना विशुद्ध समझना चाहिये। आठवे गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान की यही

विशेषता है कि उस गुणस्थान में तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असख्यात वर्गों मे विभाजित किये जा सकते हैं जबकि इनमे समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवो के अध्यवसायो का समान बुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। कषाय सक्लेश की कमी के साथ साथ परिणामो की शुद्धि बढती जाती है। इस गुणस्थान मे विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायो की भिन्नता आठवे गुण स्थान की भिन्नताओ से बहुत कम हो जाती है। दसवे गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान मे स्थूल कषाय उदय मे आता है तथा नवे गुणस्थान के समसमयवर्ती जीवो के परिणामो मे निवृत्ति नही होती। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली आत्माए दो प्रकार की होती हैं–एक उपशमक और दूसरी क्षपक। चारित्र मोहनीय कर्म को उपशम करने वाली उपशमक तथा उस का क्षय करने वाली क्षपक।

(10) सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान–इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खडो का ही उदय रहता है और आत्माए भी उपशमक और क्षपक दोनो प्रकार की होती हैं। सज्वलन लोभ कषाय के सिवाय अन्य कषायो का उपशम या क्षय तो पहले ही हो जाता है, अत इस गुणस्थान में आत्मा लोभ कषाय का उपशम या क्षय करती है और इसी दृष्टि से वे उपशमक या क्षपक कहलाती है।

(11) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान–जिनकी कषाय उपशान्त हो गई हैं, जिनको राग अर्थात् माया और लोभ का भी बिल्कुल उदय नहीं है और जिनको छद्म (आवरण भूत घाती कर्म) लगे हुए हैं, वे आत्माए उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाती हैं और उनका गुणस्थान यह ग्यारहवा गुणस्थान होता है जिसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी गई है। इस गुणस्थान मे वर्तमान आत्मा आगे के गुणस्थानो को प्राप्त करने मे समर्थ नहीं होती हैं, क्योकि जो आत्मा क्षपक श्रेणी पूर्ण करती है, वही आगे के गुणस्थान मे जा सकती है। इस गुणस्थान वाली आत्मा नियम से उपशम श्रेणी वाली ही होती है, अत वह इस गुणस्थान से पतित हो जाती है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण होने से पहिले ही जो आत्मा आयुष्य के क्षय होने से काल कर जाती है, वह अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होती है। उस समय वह ग्यारहवे गुणस्थान से गिर कर चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर लेती है क्योकि अनुत्तर विमानवासी देवों मे चौथा गुणस्थान ही होता है। वहा वह आत्मा उस गुणस्थान की उदय–उदीरणा

आदि शुरू कर देती हे। किन्तु जिस आत्मा के आयुष्य के शेष रहते इस गुणस्थान का समय पूरा हो जाता हे वह आरोह क्रम से गिरती हे। अर्थात इस गुणस्थान तक चढते समय उस आत्मा ने जिन–जिन गुणस्थानो को जिस क्रम से प्राप्त किया था या जिन कर्म प्रकृतियो का जिस क्रम से उपशम करके वह ऊपर चढी थी, वे सब प्रकृतिया उसी क्रम से उदय मे आती हें। इस प्रकार गिरने वाली कोई आत्मा बीच के गुण स्थानो मे रुक सकती है। तो कोई–कोई पहले गुणस्थान तक गिर जाती है। क्षपक श्रेणी के बिना कोई आत्मा मोक्ष मे नही पहुच सकती हे ओर इस गुणस्थान मे उपशम श्रेणी वाली आत्मा ही आती है, इस कारण वह अवश्य गिरती हे। एक जन्म मे दो बार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती हे और क्षपक श्रेणी तो एक बार ही होती हे। जिस आत्मा ने एक बार उपशम श्रेणी की हे, वह उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती हे किन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुकी है, वह फिर उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नही कर सकती। अन्य सिद्धान्त के अनुसार एक जन्म मे एक ही श्रेणी की जा सकती है इसलिये जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह फिर उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नही कर सकती। उपशम श्रेणी के आरभ का क्रम इस प्रकार हे–चौथे, पाचवे, छठे और सातवे गुणस्थान मे से किसी भी गुणस्थान मे वर्तमान आत्मा पहले अनतानुबधी कषायो का उपशम करती है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त मे एक साथ दर्शन मोहनीय कर्म की तीनो प्रकृतियो का उपशम करती है तदनन्तर वह छठे सातवे मे सैंकडो बार आती जाती है, फिर आठवे गुणस्थान मे होकर नवे गुणस्थान को प्राप्त करती है और नवे गुणस्थान मे चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियो की उपशम शुरू करती है। सबसे पहले पह नपुसक वेद का उपशम करती है, फिर स्त्री वेद का। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोम तथा सज्वलन के क्रोध, मान और माया–इन सब प्रकृतियों का उपशम वह नवे गुणस्थान के अन्त तक करती है। सज्वलन लोभ का उपशम वह दसवे गुणस्थान में करती है।

(12) क्षीणकषायछद्मस्थ वीतराग गुणस्थान–जो आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देती है किन्तु शेष तीनो घाती कर्म अभी विद्यमान हैं उसे क्षीण कषाय छद्मस्थ वीतराग कहते हैं और उस आत्मा का गुणस्थान यह बारहवा होता है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और इसमे क्षपक श्रेणी वाली आत्माए ही आ सकती हैं। क्षपक श्रेणी का कर्म इस प्रकार है–जो आत्मा क्षपक श्रेणी वाली होती है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवे

गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे सबसे पहिले अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया ओर लोभ का एक साथ क्षय करती है। उसके बाद वह अनन्तानुबधी कषाय के शेष अनन्तवे भाग को मिथ्यात्व मे डाल कर दोनो का एक साथ क्षय करती हे। आठवे गुणस्थान मे वह अप्रत्याख्यानावरण ओर प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय प्रारभ करती है। इन आठ प्रकृतियो का सर्वथा क्षय होने से पहिले ही नवे गुणारस्थान को प्रारभ कर देती हे और उसी समय इन सोलह प्रकृतियो का क्षय कर देती है–निद्रा, निन्द्रा प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरक गति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म, आतप, उधोत, स्थावर, सूक्ष्म तथा साधारण। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के अवशिष्ट भाग का क्षय करती है। फिर क्रमश नपुसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य, आदि छ, पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान ओर माया का क्षय करती है और सज्वलन लोभ का क्षय वह दसवे गुणस्थान मे करती है।

(13) सयोगी केवली गुणस्थान–जिन आत्माओ ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय ओर अन्तराय रूप चार घाती कर्मो का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त किया है, वे सयोगी केवली कहलाती हैं और उनकी इस अवस्था विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। योग का अर्थ होता है आत्मा की प्रवृति या व्यापार जिसके तीन साधन हैं, इस कारण तदनुसार योग के भी तीन भेद हें–मनोयोग, वचन योग तथा काया योग। किसी को मन से उत्तर देने मे केवली भगवान् को मन का उपयोग करना पडता है। जिस समय कोई मन पर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली को शब्द द्वारा कोई प्रश्न न पूछकर मन से ही पूछता है, उस समय केवली भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करने वाला उस उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप मे परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओ को देखकर ज्ञात कर लेता है। उपदेश देने के लिये केवली वचन का उपयोग करते हैं। हलन चलन आदि की क्रियाओ मे वे काय–योग का उपयोग करते हैं।

(14) अयोगी केवली गुणस्थान–जो केवली भगवान् योगो से रहित हैं, वे अयोगी केवली कहे जाते हैं। उनकी इस अवस्था एव स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। तीनो प्रकार के योगो का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती हें। केवली भगवान् सयोगी अवस्था मे जघन्य

आदि शुरू कर देती है। किन्तु जिस आत्मा के आयुष्य के शेष रहते इस गुणस्थान का समय पूरा हो जाता है वह आरोह क्रम से गिरती है। अर्थात् इस गुणस्थान तक चढते समय उस आत्मा ने जिन-जिन गुणस्थानो को जिस क्रम से प्राप्त किया था या जिन कर्म प्रकृतियो का जिस क्रम से उपशम करके वह ऊपर चढी थी, वे सब प्रकृतिया उसी क्रम से उदय मे आती हैं। इस प्रकार गिरने वाली कोई आत्मा बीच के गुण स्थानो मे रुक सकती है। तो कोई-कोई पहले गुणस्थान तक गिर जाती है। क्षपक श्रेणी के बिना कोई आत्मा मोक्ष मे नहीं पहुच सकती है ओर इस गुणस्थान मे उपशम श्रेणी वाली आत्मा ही आती है, इस कारण वह अवश्य गिरती है। एक जन्म में दो बार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती है ओर क्षपक श्रेणी तो एक बार ही होती है। जिस आत्मा ने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है किन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुकी है, वह फिर उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नहीं कर सकती। अन्य सिद्धान्त के अनुसार एक जन्म मे एक ही श्रेणी की जा सकती है इसलिये जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह फिर उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नहीं कर सकती। उपशम श्रेणी के आरम्भ का क्रम इस प्रकार है-चौथे, पाचवे, छठे और सातवे गुणस्थान मे से किसी भी गुणस्थान मे वर्तमान आत्मा पहले अनतानुबधी कषायो का उपशम करती है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त मे एक साथ दर्शन मोहनीय कर्म की तीनो प्रकृतियो का उपशम करती है तदनन्तर वह छठे सातवे मे सैंकडो बार आती जाती है, फिर आठवे गुणस्थान मे होकर नवे गुणस्थान को प्राप्त करती है और नवे गुणस्थान मे चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियो की उपशम शुरू करती है। सबसे पहले पह नपुसक वेद का उपशम करती है, फिर स्त्री वेद का। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानावरण ओर प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सज्वलन के क्रोध, मान ओर माया-इन सब प्रकृतियो का उपशम वह नवे गुणस्थान के अन्त तक करती है। सज्वलन लोभ का उपशम वह दसवे गुणस्थान मे करती है।

(12) क्षीणकषायछद्मस्थ वीतराग गुणस्थान-जो आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देती है किन्तु शेष तीनो घाती कर्म अभी विद्यमान हैं उसे क्षीण कषाय छद्मस्थ वीतराग कहते हैं और उस आत्मा का गुणस्थान यह बारहवा होता है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ओर इसमे क्षपक श्रेणी वाली आत्माए ही आ सकती हैं। क्षपक श्रेणी का कर्म इस प्रकार है-जो आत्मा क्षपक श्रेणी वाली होती है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवे

गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे सबसे पहिले अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ क्षय करती है। उसके बाद वह अनन्तानुबधी कषाय के शेष अनन्तवे भाग को मिथ्यात्व मे डाल कर दोनो का एक साथ क्षय करती है। आठवे गुणस्थान मे वह अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय प्रारभ करती है। इन आठ प्रकृतियो का सर्वथा क्षय होने से पहिले ही नवे गुणारथान को प्रारभ कर देती है और उसी समय इन सोलह प्रकृतियो का क्षय कर देती है–निद्रा, निन्द्रा प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरक गति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंच गति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म, आतप, उधोत, स्थावर, सूक्ष्म तथा साधारण। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोम के अवशिष्ट भाग का क्षय करती है। फिर क्रमश नपुसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य, आदि छ, पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय करती है और सज्वलन लोभ का क्षय वह दसवे गुणस्थान मे करती है।

(13) सयोगी केवली गुणस्थान–जिन आत्माओ ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार घाती कर्मो का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त किया है, वे सयोगी केवली कहलाती हैं और उनकी इस अवस्था विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। योग का अर्थ होता है आत्मा की प्रवृति या व्यापार जिसके तीन साधन हैं, इस कारण तदनुसार योग के भी तीन भेद हैं–मनोयोग, वचन योग तथा काया योग। किसी को मन से उत्तर देने मे केवली भगवान् को मन का उपयोग करना पडता है। जिस समय कोई मन पर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली को शब्द द्वारा कोई प्रश्न न पूछकर मन से ही पूछता है, उस समय केवली भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करने वाला उस उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप मे परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओ को देखकर ज्ञात कर लेता है। उपदेश देने के लिये केवली वचन का उपयोग करते हैं। हलन चलन आदि की क्रियाओ मे वे काय–योग का उपयोग करते हैं।

(14) अयोगी केवली गुणस्थान–जो केवली भगवान् योगो से रहित हैं, वे अयोगी केवली कहे जाते हैं। उनकी इस अवस्था एव स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। तीनो प्रकार के योगो का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती हैं। केवली भगवान् सयोगी अवस्था मे जघन्य

अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड पूर्व तक रहते हे। इसके बाद जिस केवली के आयुकर्म की स्थिति ओर प्रदेश कम रह जाते हें तथा वेदनीय, नाम ओर गौत्र कर्म की स्थिति और प्रदेश आयुकर्म की अपेक्षा अधिक बच जाते हैं, वे समुद्घात करते हें, जिसके द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र की स्थिति आयु के समान कर ली जाती है। जिन केवली आत्माओ के वेदनीय आदि उक्त तीनो कर्मो की स्थिति तथा प्रदेशो मे आयुकर्म की समानता होती है, उन्हे समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं है, इसलिये वे समुद्घात नहीं करती। सभी केवल ज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त मे एक ऐसे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं, जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता हे। योगो के निरोध का क्रम इस प्रकार है–पहले बादर (स्थूल) काय योग से बादर मनोयोग तथा बादर वचन योग को रोकते हैं। बाद मे सूक्ष्म काय योग से बादर कामयोग को रोकते हें और फिर उसी सूक्ष्म कामयोग से क्रमश सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचन योग को रोकते हैं। अन्त मे सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान के बल से सूक्ष्म काय योग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार सब योगो का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी अयोगी बन जाते हैं और सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतर पोले भाग याने मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। इसके बाद अयोगी केवली समुछिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पाच ह्रस्व अक्षरो (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उतने समय का 'शैलेशीकरण' करते हैं। सुमेरू पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व सवर रूप योग निरोध अवस्था की 'शैलेशी' अवस्था कहते हैं। इस अवस्था मे वेदनीय, नाम ओर गौत्र कर्म की गुण श्रेणी से और आयु कर्म की यथास्थिति श्रेणी से निर्जरा करना शैलेशीकरण है। इसको प्राप्त करके वे चार अघाती व भवोपग्राही या आत्मा को ससार मे बाध कर रखने वाले कर्मो का भी सर्वथा क्षय कर देते हें। इस गुणस्थान मे आत्म प्रदेश इतने घनीभूत हो जाते हैं कि वे उनके शरीर के दो तिहाई भाग मे ही समा जाते हैं। उक्त कर्मो का क्षय होते ही वे उसी एक समय मे ऋजगति से ऊपर की ओर सिद्ध क्षेत्र मे चले जाते हें। वे अटल अवगाहना रूप से लोकाग्र मे स्थिर हो जाते हैं। उसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती है क्योकि आगे गति मे सहायक धर्मास्तिकाय नहीं होती। कर्म मल के पूर्णत हट जाने पर शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व गति इस बिन्दु पर आकर अवस्थित हो जाती है।

समत्व योग की अवाप्ति

मेरा चिन्तन अतीव गूढ और गभीर हो जाता हे जब मैं आत्म स्वरूप के इन चौदह गुणस्थानो की सूक्ष्मताओ पर बहुत गहराई से विचार करता हू, क्योकि यह मुझे ही निश्चित करना होता है कि मैं किस गुणस्थान मे वर्तता रहता हू। गुणस्थानों मे ऊपर चढना या नीचे गिरना मेरी अपनी भाव श्रेणियो की उच्चता या निम्नता पर अवलम्बित रहता है। अत मैं ही अपनी भाव श्रेणी को परखू, उसकी अशुभता मिटाता रहू और ऊपर चढता रहू—यह मेरा ही पुरुषार्थ होता है।

यह मैं जान गया हू कि मेरा ही सम्यक् ज्ञान और मेरी ही सम्यक् आस्था मुझे मेरे सम्यक् चारित्र मे मेरी आत्मा को अवस्थित बनायगी और इस अवस्था को ज्यो–ज्यो मैं ऊर्ध्वगामी बनाता रहूगा, मेरा समत्व योग भी समुन्नत बनता रहेगा। तो मैं समत्व योग की अवाप्ति करलू—यह पूरी तरह से मेरे ही ऊपर निर्भर है। इसलिये मुझे अपने दायित्व को समझ कर दृढ सक्लप करना होगा कि मैं अपनी विषय वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के मूल कारणो को समझू, उन्हें अपनी शुभता व सयमितता से दूर हटाऊ एव अपने आत्मोत्थान की बागडोर अपने हाथ मे मजबूती से सम्हाल लू। विषमता जितने अशो मे मिटती जायगी, उतने अशो में मैं समता की अवाप्ति करता जाऊगा।

मैं अपने ध्यान मे लू कि मेरी सम्पूर्ण विषमता किस प्रकार के काले विचारो से रगी हुई है? मैं इसके मूल मे पाच कारण देखता हू—ये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व सबसे घटाटोप अधकार की अवस्था होती है क्योकि वहा आचरण और आस्था की बात तो दूर—सम्यक् ज्ञान के अस्तित्व की ही स्थिति नही होती है। अत तब सर्वथा विषमता का ही साम्राज्य होता है। इस कारण मैं सबसे पहले इस घटाटोप अधकार मे सम्यक्त्व की प्रकाश किरणे खोजू और उस दिशा मे आगे बढते हुए मिथ्यात्व को अटवीं को पार करू। मैं प्रतिक्षण जागृत भी रहू कि मेरे कदम कहीं भी पीछे नही हटें क्योकि बार बार ऐसे अवसर आवेगे जब मेरा ही मन और मेरी ही इन्द्रियॉ सासारिकता के मोह मे उलझ कर मुझे बलात् पीछे धकेले। मुझे उनका निरोध करना होगा जिसके लिये मेरी अपनी सकल्प शक्ति सुदृढ बननी चाहिये। उद्दड सेवको को जिस प्राभाविकता एव कुशलता से अपने नियत्रण मे रखना होता है, अपनी आत्मा के इन सेवको को वश मे रखने के लिये उससे भी अधिक एकाग्र प्राभाविकता एव सतत जागृत कुशलता की आवश्यकता होगी।

जब मै विषमता के इस पहले कारण को कमजोर बना दूगा तो मेरे समक्ष प्रकाश फैलता जायगा और उस प्रकाश मे मेरा आत्म विकास का भगीरथ कार्य भी सरल होता जायगा, क्योकि मैं अपनी आन्तरिकता का दृष्टा बन जाऊगा और आन्तरिकता को विकृत बनाने वाले विषम तत्त्वो को स्पष्टत देख पाऊगा। अधेरे मे कोई भी शत्रु कहीं भी वार कर सकता है और उसका प्रतिकार कठिन हो जाता हे लेकिन सम्यक्त्व का प्रकाश मेरा सबसे बडा सहायक हो जायगा और इसी प्रकाश मे मैं अविरति के कारण को दूर करूगा। मैं जान जाऊगा कि कोरा ज्ञान पगु होता है और बिना आस्था के वह अज्ञान ही होता है अत आचरण के धरातल पर मेरे चरण जब चलेगे तो मेरा आस्थामय ज्ञान अपनी सार्थकता ग्रहण करेगा। आचरण का पहला चरण होता है व्रताराधन याने त्याग का शुभ श्री गणेश। अविरति की अवस्था टूटेगी और मे व्रतो की उच्चतर श्रेणियो पर चढता रहूगा। देश विरति याने आशिक सयम से मैं सर्वविरति अर्थात् साधु जीवन मे प्रवेश करूगा और व्रतो की कठोर आराधना करूगा।

व्रतो की कठोर आराधना से मेरा प्रमाद टूटेगा। यह प्रमाद अपनी जडे जमाता हे सासारिक काम भोगो की वासनाओ की भूमि पर, अत मैं इस भूमि को ही खोदने लगूगा। यह भूमि मेरी आत्मा के सिवाय अन्य भूमि नहीं है। मैं मेरे सकल्पो–विकल्पो मे से विषयेच्छाओ का अन्त करता चलूगा। मैं अपने मन और अपनी इन्द्रियो को काम भोगो को रास्ते से पूरी तरह हटा लूगा तो फिर प्रमाद किस बात का रहेगा? मैं इस आप्तवचन को सदा स्मृति मे रखूगा कि एक समय (काल का सबसे छोटा भाग) के लिये भी प्रमाद नहीं किया जाय, क्योकि प्रमाद ही पाप के रास्ते पर ढकेलता है। प्रमाद के घटते रहने से मेरी आत्मजागृति निरन्तर बनी रह सकेगी। तभी मुझे अनुभूति होगी कि मुनि किस प्रकार सोते हुए भी जागृत रहते हैं ?

मे मानता हू कि कषाय समाप्ति का काम सबसे ज्यादा कठिन होता है और इसी विचार से कहा गया है कि कषाय से मुक्ति ही वास्तव मे मुक्ति होती हे। मुझे इस तथ्य का भलीभाति ज्ञान हो गया हे कि यह कषाय आत्म–स्वरूप का पल्ला बडी मुश्किल से छोडती है कषाय के चारो विकारी तत्त्वो का प्रहार बडा घातक होता हे। क्रोध, मान, माया और लोभ–साधु अवस्था मे भी पीछे पडे रहते हैं। बार बार नियन्त्रित करते रहने पर भी ये फिर फिर भडक उठते हैं और आत्म स्वरूप पर कालिख का लेप कर देते हैं। सासारिक क्षेत्रो मे तो इनका रूप विकराल बना ही रहता है, लेकिन धार्मिक

क्षेत्र मे भी यदि इनके रूप को गहराई से समझ कर इन पर अकुश लगाया हुआ न रखा जाय तो ये पलो मे सयमी जीवन की अमूल्य उपलब्धियो को नष्ट–भ्रष्ट कर देते हैं। कठिन तप का आराधक तपस्वी भी क्रोध के चक्कर मे आ जाता है तो सयम से प्रदीप्त साधु भी मान की मार खा जाता है। चाहे धार्मिक अनुष्ठानो पर ही आचरण किया जा रहा हो, माया से अपना वर्चस्व दिखाने की दुर्भावना जाग उठती है तो लोभ आत्मोत्थान की कई सीढियो तक प्रहार कर सकता है। इस दृष्टि से मैं अपने आपको पूर्ण सजग बनाता हू और इस प्रहारक कषाय को दूर करने मे सन्नद्ध रहना चाहता हू।

यही सावधानी मैं अपने योगो के प्रति भी कायम करना चाहता हू। ये योग हैं, मेरे अपने मन के विचार, मेरे अपने वचन और मेरे अपने कार्य–ये तीनो मन, वचन और काया इन योगो के माध्यम हैं। जो कुछ भी मैं सोचता हू तो वैसा ही बोलता हू और वैसे ही कार्य करता हू। मन, वाणी और कर्म मे ही मेरे आत्म स्वरूप की झलक देखी जा सकती है। ये योग ही अशुभ बने रहकर मुझे नीचे गिराते हैं तो ये योग ही शुभता धारण करके मुझे ऊपर चढाते हैं, योगो की अशुद्धता और शुद्धता पल पल आत्मा के पलडो को ऊचा नीचा करती रहती है जिसके कारण इनके प्रति सावधानी परम आवश्यक है कि ये योग एक ही ऊर्ध्वगामी दिशा की ओर प्रवाहित हो। यह तभी सभव हो सकता है जब मेरी आत्मा अपनी नियत्रण शक्ति को स्वकेन्द्रित बना ले।

मुझे यदि साम्य योग की सम्पूर्णत अवाप्ति करनी है तो वीतराग देवो द्वारा उपदेशित सयम और तप के मार्ग पर अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करना होगा तथा उनकी आज्ञा मे रहकर विषमता के इन पाचो कारणो को घटाना और मिटाना होगा। इस समग्र कारण–निवारण की एक ही रामबाण औषधि है कि मैं अपने मन को वश मे करू–मन गतिशील अवश्य रहे ओर वह गतिशील रहेगा लेकिन उसकी गति सासारिक विषयो मे न रहकर आत्म विकास की ऊचाइयो की ओर मुड जाय। मुझे अपने सारे पुरुषार्थ का प्रयोग यो समझिये कि इस एकाकी बिन्दु पर लगाना है। इस बिन्दु पर यदि मेरी एकाग्रता जम जाती हे तो मे मान सकता हू कि मेरी सफलता की जड भी जम जाती है। कारण मन का नियत्रण ही वचन ओर काया के नियत्रण मे आसानी से ढल जाता है।

अब मेरी धारणा स्पष्ट हो जाती है कि मन को वश मे करके मुझे क्या करना है? इसी सदर्भ मे मैं जान जाता हू कि आत्म विकास के कई सोपान साथ लेने पर भी जरा–सी असावधानी किस प्रकार आत्मा को नीचे गिरा देती

हें? मैं समझ पाता हू कि गुणस्थानो मे उन्नति करना एक प्रकार से तलहटी से पर्वत के शिखर पर चढना हे और गुणस्थान रूपी या मानिये कि सोपान (सीढियॉ) लगे हुए हें। तलहटी है केश्यात्व की–निर्गुणी आत्मा की, कठिन विषमता के अधकार की। पहले सोपान ऐसे आते हैं कि आत्मा का इन पर उतार–चढाव बहुत होता रहता है क्योकि मन को वश में करने का अभ्यास आत्मा आरम ही करती है। उस आरभिक अवस्था मे कभी आत्मा मन को वश मे करके ऊपर चढती है तो कभी मन उद्दड बन कर उससे दूर छिटक जाता है और उसको नीचे गिरा देता है। अभ्यास की परिपक्वता के साथ ही इस अवस्था मे सुधार होने लगता हे जबकि मन का खतरा कई सोपानो की चढाई तक बराबर बना रहता है। अत मन को विशिष्ट आत्मिक प्रामाविकता के साथ विषमता निवारण के काम मे लगाये रहना चाहिये।

मैं यह मानकर चलता हू कि मन जैसा कर्मठ माध्यम भी दूसरा नही होता है। यदि वह किसी कार्य मे पागल बन कर लग जाए तो सफलता साधकर ही चेन लेता है। उसका अर्थ है कि मेरी आत्मा अपने साध्य के प्रति सर्वथा एकनिष्ठ बन जाय और उसी निष्ठा के साथ अपने मन को जोड ले तो मैं अपने पुरुषार्थ को सफल बना सकता हू।

योग शुद्धि और कषाय मुक्ति–यह अन्तिम लक्ष्य बन जाना चाहिये। यह शुद्धि और शुमता क्रमिक अभ्यास के साथ ही प्राप्त हो सकेगी। अशुभता से शुमता के इस क्रम को भी मुझे समझ लेना चाहिये। जैसे किसी के व्यवहार का यह रूप हो सकता है कि वह सबके साथ अपकार करता है–यहाँ तक कि अपना उपकार करने वाले के साथ भी वह अपकार करने से नहीं चूकता। वह कुछ सुधरे तो यह कर ले कि औरो के साथ अपकार करे, किन्तु अपना उपकार करने वाले के साथ तो अपकार न करे। अगला सशोधन यह हो सकता है कि वह किसी का अपकार न करे चाहे किसी का उपकार करे या नहीं करे। उसकी योग शुद्धि अधिक बढे तो वह सबका उपकार करने का व्रत ले सकता है कि वह किसी का अपकार कतई नहीं करेगा। अन्ततोगत्वा वह उस स्तर तक पहुच सकता है कि उसे अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करके हर्ष होगा। यह अशुमता से शुमता का क्रमिक विकास कहा जा सकता है जो योग शुद्धि की तरतमता के अनुसार लम्बे अभ्यास से या अल्पावधि मे ही साधा जा सकता है। कषाय मुक्ति का क्रम तो इससे भी कठिन होता है कि यह आत्म विजय की समस्या होती है। यह भीतर का युद्ध बाहर के युद्ध से अत्यधिक जटिल एव दुष्कर होता है।

मैं देखता हू कि एक प्रकार से इसी युद्ध का चित्र खींचते हैं चौदह प्रकार के गुणस्थान कि किस प्रकार एक साधक आत्मयोद्धा बन अपनी आन्तरिकता के शत्रुओ से जूझता है, गिरता है, बढता है और चढता है? मिथ्यात्व को पछाड कर एक बार साधक ऊपर चढने लगता है तो वह सम्यक्त्व का वरण करता है, व्रतो को ग्रहण करता है, श्रावक धर्म अगीकार कर लेता है और अप्रमत्त सयत अवस्था तक पहुच जाता है, किन्तु तनिक–सी असावधानी, तनिक–सी कषाय वृद्धि और तनिक सी मोहविष्टता उसे वहा से गिराती है तो उसे नीचे से नीचे लुढकाती हुई मिथ्यात्व के घटाटोप अधकार मे पटक देती है। यदि वही अप्रमत्त सयती सतत जागृत रहता है और योग शुद्धि व कषाय मुक्ति के पथ पर अविचल गति से आगे बढता रहता है तो वह कषाय के तीनो प्रकारो अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, और लोभ से निवृत्ति ले लेता है। उस समय सिर्फ सज्वलन कषाय से निवृत्ति लेनी शेष रहती है। साधना को उच्चता देते हुए वह अपनी कषाय को अति सूक्ष्य कर लेता है कि मात्र सज्वलन लोभ के सूक्ष्म खड ही बचे रहते हैं। वहा से वह और ऊपर के सोपान पर चढ जाता है, जहा कषाय उपशान्त हो जाती है और छद्मस्थ वीतरागता मिल जाती है। इस बिन्दु पर भी कषाय और योगो का ऐसा उद्वेग आ सकता है कि वह वहा से गिरे तो उसने नीचे की सीढी पर और गिरता चला जाय तो ठेठ नीचे तलहटी मे पहुच जाता है। किन्तु यही बिन्दु, ऐसा होता है कि जहा से ऊपर के सोपान की ओर दृढता से पाव बढ गये तो वे क्षीण–कषाय वीतरागता व सयोगी केवली के उच्चस्थ स्थानो तक निश्चय रूप से पहुचा देते हैं। यही नहीं, अयोगी केवली बनकर वैसे साधक का मुक्तिगामी हो जाना भी सुनिश्चित हो जाता है।

मेरा आशय यह है कि आत्म विकास के क्रम में ज्यो–ज्यो ऊचाई प्राप्त होती जाय, त्यो–त्यो सावधानी अधिकाधिक बढती रहनी चाहिये। इस का यही भी अर्थ मान लिया जाय कि जहा सयम के प्रभाव से आते हुए कर्मो को रोकने मे सफलता पाई जाय, वहॉ तपाराधन की उग्रता से सचित कर्मो की निर्जरा भी की जाती रहे। गुणस्थान–सिद्धान्त का यही सकेत है कि योग शुद्धि और कषाय मुक्ति का साधनाक्रम इतना परिपुष्ट तथा परिवक्व बनता जाय कि ये सासारिक विकार किसी भी स्तर पर आत्म स्वरूप पर आक्रमण करके सम्पादित उच्चता को व्यर्थ न कर सके।

मैं इस साधना को ही विषमता के विरुद्ध युद्ध कहता हू। विषमता पहले मन मे उपजती है तभी वचन से बाहर निकलती है और कार्य से विस्तार

पाती हे। एक व्यक्ति इस प्रकार विषमता उगलता हे जिसकी क्रिया प्रतिक्रिया की शृखला बन जाती हे और यही शृखला सामाजिक अथवा राष्ट्रीय विषमता का भयानक रूप ले लेती हे। तव यह विपमता व्यक्ति के व्यक्तिगत ओर सामाजिक व्यवहार मे इस तरह घुलमिल जाती हे कि मनुष्य अपनी मनुष्यता को ही भुला बैठता है। तब वह अपने सामने रख लेता है मात्र अपने ही स्वार्थो को और उनको येन–केन प्रकारेण पूरे कर लेने के लिये वह पागल हो जाता है। यह पागलपन जितना फैलता है–पशुता फैलती है, राक्षसी वृत्ति फैलती है। उसे ही विषम समाज कहा जाता हे।

जब सबके सामने इस फैलती हुई विषमता को दूर करने का सवाल आता है तो मैं बुनियादी रूप से सोचता हू और उस स्रोत को देखना चाहता हू जहा से विषमता का बीज फूटता है। वह स्रोत मुझे मनुष्य का मन दिखाई देता है–यो ही कह दू कि वह मेरा स्वय का मन भी हो सकता है। इसलिये विषमता के विरुद्ध जो युद्ध करना है, वह मनुष्य को अपनी ही आन्तरिकता मे करना है तथा अपने ही विमार्ग मे भटकते हुए मन से करना है। मैं सोचता हू कि जब मेरे मन की विषममता घट या मिट जाती है तो उतना ही मैं साम्योग का साधक बन जाता हू। विषमता को घटाने और मिटाने के लिये ममता (सासारिकता के प्रति मोह–ग्रस्तता) को घटानी और मिटानी पडेगी तथा तब विषमता घटती और मिटती जायगी तो समता उसी रूपी मे फूलती और फलती हुई चली जायगी।

मेरा चिन्तन गहरे उतरता है कि मैं समतावादी से समताधारी बनता जाऊगा तो समतादर्शी बन जाने का साध्य मेरे समक्ष स्पष्ट हो जायगा। समता दर्शी हो जाना ही साम्य योग की अवाप्ति कर लेना है। समता की इस राह पर मेरा आगे बढना क्या मेरे ही आत्म विकास को प्रभावित करेगा? यह तो उपलब्धि होगी ही किन्तु प्रामाविकता का क्षेत्र उससे भी कई गुना बडा होगा। मेरा समभाव, मेरी समदृष्टि और मेरा साम्य योग मेरे सम्पर्क मे आने वालो मे एक नये परिवर्तन का बीजारोपण करेगे। जैसे एक मन से विषमता धीरे–धीरे या जल्दी दूर तक फैल जाती है, वेसे ही एक विशुद्ध मन से उपजी समता भी चाहे धीरे–धीरे ही असर करे लेकिन, दूर–दूर तक असर जरूर करेगी। समता के इस विस्तार मे सामाजिक प्रयोग भी किये जाय तो समता का क्रियात्मक रूप अत्यधिक विस्तृत बनाया जा सकता है। सामाजिक प्रयोगो की सफलता के लिये किन्हीं प्रबुद्ध जनो की मन शुद्धि तो आवश्यक होती ही है। इस प्रकार मनुष्य के मन को ही सम्पूर्ण विकास का मूल

आधार मानने के सिवाय दूसरा कोई चारा नही है।

इसलिये मेरा निश्चित मत हे कि चाहे सामाजिक विषमता हो अथवा राष्ट्रीय विषमता या भले ही वह सम्पूर्ण मानव समाज की विषमता हो–उसका मूलोच्छेदन तो एक मनुष्य के मानस परिवर्तन के साथ ही प्रारभ किया जा सकेगा। कार्य कितना ही विशाल क्यो न हो–किन्तु उसकी सम्पूर्ति के लिये उसके किसी न किसी छोटे छोर से ही कार्यारम्भ करना होगा। विश्व की विषमता मिटानी है तब भी मनुष्य के मन की विषमता पर ही पहले प्रहार करना होगा। मनुष्य–मनुष्य के मन बदलते हुए एक समूह तक भी परिवर्तन का प्रसार हो जायगा तो उस सामूहिक शक्ति का प्रयोग भी साथ साथ मे प्रारम्भ किया जा सकेगा। व्यष्टि और समष्टि का इस रूप मे सहयोग समता के अधिकतम विस्तार का कारण भूत हो सकता है।

मैं चिन्तन करता हू कि मैं साम्य योग की अवाप्ति करू और उस अवाप्ति को विश्वकल्याण का माध्यम बनाऊ। इस दृष्टि से मुझे अपने आत्म–समीक्षण मे परिपक्वता लानी होगी और एकावधानता को सुदृढ बनानी होगी।

ससार के समस्त जीवो का परिवार

मेरा आत्म–समीक्षण ध्यान मुझे नई अन्त प्रेरणा देगा और वह यह कि सारी वसुधा ही मेरा कुटुम्ब है। दूसरे शब्दो मे यह कि ससार के समस्त जीवो का परिवार ही मेरा पूरा और सच्चा परिवार है। जैसे मैं अपने छोटे घटक रूप परिवार का हितैषी और सहयोगी होता हू, वैसे ही मेरी हित भावना और सहयोगी शक्ति अपने इस बडे परिवार के प्रति भी होनी चाहिये। यो पूछे तो वह अधिक होनी चाहिये क्योकि मेरे छोटे घटक परिवार मे तो वयस्क होकर सभी सदस्य आत्म निर्भर एव स्वावलम्बी बन जाते है किन्तु इस बडे परिवार में तो पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और निगोध आदि के ऐसे सूक्ष्म जीव तथा जीवाणु होते हैं जिनकी रक्षा के लिये मेरी आन्तरिक जागृति सदा प्रदीप्त रहनी चाहिये। ये सभी जीव छ काया के जीव होते हैं–चौरासी लाख योनियो के जीव, जिनमे से किसी के प्रति मेरी हिसक वृत्ति उत्तेजित नहीं बननी चाहिये। मैं उनमे से एक भी जीव के एक भी प्राण को कष्टित नही करू–इतना ही मेरा कर्त्तव्य नहीं है बल्कि मैं सभी जीवों के प्रति दयावान् होऊ तथा प्रत्येक जीव की रक्षा मे अनुकम्पित होकर तत्पर बनू–यह भी आवश्यक है। ये सभी जीव मेरे बडे परिवार के सदस्य हैं और मैं समझता हू कि मेरी करुणा की इन्हे अपेक्षा है।

यह मैं समझ चुका हू कि में ससार के समस्त जीवो को इस परिवार का सच्चा सदस्य तभी कहला सकता हू जब में साधु धर्म को स्वीकार करके इन छ काया के जीवो का सच्चा रक्षक और हिताकाक्षी बनू। हृदय को इतना विशाल, उदार ओर विराट् बनाना सरल नहीं है। इसके लिये मैं जानता हू कि मुझे कठोर साधना करनी होगी–मेरे अपने स्वार्थो को समाप्त करके सर्वहित मे अपने निजत्व को समर्पित कर देना होगा। ऐसी साधना रत्न त्रय की सर्वोच्च आराधना से ही सफल बनती है और तभी साम्ययोग की अवाप्ति होती है। साम्ययोगी बनाकर ही मैं समतादर्शी होता हू–सबको समदृष्टि से देखता हू और सबके हित के लिये अन्त प्रेरित होता हू।

मुझे वीतराग देवो की वह उक्ति बराबर ध्यान मे है जिसमे कहा गया हे कि समस्त मानव जाति एक है और मैं इस एकता के फलस्वरूप अपने कर्त्तव्यो की दृष्टि से समस्त मानव जाति से जुडा हुआ हू। यह प्रश्न किया गया है कि सर्व शास्त्रो का सार क्या है? सम्पूर्ण आचरण का सार क्या है? और वहीं उत्तर भी दिया गया है कि सम्पूर्ण प्ररूपणा का सार है आचरण, जो ससार के समस्त जीवो की रक्षा तक विस्तृत बनना चाहिये और तब सम्पूर्ण आचरण का सार बताया गया है निर्वाण। कहा गया है कि नारकीयो की दिशा अधोदिशा है और देवताओ की दिशा ऊर्ध्वदिशा अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से अधोमुखी विचार नारक के प्रतीक होते हैं तो ऊर्ध्वमुखी विचार देवत्व की झलक दिखाते हैं।

सयम की साधना का मुझे दीर्घ अनुभव है और मैं जानता हू कि जैसे जैसे मन, वचन, काया के सघर्षशील योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे वैसे कर्मो का बध भी अल्पतर होता जाता है। योग चक्र का पूर्णत निरोध होने पर बध का सर्वथा अभाव हो जाता है जैसे कि समुद्र मे रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है।

साधक का जीवन मैं जानता हू कि अन्तर्मुखी तथा ऊर्ध्वमुखी होता है। कछुआ जिस प्रकार अपने अगों को अन्दर मे समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियो से सुरक्षित रखता है ओर अपनी सुख सुविधा की भावना से अनपेक्ष रहकर उपशान्त एव दभरहित होकर विचरता है। साधक की चार श्रेणिया मानी गई हैं। एक दर्पण के समान स्वच्छ हृदय वाला होता है, वहा दूसरा साधक हवा में उडती हुई पताका के समान अस्थिर हृदय वाला भी हो सकता है। तीसरी श्रेणी का साधक स्थाणु के समान मिथ्याग्रही और चौथी

श्रेणी का साधक तीक्ष्ण कटक के समान कटुभाषी होता है। पिछली तीनो श्रेणिया साधक की साधना की खोट बताती है। वस्तुत आत्मदृष्टता साधक मधुकर (भवरा) के समान होते हैं–वे कही किसी एक वस्तु या व्यक्ति की आसक्ति मे आबद्ध नही होते।

भीतर प्रकाश, बाहर प्रकाश

मैं जो ज्ञानपुज और समत्व योगी बनने का अभिलाषी हू, मैं जानता हू कि सिर मुडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नही होता, मौन रखने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता। वास्तव मे समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य तथा कर्म से ही शूद्र होता है। जो भोगो मे आसक्त है, वह कर्मों में लिप्त होता है और जो अभोगी है–भोगासक्त नहीं है, वह कर्मो से लिप्त नहीं होता। भोगासक्त ससार में परिभ्रमण करता है और भोगो में अनासक्त ही ससार से मुक्त होता है। इसलिये सर्वप्रथम ज्ञान साधना आवश्यक है क्योंकि स्वाध्याय करते रहने से समस्त दु खो से मुक्ति मिलती है और हृदय के समस्त भाव प्रकाशयुक्त बनते हैं।

भीतर प्रकाश और बाहर प्रकाश तभी प्रसारित होता है जब वस्तु स्वरूप का यथार्थ रूप जाना जाता है तो सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सभव होता है। सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र नहीं हो सकता और ज्ञान से भावो का सम्यक् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्मों का निरोध होता है तथा तप से आत्म–स्वरूप निर्मल बन जाता है। यह निर्मलता ही भीतर, बाहर और सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश प्रसारित कर देती है।

मैं भावना भाता हू कि मैं भी मुनिजनों के हृदय के समान अपने हृदय को बनाऊ जो शरद्कालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है। मैं भी मुनियो के आत्म स्वातंत्र्य को प्राप्त करू जो पक्षियो की तरह बन्धनों से विमुक्त होता है तथा मैं भी मुनियो के समभाव के समान अपनी आन्तरिकता मे समभाव का सृजन करू जो पृथ्वी की तरह समस्त सुखो व दु खो को सहन करता है। मैं मुनि धर्म मे उत्कृष्टता प्राप्त करता हू तभी मुक्ति पथ पर अग्रगामी बनता हू और निर्मल प्रकाश की दिव्याभा को पहिचान व प्राप्त कर सकता हू।

अमिट शान्ति और अक्षयसुख

मैं और मेरी तरह प्रत्येक प्राणी सदा ही शान्ति ओर सुख की अभिलाषा रखता हे, किन्तु समस्या वहा यही बनी रहती है कि अपने मन, वचन तथा काया के योग उसके अनुसार नही बनाये जाते हैं। बबूल बोते रह कर आम का फल पाने की अभिलापा रखते हैं, जिसके कारण अभिलाषा की पूर्ति नहीं होती है। यह मूल में ही भूल होती रहती हे अत चाहने पर भी शान्ति नहीं मिलती, सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिये सबसे पहले इस अज्ञान को दूर करके यह सम्यक् प्रतीति लेनी होगी कि क्या करने से और क्या नही करने से शान्ति मिलेगी और सुख प्राप्त होगा? यह सम्यक् प्रतीति की आस्था तथा आचरण के चरणो को सुदृढ व स्थिर बनाकर अमिट शान्ति और अक्षय सुख का मार्ग दिखाएगी।

मुझे अमिट शान्ति और अक्षय सुख मिले या यो कहू कि पहले सच्ची शान्ति और सच्चे सुख का तनिक भी रसास्वादन कर सकू, उसके लिये अशान्ति और दु ख के कारणो की खोज करनी होगी क्योकि एक बार भी यदि सच्ची शान्ति और सच्चे सुख के रसानन्द का मैं अनुभव कर लूगा तो फिर उस मार्ग पर चलने का मेरा उत्साह जाग उठेगा। यह खोज अपने भीतर ही करनी होगी, कारण, शान्ति भी वहीं से प्रवाहित होती है तथा अशान्ति भी वही से फूटती है और सुख–दु ख का अनुभव भी वहीं जन्म लेता है। यह तथ्य मुझे हृदयगम कर लेना चाहिये और इसकी गाठ बॉध लेनी चाहिये कि बाहर के पदार्थ और व्यक्ति अशान्ति और दु ख पैदा करने मे निमित्त मात्र होते हैं–वे स्वय मेरे हृदय मे अशान्ति और दु ख पैदा नहीं कर सकते हैं। सासारिक सुख सुविधाओं को प्राप्त करने के सम्बन्ध मे अनन्त इच्छाए और कामनाए जब तक भडक हुई रहती हैं, उस हृदय मे शान्ति और सुख की क्षीण प्रकाश रेखा भी नहीं चमकती। मनुष्य का सामान्यतया यह स्वभाव (विभाव) देखा जाता है कि बाह्य पदार्थों की वृष्टि से उसे जो कुछ प्राप्त होता है, उससे वह सन्तुष्ट नहीं रहता तथा अपनी नजरें ऊपर रखता हुआ वह अप्राप्त की चिन्ता करता जाता है। यह दीन हीन मनुष्यो पर ही लागू नहीं होता बल्कि अच्छे सम्पन्न लोगो मे भी यह वृत्ति बहुलता से देखी जाती हे। इसी वृत्ति को तृष्णा कहते हें। तृष्णाग्रस्त होकर मनुष्य अपने प्राप्त सुख को भी सुख मानकर नही भोगता है और अधिकतम प्राप्त करने के भारी तनावो के बीच दु खमरी जिन्दगी जीता है। तब उसके मन–मानस मे अशान्ति ही उमडती–घुमडती है और अप्राप्त की चिन्ताग्रस्तता के कारण दु ख का अनुभाव बढकर गभीर होता रहता है। इसके

विपरीत यदि अपनी आन्तरिकता को सन्तोष के शीतल जल से शान्त बनाले और अपनी नजर नीचे की तरफ घुमाते रहे तो जो कुछ प्राप्त है, उसके सुख को भी भोगा जा सकेगा तथा हृदय को भी शान्त बनाया जा सकेगा।

मैं मानता हू कि शान्ति और सुख के अनुभव का विषय मुख्यत अपनी ही अवधारणाओ पर अवलम्बित रहता है। इसके लिये इच्छाओ और कामनाओ का निरोध ही करणीय पुरुषार्थ होता है। तृष्णा पर अकुश लगाते ही कई तनाव एक साथ समाप्त हो जाते हैं। इच्छा निरोध का धीरे–धीरे ही सही, किन्तु क्रमिक विकास मैं जानता हू कि हृदय को सन्तुलित बना देगा और तब शान्ति एव सुख का लाभ लेना अपने ही वश की बात हो जायगी। बाहर के मनोज्ञ पदार्थ मिलें या चले जाय और अमनोज्ञ पदार्थों का दुर्योग हो जाय, तब भी परतत्व मेरे निजत्व को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर पायेगे और न ही मेरे हृदय मे अशान्ति की ज्वाला सुलगा सकेगे या दुःख की पीडा पैदा कर सकेंगे। यही सयम की साधना का प्रारम होगा।

ज्यों–ज्यों मेरा सयम सुदृढ एव सुस्थिर बनता जायगा, त्यो–त्यों मेरी शान्ति भी अधिकाधिक शीतल और सुख भी अधिकाधिक आह्लादकारी बनता जायगा। यही नहीं, उत्तरोत्तर आत्म विकास के साथ मेरी शान्ति और मेरे सुख में स्थायित्व भी आता जायगा। क्षण–क्षण शान्ति और अशान्ति के पलडो में मेरा झूलना भी बध हो जायगा।

सयम और तप की आराधना के साथ बध से ज्यों–ज्यों मुक्ति मिलती जायगी और ज्यो–ज्यो मेरी आत्मा ऊपर से ऊपर के गुणस्थान के सोपानो पर आरूढ होती जायगी कि अन्ततोगत्वा मुझे अमिट शान्ति और अक्षय सुख की परम उपलब्धि भी हो जायगी। तब शान्ति और सुख का रूप अव्याबाध हो जायगा।

आठवां सूत्र और मेरा संकल्प

वीतराग देवों द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रकाश में मैं अनुभव करूगा कि मेरा आत्म–समीक्षण एव विश्व कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है, क्योंकि ज्ञान के ही प्रकाश में मैं अपने साध्य को समझकर तदनुकूल साधनो का अभिग्रहण कर सकूगा। मैं जब अपना साध्य अमिट शान्ति तथा अक्षय सुख के रूप मे मोक्ष प्राप्ति को बना लूगा तो यह भी निश्चय कर लूगा कि मैं वीतराग देवो की आज्ञा मे रहता हुआ एकावधानता से रत्नत्रय की सफल आराधना करू।

मे मूल मे ज्ञानपुज हू, समत्व योगी हू तो मुझे अपने मूल स्वरूप को अनावृत्त करना ही है कि मे व्यक्त रूप से ज्ञानपुज एव समत्व योगी बन जाऊ। इस दृष्टि से मैं सकल्प लेता हू कि मे अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र की आराधना करुगा तथा योग शुद्धि व कषाय मुक्ति की ऊर्ध्वगामी गति के माध्यम से आत्मिक गुणस्थानो के सोपानो पर आरूढ होता हुआ क्रमिक रूप मे आत्मोन्नति करता जाऊगा। मैंने जान लिया है कि समत्व योग की सर्वोच्च साधना से ही मे अमिट शान्ति एव अक्षय सुख की प्राप्ति कर सकूगा अत दृढ सकल्प पूर्वक मैं मोक्ष के पथ पर आगे बढता जाऊगा।

अध्याय दस

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र · ६ ·

मैं शुद्ध, बुद्ध, निरजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है और उसे मैं कैसे प्राप्त करूँ?

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन मे मुझे प्रतिभासित होगा कि मैं दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष या नपुसक कहाँ हूँ और शब्द, वर्ण, गध, रस, स्पर्श के आकार वाला भी कहाँ हूँ? मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर, अमर, अवेदी, अखेदी, अलेशी आदि गुणो से सम्पन्न हूँ। मैं गुणाधारित जीवन का निर्माण करूँगा, मनोरथ-नियम के चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी बनूँगा और अपने मूल आत्मस्वरूप को समाहित करने की दिशा में अग्रसर होऊँगा।

सूत्र नवम

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरजन हू। मैं आत्मस्वरूप हू—ज्ञान सम्पन्न हू। इसी कारण मैं जानता हू कि वास्तव मे मैं क्या हू और आज मैं किस स्वरूप मे चल रहा हू? मैं यह भी जानता हू कि मैं जिस ससार मे अभी चल रहा हू, उसका सही स्वरूप क्या है तथा ससार के स्वरूप ने मेरे आत्म—स्वरूप को किस रूप मे प्रभावित कर रखा है?

मैं यह सब जानता हू, इसीलिये मानता हू और कहता हू कि मैं शुद्ध हू—सर्व प्रकारेण शुद्ध। मेरी मूल शुद्धता या निर्मलता मे किसी भी प्रकार के मल का कोई अश नही है। मैं पूर्णतया निर्मल और शुद्ध हू।

मैं शुद्ध हू इसीलिये बुद्ध हू—प्रबुद्ध हू। मेरे बोध की कोई सीमा नहीं है—मेरा बोध असीम है—सम्पूर्ण लोक को जानता है, लोक की प्रत्येक आत्मा और वहा रहे हुए प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है। प्रत्येक को द्रव्य रूप में भी जानता है और उसकी विविध पर्यायो को भी पहिचानता है।

मैं बुद्ध हू और तदनुसार सिद्ध हू—कोई सिद्धि ऐसी नहीं जो मेरे से अछूती रह सके। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य का धारक हू। मेरी बुद्धता अपार है तो मेरी सिद्धि मेरे परम स्वरूप का द्योतक है। सिद्ध होकर मैं आनन्द का निमग्न हो जाता हू।

में शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हू अत तदनुसार निरजन हू। मेरी शुद्धता, बुद्धता और सिद्धि मुझे शरीर के बधन से मुक्त बनाकर निरजन—निराकार बना देती है और वस्तुत मेरी आत्मा का वही परम और चरम स्वरूप है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज मैं शुद्ध नहीं हू, बुद्ध नही हू, सिद्ध नही हू और निरजन भी नही हू तथापि यह भी उतना ही सत्य हे कि शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध ओर निरजन स्वरूपी बन जाने का अमित सामर्थ्य मेरी ही आत्मा मे समाया हुआ है। मैं अपने अपूर्व पुरुषार्थ से शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरजन बन सकता हू। यह मेरी प्रयास साध्य अवस्था है—मेरा साध्य है।

में जानता हू कि में आत्म स्वरूपी हू। मैं आत्मा हू, शरीर नही। शरीर तो मात्र मेरा वस्त्र हे जिस मैं अपने कर्मानुसार बदलता रहता हू। में स्वय शरीर नही हू। किन्तु इस ससार मे विडम्बना भरी स्थिति यही हे कि अधिकाश प्राणी अपने को शरीर स्वरूप ही मानकर चलते हैं, अपने आत्म–स्वरूप की अनुभूति नही लेते हैं। वे 'में' और 'मेरे शरीर' के भेद को आकते नही हें। ऐसी अनुभूति और अकन के अभाव मे वे न तो सत्य साध्य का निर्धारण कर पाते हैं और न ही सत्य साधनो का चयन। वे ससार और वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मानकर मोहग्रस्तता के भयानक दु खो को भोगते हैं। किन्तु मैं अपने मूल स्वरूप को जानता और पहिचानता हू और इसीलिये मैं यथार्थ स्वरूप का पूर्णत प्रतिपादन करना चाहता हू।

मैं आत्मा हू और मेरा मूल स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरजन है। मैं अपने वर्तमान अशुद्ध, अबुद्ध, असिद्ध और शरीरी स्वरूप को आत्मा के मूल स्वरूप मे कैसे परिवर्तित करू–उस पुरुषार्थ को भी जानता हू और इसी सामर्थ्य एव पुरुषार्थ को सभी भव्य आत्माओ के समक्ष प्रकट करना चाहता हू। इस पुरुषार्थ के तीन चरण हो सकते हैं–एक, अपने आत्म स्वरूप पर प्रतीति हो, उसकी अनुभूति ली जाय तथा उसके ज्ञाता, दृष्टा, कर्ता, एव भोक्ता शक्तियो को समझा जाय। दो, सासारिकता मे रमती हुई अपनी वर्तमान आत्मिक अवस्था के कारण जाने जाय, उन्हे दूर करने के उपाय खोजे जाय और उन उपायो की क्रियान्विति पर अपना कठोर पुरुषार्थ नियोजित किया जाय। तीन, सम्यक्त्व को आत्मसात् किया जाय, सर्वविरति त्याग को अन्तर्गत सयम एव तप की उच्चस्थ साधना की जाय और वीतरागी बनकर शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध एव निरजन अवस्था मे अपनी आत्मा को सदा काल के लिये अवस्थित बना ली जाय।

अत आवश्यक हे कि मैं अपने भीतर झाकू, भीतर उतरू और भीतर की गहराई की थाह लू–मुझे अपना विराट् आत्म–स्वरूप वहीं पर दिखलाई देगा और वही की गूढता से मैं अपन मूल गुणो की पहिचान कर सकूगा। मैं क्या हू और मुझे क्या होना चाहिये एव मैं क्या कर रहा हू तथा मुझे क्या करना चाहिये–इस सबका वास्तविक बोध भी मुझे वही से हो सकेगा।

मै आत्म स्वरूपी हू

इसलिये मेरा पहला चरण है कि मैं आत्म स्वरूपी हू। आत्मा है, वह मैं हू और में वह नहीं हू जो मेरा शरीर है। आत्मा और शरीर के पृथकत्त्व को समझकर ही मैं अपने यथार्थ स्वरूप को पहिचानता हू। शरीर अलग है और

आत्मा अलग है और इस कारण जब एक जीवन समाप्त होता है तो उस जीवन मे प्राप्त शरीर समाप्त होता है, आत्मा समाप्त नही होती। आत्मा तो अजर अमर होती है—इस ससार मे भी और सिद्ध—स्थली मे अवस्थित हो जाने के बाद मे भी। सिद्धावस्था मे वह कर्म मुक्त हो शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरजन बन जाती है तब वह शाश्वत रूप से एक स्वरूपी बन जाती है।

तो मैं आत्मा हू इसीलिये अनश्वर हू—अजर अमर हू। मेरी कभी मृत्यु नही होती और जब मेरी मृत्यु नहीं होती है तो शरीर की मृत्यु का अवाछित भय मैं क्यो रखू? इसी कारण मैं अभय भी हू। मैं आत्मा हू, इसीलिये निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायो को प्राप्त होता हू और मेरा लक्षण उपयोग या चैतन्य रूप है। मेरा ही नहीं, ससार के समस्त जीवो का भी यही उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण है। इस दृष्टि से मेरी आत्मा और सभी जीवो की आत्माए एक हैं।

मैं आत्मावादी भी हू क्योकि मैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति आदि भाव दिशाओ तथा पूर्व पश्चिम आदि द्रव्य दिशाओं मे आने जाने वाले अक्षणिक, अमूर्त आदि स्वरूप वाली आत्माओ को मानता हू और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता हू। मैं आत्मा के इस स्वरूप को नहीं मानता कि वह सर्वव्यापी, एकान्त, नित्य या एकान्त क्षणिक है क्योकि वैसा मानने पर आत्मा का पुनर्जन्म सभव नहीं होता है।

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे जो शकाशील होते हैं अथवा उसके अस्तित्व को नही मानते, उनका पक्ष है कि आत्मा नहीं है, क्योकि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है जैसे कि कोई कहे—आकाश मे फूल हैं। जो वस्तु विद्यमान होती है, वही प्रत्यक्ष से जानी जा सकती है, जैस घडा। आत्मा चूकि प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती है, इसीलिये वह नहीं है। परमाणु विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष से नहीं जाने जा सकते हैं—यह तर्क आत्मा के लिये उचित नहीं है, क्योकि घडे आदि के कार्यरूप मे परिणत होने पर परमाणु प्रत्यक्ष से जाने जा सकते हैं। आत्मा अनुमान से भी नहीं जानी जा सकती है। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का अविनाभाव (एक दूसरे के बिना नहीं रहना) निश्चित हो जाने के बाद किसी दूसरी जगह एक को देखकर दूसरी वस्तु का ज्ञान अनुमान से होता है। आत्मा का प्रत्यक्ष न होने के कारण उसका अविनाभाव किसी वस्तु के साथ निश्चित नहीं किया जा सकता अत आत्मा अनुमान से भी नहीं जानी जा सकती है। तीसरे, आत्मा की सिद्धि आगम से भी नहीं होती है, क्योकि उसी महापुरुष के वाक्य को आगम रूप से प्रमाण माना जा सकता है, जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देखी है। आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है इसलिये उसके

अस्तित्व को बताने वाला आगम भी प्रमाण नही माना जा सकता। इसके अलावा अलग-अलग मतो के आगम भिन्न-भिन्न प्ररूपणा करते हें-कुछ आत्मा के अस्तित्व को बताते हें ओर कुछ अभाव को। एसी दशा मे यह नही कहा जा सकता कि अमुक आगम ही प्रमाण हे। उपमान या अर्थोपत्ति प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योकि इन दोनो की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ मे ही हो सकती है।

वीतराग देवो की अमोघ वाणी के प्रकाश मे में जब इन तर्को की विवेचना करता हू तो स्पष्ट हो जाता है कि ये सारे तर्क सारहीन हैं ओर इस कारण कुतर्क हैं। मैं समझता हू कि आत्मा मुझे प्रत्यक्ष है क्योकि यदि मैं आत्मा के अस्तित्व मे सशय भी करता हू तो वह सशय स्वय ज्ञान होने के कारण आत्मा का ही विषय है क्योकि उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है। इसी प्रकार अपने शरीर मे होने वाले सुख-दु ख आदि का ज्ञान स्वयवेदी (अपने आपको जानने वाला) होने के कारण आत्मा को ही प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष से सिद्ध वस्तु के लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है। मैंने किया, मैं करता हू, मैं करूगा या मैंने कहा, मैं कहता हू, में कहूगा अथवा मैंने जाना, मैं जानता हू, मैं जानूगा इत्यादि तीनों कालो को विषय करने वाले ज्ञानो मे भी 'मैं' शब्द से आत्मा का ही बोध होता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से भी आत्मा की सिद्धि होती है। यदि 'मैं' शब्द से शरीर को लिया जाय तो मृत शरीर मे भी यही प्रतीति होनी चाहिये, जो नही होती है। आत्मा का निश्चयात्मक ज्ञान हुए बिना 'मैं हूँ' यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि इसमे भी 'मैं' शब्द का अर्थ आत्मा ही है।

मैं स्पष्ट समझ रहा हू कि आत्मा के नहीं होने पर 'आत्मा है या नहीं' इस प्रकार का सशय भी पैदा नहीं हो सकता है, क्योकि सशय ज्ञान रूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है। गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता। ज्ञान को शरीर का गुण नही कहा जा सकता, क्योकि ज्ञान अमूर्त और बोध रूप है तथा शरीर मूर्त और जड है। दो विरोधी पदार्थ गुण और गुणी नहीं बन सकते। जैसे बिना रूप वाले आकाश का गुण रूप नही हो सकता और इसी प्रकार मूर्त और जड शरीर का गुण अमूर्त और बोध रूप ज्ञान नहीं हो सकता। सभी वस्तुओ के स्वरूप का निश्चय आत्मा का निश्चय होने पर ही हो सकता है। जिसे आत्मा के अस्तित्व मे ही सन्देह हो, वह
आदि के विषय मे भी सशय रहित नहीं हो

मैं जान रहा हू कि आत्मा का अभाव सिद्ध करने वाले अनुमान मे भी बहुत से दोष हैं। प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली आत्मा का अभाव सिद्ध करने से साध्य प्रत्यक्ष बाधित हे तो वह अनुमान विरुद्ध भी हे। सशय वाला हू। इस मे 'मैं' शब्द से वाच्य आत्मा का अस्तित्व मानते हुए भी उसका निषेध करना अभ्युपगम विरोध है। लोक मे जिस वस्तु का निश्चय छोटे से लेकर बडे सभी व्यक्तियो को हो, उस का निषेध करने से यह कथन लोक बाधित भी है। अपने ही लिये 'मैं हू या नही' इस प्रकार सशय करना अपनी माता को बध्या बताने के समान स्व–वचन बाधित भी है। अत आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाले पक्ष मे अपक्षधर्मता के कारण हेतु भी प्रसिद्ध है ओर प्रमाण सिद्ध आत्मा मे ही हेतु की प्रवृति होने के कारण हेतु विरुद्ध भी है।

अत मैं सूर्य के प्रकाश के समान निश्चित रूप से अनुभव करता हू कि आत्मा प्रत्यक्ष है। क्योकि आत्मा के गुण स्मृति, जिज्ञासा (जानने की इच्छा), चिकीर्षा करने की इच्छा और जिगमिषा, सशय आदि प्रत्यक्ष हैं। जिस वस्तु के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, वह वस्तु भी प्रत्यक्ष होती है, जैसे घट के गुण, रूप आदि प्रत्यक्ष होने पर घट भी प्रत्यक्ष होता है। यदि गुणो के ग्रहण से गुणी का ग्रहण न माना जाय तो भी गुणो के ज्ञान से गुणवाले (गुणी) का अस्तित्व तो अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से भी आत्मा का अस्तित्व अखडनीय है और मेरी मान्यता सुदृढ बन जाती है कि मैं आत्म स्वरूपी हू–मैं आत्मा हू।

मैं आत्मा हू तो कैसी आत्मा हू? इस चिन्तन में मैं अनुभव करता हू कि मैं अभी बहिरात्मा हू क्योकि जब तक आत्मा को सम्यक् ज्ञान नही होता और वह मोहवश शरीर आदि बाह्य पदार्थों में आसक्त रहती है कि 'यह मैं ही हू–मैं इनसे भिन्न नहीं हू' तब तक वह शरीर आदि को अपने साथ जोडे रखने के अज्ञान के कारण बहिरात्मा होती है। मैं अन्तरात्मा भी हू क्योकि जब मैं बाह्य भावों को दूर हटाकर शरीर से पृथक् शुद्ध ज्ञान–स्वरूप आत्मा मे ही आत्मा का निश्चय करता हू तो मैं आत्म–ज्ञानी पुरुष के रूप मे अन्तरात्मा हो जाता हू। मैं अपने मूल आत्म स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा हू। जब मेरी आत्मा अपने सकल कर्मो का नाश करके अपना शुद्ध ज्ञान स्वरूप प्राप्त कर लेगी और वीतराग तथा कृतकृत्य हो जायगी, तब वह शुद्धात्मा–परमात्मा बन जायगी।

मेरी आत्मा के तीन रूप इस प्रकार के भी होते हैं–बुद्ध और सिद्ध। जब तक मेरी आत्मा कर्म समूह से बधी हुई रहती है, तब तक वह बद्ध आत्मा

हे, जब वह घाती कर्म बन्धनो का क्षय करके वीतरागी हो जायगी तो वह बुद्ध आत्मा बन जायगी और जब वह सम्पूर्ण कर्म क्षय करके अन्तिम बन्धन रूप शरीर से मुक्त हो जायगी, तब वह सिद्ध आत्मा हो जायगी।

मेरी आत्मा के ये विभिन्न रूप उसकी पर्याये हैं, जबकि वह शुद्ध रूप मे एक द्रव्य हे। गुणो के समूह को द्रव्य कहते हैं, जो पर्यायो के रूप में बदलता रहता हे। और गुण उसे कहते हें जो द्रव्य के आश्रित रहे। गुण सदैव द्रव्य के अन्दर ही रहता है, उसका स्वतत्र कोई स्थान नहीं रहता है। द्रव्य और उसके गुणो मे रहने वाली अवस्थाओ को पर्याय कहते हैं। कुल छ प्रकार के द्रव्यो मे पाच द्रव्य जड हैं और छठा द्रव्य आत्मा है। आत्मा का गुण चैतन्य है और उसमे परिवर्तित होने वाली अवस्थाए उसकी पर्याय कहलाती हैं। पर्याये गुण और द्रव्य दोनो में रहती हें।

मेरी आत्मा अरूपी द्रव्य है जिसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श नहीं पाये जाते हैं तथा जो अमूर्त है पुद्गल के अलावा सभी पाचो द्रव्य अरूपी होते हें। मेरी आत्मा भी अरूपी है और उसका गुण या लक्षण चैतन्य है। यो उसमे चार गुण हैं– अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य। मेरी आत्मा की पर्यायें भी चार हैं–अव्याबाध अनवगाह, अमूर्तिकता तथा अगुरुलघुत्व अनन्त ज्ञान आदि चारो गुण केवल आत्म द्रव्य मे ही पाये जाते हैं, अन्य किसी द्रव्य मे नहीं। किन्तु प्रत्येक द्रव्य के समान मेरी आत्मा में भी आठ पक्ष हैं–नित्य, अनित्य, एक, अनेक, सत्, असत्, वक्तत्व और अवक्तव्य। मेरी आत्मा के चारो गुण और तीन पर्यायें नित्य हैं, मात्र अगुरुलघुत्व पर्याय अनित्य है। यो आत्माए अनन्त हैं, एक आत्मा में असख्यात प्रदेश हैं तथा अनन्त गुण और पर्यायें हैं। इस अनैकता के उपरान्त भी सर्व आत्माओ मे जीवत्व तथा चेतना लक्षण एक समान होने से सबमे एकत्व भी है। मेरी आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् भी है तो पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् भी है। मेरी आत्मा मे अनन्त गुण और अनन्त पर्याये वचन से कही जाने की अपेक्षा से वक्तव्य भी है तो वचन से नही कही जाने की अपेक्षा से अवक्तव्य भी हें। केवली भगवान् सर्व द्रव्य और पर्यायो को देखते हैं, परन्तु वचन से उनका अनन्तवा भाग ही कह सकते हैं। इस प्रकार वक्तव्य और अवक्तव्य विषय का स्वरूप दिखलाया गया है। नित्यअनित्य पक्ष की चोभगी के अनुसार मेरी आत्मा मे ज्ञान आदि गुण अनादि अनन्त हैं याने वह नित्य है। मोक्ष जाने वाली भव्य आत्मा के कर्म का सयोग अनादि सान्त हें, क्योकि कर्म अनादि से लगे हुए हैं परन्तु भव्य आत्मा के मोक्ष मे चले जाने

पर उन कर्मो का सम्बन्ध पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। आत्मा जन्मान्तर करती हुई देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और तीर्यचत्व प्राप्त करती है तो देवत्य आदि उसकी पर्याये सादि सान्त हें क्योकि देव आदि मे जन्म में उत्पति भी होती है तो उसका अन्त भी होता है। भव्य आत्मा कर्म क्षय करके जब मोक्ष मे चली जाती है तो उसका मुक्तत्व रूप पर्याय उत्पन्न होने से सादि और उसका कभी अन्त नहीं होने से अनन्त अर्थात् असादि अनन्त है। द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव की चौभगी के अनुसार मेरी आत्मा मे स्व द्रव्य की अपेक्षा से ज्ञान आदि अनन्त गुण अनादि अनन्त हैं। आत्मा जितने आकाश प्रदेशों में रहती है, वही उसका क्षेत्र है जो सादिसान्त है। आत्मा का काल अगुरुलघु पर्याय से अनादि अनन्त है परन्तु अगुरु लघु की उत्त्पति और नाश आदि सान्त है। आत्मा का स्वभाव गुण पर्याय अनादि अनन्त है।

गुणो की दृष्टि से मेरी आत्मा मे छ सामान्य गुण हैं–(1) अस्तित्व–द्रव्य का सदा सत् अर्थात् विद्यमान रहना अस्तित्व गुण है। इसी गुण के होने से आत्मा में सद्रूपता का व्यवहार होता है। (2) वस्तुत–द्रव्य का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप वस्तुत्व गुण हे। जैसे सुवर्ण घट में घटत्व सामान्य गुण और सुवर्णत्व विशेष गुण है। अवग्रह ज्ञान मे सब पदार्थो के सामान्य रूप का आभास होता है और अवाय में विशेष का भी आभास हो जाता है। (3) द्रव्यत्व–गुण और पर्यायो का होना द्रव्यत्व गुण है। (4) प्रमेयत्व–प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होना प्रमेयत्व गुण है। (5) अगुरुलघुत्व–द्रव्य की गुरु अर्थात् भारी या लघु अर्थात् हल्का न होना अगुरुलघुत्त्व गुण है। यह गुण सूक्ष्म है अत अनुभव का विषय है। (6) प्रदेशत्व–वस्तु के निरश अश को प्रदेश कहते हैं। द्रव्यो का प्रदेश सहित होना प्रदेशत्व गुण है। प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ये सामान्य गुण सभी द्रव्यो मे पाये जाते हैं।

द्रव्य रूप से मेरी आत्मा के समान अनन्त आत्माए हैं–उनके भेद इस प्रकार हैं–सज्ञी मनुष्य सख्यात, और उससे असज्ञी मनुष्य असख्यात गुण है। उससे नरक के जीवन असख्यात गुणे हैं। इसी प्रकार देवता असख्यात गुण, तिर्यंच पचेन्द्रिय असख्यात गुण, चतुरिन्द्रिय जीव असख्यात गुण, तिइन्द्रिय जीव विशेषाधिक, बेइन्द्रिय जीव विशेषाधिक, प्रत्येक शरीर बादर वनस्पति काय असख्यात गुण, तेइ काय असख्यात गुण, पृथ्वीकाय विशेषाधिक, अपकाय विशेषाधिक वायुकायविशेषाधिक और उससे सिद्ध जीव अनन्त गुण हैं। सिद्धो से–निगोद (अनन्त जीवों का पिण्ड भूत एक शरीर) के जीव अनन्त

गुणे हैं। सुई के अग्र भाग पर निगोद पिण्ड का जितना भाग आये, इतने भाग मे असख्यात प्रतर होते हैं, उन प्रतरो मे से एक-एक प्रतर मे असख्यात-श्रेणिया होती हैं, एक-एक श्रेणी में असख्यात गोलक होते हैं। एक-एक गोलक में असख्यात शरीर होते हैं, उन एक-एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव होते हैं। ये निगोद बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं।

प्रत्येक ससारी आत्मा के असख्यात प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्म वर्गणाए लगी हुई हैं, एक-एक वर्गणा में अनन्त पुद्गल परमाणु हैं। इस तरह अनन्त परमाणु आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल परमाणु आत्मा से अलग हैं।

द्रव्य रूप से अपनी आत्मा का विस्तृत परिचय लेने के बाद मैं अपनी आत्मा की मुख्य रूप से वर्तमान आठ पर्यायों पर विचार करता हू। मेरी आत्मा लगातार अन्यान्य स्व-पर पर्यायों को प्राप्त करती रहती है और उसमे हमेशा उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार पाया जाता है। इसलिये मेरी आत्मा का स्वरूप उपयोग है। उपयोग की अपेक्षा से सामान्य रूप मे सभी आत्माए एक प्रकार की है किन्तु विशिष्ट गुण और उपाधि को प्रधान मान कर आत्मा के आठ भेद बताये गये हैं जो इस प्रकार है-

(1) द्रव्यात्मा-त्रिकालवर्ती द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यात्मा है जो सभी आत्माओं के होती है।

(2) कषायात्मा-क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय विशिष्ट आत्मा कषायात्मा है। उपशान्त एव क्षीण कषाय आत्माओ के सिवाय शेष सभी ससारी आत्माओं के कषायात्मा होती है।

(3) योगात्मा-मन, वचन, काया के व्यापार मे प्रवर्तित होती हुई योगप्रधान आत्मा योगात्मा है। योग वाली सभी आत्माओ के योगात्मा होती है। अयोगी केवली और सिद्धो के यह आत्मा नही होती, क्योकि वे योग रहित होती हैं।

(4) उपयोगात्मा-साकार-अनाकार रूप उपयोग प्रधान आत्मा उपयोगात्मा है। यह आत्मा सिद्ध और ससारी-सम्यक् दृष्टि व मिथ्यादृष्टि सभी आत्माओं के होती है।

(5) ज्ञानात्मा-विशेष अनुभव रूप सम्यक् ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। ज्ञानात्मा सम्यक् दृष्टि जीवो के होती है।

(6) दर्शनात्मा–सामान्य अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा को दर्शनात्मा कहते हैं। यह आत्मा सभी जीवो के होती है।

(7) चारित्रात्मा–चारित्र गुण विशिष्ट आत्मा चारित्रात्मा कहलाती है। यह आत्मा विरति ग्रहण करने वालो के होती है।

(8) वीर्यात्मा–यह आत्मा उत्थान आदि रूप कारणो से युक्त होती है तथा सभी ससारी जीवो के होती है। यहा वीर्य का अर्थ लिया जाता है सकरण वीर्य और सकरण वीर्य सिद्ध आत्माओं के नहीं होता अत उनमे वीर्यात्मा का सद्भाव नही माना जाता है। किन्तु उनमें भी लब्धिवीर्य की अपेक्षा से वीर्यात्मा का सद्भाव माना जाता है।

आत्मा की ये आठो एक प्रकार से पर्यायें हैं। मैं चिन्तन करता हू कि इन आठों पर्यायों का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? क्या एक पर्याय की विद्यमानता में दूसरी पर्याय का अस्तित्व रहता है वीतराग देवो ने इन प्रश्नो के सुन्दर समाधान उपेदिशत किये हैं। जब किसी जीव के द्रव्यात्मा होती है तो कषायात्मा होती है और नही भी होती है। सकषायी द्रव्यात्मा के कषायात्मा होती है और अकषायी द्रव्यात्मा के नहीं। किन्तु जिसके कषायात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा नियम रूप से होती है। क्योंकि द्रव्यत्व के बिना कषायों की सभावना नहीं होती। यही अवस्था योगात्मा की भी होती है और द्रव्यत्व के साथ ही योग व्यापार सभव होता है। परन्तु द्रव्यात्मा के साथ उपयोगात्मा नियम से होती है–दोनो का परस्पर नित्य सम्बन्ध होता है। ये दोनो आत्माए सिद्ध एव ससारी सभी जीवो के होती हैं। ज्ञानात्मा सम्यक् दृष्टि द्रव्यात्मा के होती है, मिथ्यादृष्टि द्रव्यात्मा के नही, किन्तु जिसके ज्ञानात्मा है, उस के द्रव्यात्मा नियम से होती है। कारण, द्रव्य के बिना ज्ञान नहीं होता। दर्शनात्मा सभी जीवो के होती है। उपयोगात्मा की तरह दर्शनात्मा का भी द्रव्यात्मा से नित्य सम्बन्ध होता है।

ज्ञानात्मा की तरह ही चारित्रात्मा विरत द्रव्यात्मा के होती है, अविरत के नहीं, किन्तु चारित्रात्मा के द्रव्यात्मा होती ही है। यही वीर्यात्मा की अवस्था है। सक्षेप में द्रव्यात्मा में कषायात्मा, योगात्मा, ज्ञानात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है पर उक्त आत्माओ में द्रव्यात्मा का रहना निश्चित है।

इस प्रकार मैं आत्म स्वरूपी हू–अपनी द्रव्यात्मा के साथ आत्मा की अन्य पर्यायो मे रमण करता रहता हूं। यह भी मैं जान गया हू कि मेरी आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियो द्वारा नहीं जानी जा सकती है और अमूर्त होने से ही वह नित्य है। मेरी आत्मा के साथ जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि दोष रहे हुए

होते हें, उन्ही के कारण मेरे कर्म बध होता हे तथा इस कर्म बध के कारण ही मेरा ससार मे परिभ्रमण चलता है।

मैं जानता हू कि ज्ञान, दर्शन चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग मेरी आत्मा के लक्षण हें। मेरी आत्मा है, वही विज्ञाता हे और जो विज्ञाता है, वही मेरी आत्मा है। जो ज्ञान के द्वारा जानती है, वही मेरी आत्मा है। ज्ञान की विशिष्ट परिणति की अपेक्षा से ही मेरी आत्मा ज्ञानात्मा कहलाती है। इस रूप मे मैं आत्मवादी हू क्योकि मैं मेरे ज्ञान एव मेरी आत्मा की एकता को जानता हू और मेरी आत्मा सयम का अनुष्ठान करके सम्यक् पर्याय को प्राप्त करती है।

अपनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के सचरण मे मैं अनुभव करता हू कि मेरी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष है और मेरी यही आत्मा अपनी उच्चस्थ स्थिति मे स्वर्ग की कामधेनु और नन्दन वन है। जब मेरी आत्मा सद् अनुष्ठानो मे रत बनती है तब वह सुख देने वाली और दु ख दूर करने वाली हो जाती है। परन्तु जब असद् अनुष्ठानो मे भटकने लगती है तो वहीं मेरी आत्मा दु ख देने वाली और सुख छीनने वाली बन जाती है। सदनुष्ठान रत आत्मा उपकारी होने से मित्र रूप है तो दुराचार मे प्रवृत्त यही आत्मा अपकारी होने से शत्रु रूप हो जाती है। अतएव मेरा अनुभव है कि मेरी आत्मा सुख और दु ख को देने वाली तथा मित्र एव शत्रु रूप है। इस रूप मे मैं अपने आपको उद्‌बोधन देता हू कि मैं जागू और समझू अपनी आत्मा के स्वरूप को जो सद् अनुष्ठानों मे प्रवृत्त रहे तो वही मेरी सबसे श्रेष्ठ मित्र है, फिर मुझे अपने मित्र की बाहर कहा खोज करनी है? इस सत्य को भी मैं हृदयगम करू कि दुराचार मे लगी हुई मेरी आत्मा मेरा सिर काट देने वाले शत्रु से भी अधिक मेरा अपकार करती है क्योकि दया रूप क्रिया एव करुणा से शून्य मेरी आत्मा दुराचार में अधी प्रवत्ति करते हुए अपने उत्थान का कोई विचार नही कर पाती है और जब अपने वर्तमान जीवन के अन्त तक पहुचती है तो अपने दुराचारो की याद करके दु ख ग्रस्त बनी पश्चाताप करती है।

आत्मा स्वरूप के इस वृहद् विश्लेषण से मुझे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना है, उस पर सच्ची श्रद्धा बनानी है और उस आस्थायुक्त ज्ञान को सदनुष्ठानो मे ढालना है ताकि मैं अपनी आत्मा को उसका ही ज्ञाता विज्ञाता बनाकर तथा उपकारी मित्र का रूप देकर विरत बनू–देश विरति से सर्व विरति के सोपानो पर आरोहण करू। आत्म विकास की मेरी महायात्रा की यही गतव्य दिशा है।

आत्मानुभव की सर्वोच्च अवस्था मे विचरण करते हुए मेरी अनुभूति होगी कि उस का वर्णन करने मे सभी शब्द लौट आते हैं और कोई तर्क भी प्रभावी नही होता है। बुद्धि भी उस विषय को ग्रहण करने मे सक्षम नहीं होती। मेरी आत्मा की वही अवस्था आभामय होती है और वह किसी अन्य स्थान पर नहीं, अपने ही भीतर आत्म ज्ञाता और आत्मदृष्टा के रूप में होती है। वही अवस्था न बडी है, न छोटी है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमडल है। न वह काली है, न नीली है, न लाल है, न पीली है और न सफेद है। वह न सुगधमयी है, न दुर्गंधमयी है और न तीखी है, न कडुई है, न कषैली है, न खट्टी है तथा न मीठी है। वह न कठोर है, न कोमल है, न भारी है, न हलकी है, न ठडी है, न गर्म है, न चिकनी है और न रूखी है। वह न लेश्यावान् है, न उत्पन्न होने वाली है और उसमे कोई आसक्ति भी नहीं है। न वह स्त्री है, न पुरुष और इसके विपरीत नपुसक। वह शुद्धात्मा है, ज्ञाता है और अमूर्छित है। उसकी कोई तुलना नहीं। वह एक अमूर्तिक सत्ता है। पदातीत के लिये उसका कोई नाम भी नहीं है। वह शुद्धात्मा न शब्द है, न रूप है, न गध है, न रस है और न स्पर्श है। बस इतने ही वर्णन से आत्म स्वरूप का ज्ञान पर्याप्त है। तदनुसार शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में मुझे प्रतिभासित होगा कि मैं न दीर्घ, न ह्रस्व, न स्त्री, न पुरुष और न नपुसक हू और वर्ण, गध, रस एव स्पर्श वाला भी नहीं हू। मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अवेदी, अखेदी, अलेशी और अजर अमर आदि गुणों से सम्पन्न हू। ये वे आध्यात्मिक रहस्य हैं जिनमे प्रगति करने के लिये मेरा कर्त्तव्य है कि मैं समतादर्शी वीतराग देवो की आज्ञा मे चलू–यही मेरी आत्मा के स्वभाव और धर्म की प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। जैसे जल मे नही डूबा हुआ द्वीप कष्ट में फसे हुए समुद्र के यात्रियों के लिये आश्रय स्थल होता है, उसी प्रकार समतादर्शी द्वारा प्रतिपादित धर्म सासारिक दु खो में फसे हुए प्राणियों के लिये आश्रय स्थल होता है।

ऐसे आत्मोत्थानकारी सिद्धान्तो के ज्ञान एव आचरण मे विभोर बनकर मेरी आत्मा स्वयमेव को उद्‌बोधित करती है–हे आत्मन्, तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर की ओर मित्र की खोज क्यों करती है? जिसे तुम ऊचे आध्यात्मिक मूल्यों में जमा हुआ जानो, उसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो और जिसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो, उसे तुम ऊचे आध्यात्मिक मूल्यो पर जमा हुआ जानो। अत तुम अपने मन का निग्रह करके ही जीना सीखो और यदि ऐसा करोगे तो दु खो से छूट जाओगे। तुम ही सत्य का निर्णय करो क्योकि जो सदा सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहता है, वही

मेधावी मृत्यु को जीत लेता है। तुम सुन्दर चित्त वाले सयम युक्त बन कर जब धर्म को ग्रहण करोगे तो श्रेष्ठतम को भी भली भाति देख सकोगे। सयमयुक्त चित्तवाले होने से कभी व्याकुलता मे नही फसोगे। तुम अपनी ही अनुपम आत्मानुभूति को जान लो तो सभी विषमताओ को भी जान लोगो। प्रमादी विषमताधारी होता है और इसी कारण सभी ओर से भयभीत भी होता हे जबकि अप्रमादी समताधारी किसी ओर से भी भयभीत नहीं होता अत तुम भी प्रमाद छोडकर समता को ग्रहण कर लो और निर्भय बन जाओ।

यह आत्मोद्बोधन मेरी भीतरी गहराई तक मुझे छू जाता हे ओर मे भावाभिभूत हो जाता हू कि वीतराग देवो की आज्ञा को भली प्रकार से समझ कर मैं कुछ विशिष्ट आत्मिक प्रगति के चरण उठाऊ। आत्मा ही मेरी शरण है। सदाचार ही मोक्ष का सोपान है और यदि चारित्र से विशुद्ध बना हुआ ज्ञान अल्प भी है तब भी महान् फल प्रदायक है। शील गुण से रहित होना मनुष्य जन्म को निरर्थक करना है और इन्द्रियो के विषयो से विरक्त रहना ही शील है। शीलाचार के बिना इन्द्रियो के विषय मेरी आत्मा के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं। जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, और तप– यह सब शील का परिवार है–आचार के अग हैं।

मैं आत्म स्वरूपी हू–एक मात्र उपयोगमय और ज्ञानमय हू। मैं तो शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप, सदा काल अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्त्व हू। परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है। मैं ही मेरा कर्ता हू और मैं ही मेरा भोक्ता। अपने इस स्वरूप को मैं अपनी ही आत्म प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञान रूप बुद्धि से जानता हू। अब नमस्कार महामन्त्र के पाच पदो की दृष्टि से आत्मसमीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि हमारी आत्मा को उन उन पदो से सयोजित कर चिन्तन करने पर उसकी गुणात्मकता की अनुभूति हो सके और आत्मा विकास पथ पर प्रयाण करने के सत्साहस को बढा सके।

मै रत्नत्रयाराधक मुनि हूं!

मैं अपने आत्मस्वरूप को पहिचानता हू, सम्यक् दृष्टि और सुव्रती बनता हू तथा रत्नत्रयाराधक मुनि बन जाता हू।

मैं छ काया के जीवों का रक्षक हू, अत मैं ऐसे किसी कार्य का उपदेश नही देता जिससे किसी भी प्रकार की जीव हिसा हो। मैं अहिसा को परम धर्म मानता हू और महावीरता। जो व्यक्ति भयकर शस्त्रास्त्र एकत्रित करके स्वरक्षा और परसहार के लिये दीनहीन दु खियो के प्राण हरता है, वह कदापि वीर नहीं हो सकता। यदि उसे वीर कहें तो अधिक झूठ बोलने वाले, चोरी

करने वाले, व्यभिचारी और आडम्बरी भी वीर कहलाए। वीर का अर्थ होता है उत्साहपूर्णता और यह उत्साह फूटना चाहिये अपने ही आत्मदोषो के निवारण मे। अपने ही भीतर रहे हुए द्वेष, हिसा, क्रूरता, क्रोध आदि दोषो से युद्ध करना सच्ची वीरता है। अत मैं वीर हू–अहिसक वीर। मे किसी भी जीव के प्राणो का व्यतिरोपण न स्वय करता हू, न दूसरे से करवाता हू तथा न करने वाले का किसी भी रूप मे अनुमोदन करता हू। इसका पालन मैं अपने मन, वचन और अपनी काया से करता हू। अत मैं कच्चा पानी, कच्चे शाक या फल, कच्चा धान या ऐसी किसी वस्तु को जिसमे जीवाणुओ का अस्तित्व हो–उपयोग मे तो लेना दूर, उनका स्पर्श तक नही करता हू ताकि छोटे से छोटे जीवो के प्राण भी मेरे द्वारा कष्टित न हो। इतना ही नहीं, भिक्षा के समय यदि जीवाणुओ से युक्त कोई वस्तु भी मेरे लेने योग्य वस्तु से छू रही हो तो उस लेने योग्य वस्तु को भी मैं ग्रहण नही करता हू। समस्त जीवो के प्रति दया, करुणा, अनुकम्पा एव रक्षा के भावो से मेरा हृदय सदा सर्वदा यतना और सजगतापूर्वक सतत सावधान रहता है।

मैं असत्य अथवा असत्कथन का भी सर्वथा त्यागी होता हू। असत् कथन तीन प्रकार से हो सकता है–(1) जो वस्तु सत् (विद्यमान) हो उसका एकदम निषेध कर देना, (2) एकदम निषेधन करते हुए भी उसका वर्णन इस प्रकार करना कि जिससे सुनने वाला भ्रम में पड जाय तथा (3) बुरा वचन सुनने वाले को कष्ट हो या सत्य होने पर भी जिस कथन मे दूसरे को हानि पहुचाने की दुर्भावना हो। यद्यपि असत्कथन को ही अनृत कहा गया है, किन्तु मन, वचन और काया से असत्य का अर्थ लेने पर असत् चिन्तन, असत्कथन और असदाचरण से भी मैं दूर रहता हू। मैं किसी के विषय मे न बुरा सोचता हू, न बुरा कहता हू और न बुरा आचरण करता हू। मैं सत्य की शोध को सफल बनाने के लिये प्रमत्त योग का त्याग करता हू, मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में एकरूपता लाने का अभ्यास करता हू तथा क्रोधादि कषाय का भी त्याग करता हू, क्योकि कई बार क्रोधादि के आवेश मे भी असत्य भाषण हो जाता है। सत्य होने पर भी मैं दुर्भावना से न किसी बात को सोचता हू, न बोलता हू और करता हू।

मैं अदत्तादान को स्तेय कर्म मानता हू और उसका मैं सर्वथा त्याग करता हू। दूसरे के अधिकार की कोई भी वस्तु चाहे वह तृण के समान मूल्यरहित हो–मुझे अभीष्ट नहीं है। किसी वस्तु के प्रति लालसा की वृत्ति ही मेरे लिये त्याज्य है। मे मानता हू कि कहीं भी ग्राम नगर मे अथवा अरण्य मे

सचित, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना अदत्तादान है तो प्राणधारी आत्मा प्राणहरण भी उसकी आज्ञा न होने से अदत्तादान है। वीतराग देवो द्वारा निषिद्ध आचरण का सेवन करना भी अदत्तादान है तो गुरु की आज्ञा के बिना कोई वस्तु ग्रहण करना भी अदत्तादान है। मैं सचित पदार्थ हो या अचित्त पदार्थ, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य पदार्थ यहा तक कि दात कुरेदने का तिनका ही क्यो न हो, स्वामी से याचना किये बिना न स्वय ग्रहण करता हू, न दूसरो को ग्रहण करने के लिये प्रेरित करता हू और न ग्रहण करने वालो का अनुमोदन ही करता हू।

मैं मैथुन का सर्वथा त्याग कर आत्मस्वरूप मे रमण करता हू, क्योकि काम राग जनित कोई भी चेष्टा चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा अप्राकृतिक–अब्रह्मचर्य होता है तथा अब्रह्मचर्य आत्म विकास का अवरोधक होता है। मैं ब्रह्मचर्य का अमित महत्त्व मानता हू क्योकि एक मात्र ब्रह्मचर्य की साधना करने से अन्य सभी गुणो की साधना हो जाती है। शील, तप, विनय, सयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति–ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हैं। मैं पूर्ण प्रयत्नशील रहता हू कि स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम चेष्टा एव कटाक्ष आदि को मन मे तनिक भी स्थान न दू एव रागपूर्वक देखने तक की भी कोशिश न करू, मैं जानता हू कि मुझे स्त्रियो को न रागपूर्वक देखना चाहिये और न उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियो का चिन्तन और कीर्तन भी मुझे नहीं करना चाहिये। मैं सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए उत्तम ध्यान मे लीन रहता हू। मैं अपने मन, वचन, काया को गोपन करने वाला मुनि हू और वस्त्राभूषण से अलकृत सुन्दर अप्सराए भी मुझे मेरे मुनि धर्म और सयम से विचलित नहीं कर सकती हैं, फिर भी मैं सर्वतया हितकारी एकान्तवास का आश्रय लेता हू। मैं अपने लिये टूटे हुए हाथ पैर वाली और कटे हुए कान नाक वाली सौ वर्ष की बुढिया का सग भी वर्जनीय मानता हू। मैं पूर्णतया स्थिरचित्त होता हू फिर भी आर्याओ तक का अधिक सम्पर्क समुचित नहीं मानता हू। मैं अपने लिये शरीर के श्रृगार, स्त्रियों के ससर्ग तथा पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन को तालपुट विष के समान मानता हू। ये मेरे सयम की घात करने वाले होते हैं। नव वाड से ब्रह्मचर्य का पालन मेरा महाव्रत है।

मैं निग्रथ और निष्परिग्रही हू। किसी भी वस्तु मे चाहे वह छोटी बडी, जड़, चेतन, बाह्य आभ्यन्तर या किसी भी प्रकार की हो, मेरी कोई आसक्ति नहीं है और जब आसक्ति नहीं है तो उसमें बध जाने या विवेक खोकर

परिग्रही कहलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं जानता हू कि वास्तविक परिग्रह धन सम्पत्ति स्वय न होकर उसमे रही हुई व्यक्ति की मूर्छा रूप होता है। मूर्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट् भी अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्छा होने से एक भिखारी भी परिग्रही होता है। भिखारी ही क्यो, अपने वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो मे मूर्छा भाव रखकर मुनि भी परिग्रही हो सकता है। मैं किसी भी वस्तु का सग्रह करने की इच्छा तक नहीं करता हू क्योकि ऐसी इच्छा करने वाला साधुवेश रखते हुए भी साधु नहीं होता। मैं वस्त्र, पात्र, कबल और रजोहरण आदि जो भी वस्तुए रखता हू, वे एक मात्र सयम की रक्षा के लिये रखता हू तथा अनासक्त भाव से उनका उपयोग करता हू। मैं यत्नशील रहता हू कि अपने शरीर पर भी ममत्व न रखू–उसे मात्र धर्म साधन मानकर चलाऊ। मैं ममत्व बुद्धि का त्याग करते हुए स्वीकृत परिग्रह का त्याग करता हू और मेरा विश्वास है कि जब मेरे ममत्व और परिग्रह नही होगे तो मैं ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना के मार्ग पर ही अग्रगामी बनूगा।

मैं नि शल्य व्रती हू क्योकि सच्चे त्याग के लिये शल्यरहित होना नितान्त आवश्यक है। शल्य तीन हैं–(1) दम्भ, पाखड या मायाचार, (2) भोगो की लालसा तथा (3) असत्य का आग्रह एव सत्य के प्रति अश्रद्धा। मैं इन तीनो शल्यो को मानसिक दोष मानता हू और इन तीनो से मुक्त रहने को श्रेयस्कर, क्योकि ये तीनो शल्य शरीर, मन और आत्मा को अस्वस्थ बनाते हैं। शल्य रखते हुए कोई भी कैसा भी व्रत ले ले किन्तु उस का वह समुचित रीति से पालन नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार शरीर में कोई काटा या तीखी चीज धस जाय तो वेदना से तन, मन अशान्त हो जाता है, उससे भी ये तीनों शल्य आत्मा के लिये अत्यन्त वेदनाकारी होते हैं। इसलिये मैं शल्य रहित होकर अपने मुनिव्रतो का अनुपालन करता हू।

मेरा मुनि धर्म किसी जाति, कुल, सम्प्रदाय, वेश या क्रियाकाड विशेष को महत्त्व नहीं देता। मेरे लिये वीतराग प्ररूपित सयम, त्याग और तप ही महत्त्वपूर्ण हैं। धर्माराधना और शरीर निर्वाह के लिये जितने उपकरणों की मर्यादा है, उससे अधिक मैं नहीं रखता। मैं कोई धातु या उससे बनी वस्तु या रुपया पैसा मुद्रा भी अपने पास नहीं रखता हू। आवश्यकता पडने पर सुई तक भी यदि गृहस्थ के पास से लाता हू तो उसे उसी दिन सूर्यास्त के पहिले लौटा देता हू। मैं सूर्यास्त के बाद न कुछ खाता हू, न पीता हू न वैसी कोई वस्तु अपने पास रखता हू। सदा पैदल विहार करता हू–पैरो में जूते नहीं पहिनता या सिर पर पगडी, टोपी, छाता नहीं लगाता। जलती हुई धूप हो

या कडकडाती सर्दी—नगे पैर और नगे सिर ही रहता हू। स्वावलम्बी और निष्परिग्रही होने के कारण नापित आदि से बाल नही बनवाता, बल्कि अपने ही हाथो से उन्हे उखाड कर लोच करता हू। इसी प्रकार मैं गृहस्थ से भी कभी सेवा नही करवाता और बीमारी या अशक्ति मे ही अत्यन्त सकोचपूर्वक अपने साथी मुनि की सहायता लेता हू। मेरा आहार न मैं किसी से बनवाता हू और न अपने निमित्त बने हुए आहार को ग्रहण ही करता हू। जैसे गाय चरती है ऊपर के घास को और उसे उखाडती नहीं है, उसी प्रकार मैं गृहस्थी के घर से थोडा थोडा आहार भिक्षा मे लाकर गोचरी करता हू जिससे उन्हें न कष्ट हो और न भोजन दुबारा बनाना पडे। मैं विविध तपस्याए करता हुआ सयम पूर्वक अपना निर्वाह करता हू और आत्म रमण की अवस्था मे रहता हू। मैं प्रति दिन प्रात एव साय प्रतिक्रमण के माध्यम से अपने पापो की आलोचना करता हू, प्रायश्चित लेता हू तथा भविष्य मे उन्हे न दोहराने का सकल्प ग्रहण करता हू। सयम की रक्षा के लिये कठिन परीषह भी मैं हर्षपूर्वक सहता हू। अपने आचार के अनुसार निर्दोष आहार न मिले तो में स्वेच्छापूर्वक अनशन तप कर लेता हू तथा निर्दोष जल न मिलने पर शान्तिपूर्वक तृषा को भी सह लेता हू। मेरी प्रत्येक वृत्ति और प्रवृत्ति समता वृत्ति को बढाने वाली होती है कि मैं समभावी और समदृष्टि बनते हुए समताधारी बनू।

मैं क्षान्त, दान्त, निरारभी हू। मेरी क्षमा और मेरी जितेन्द्रियता मुझे छ काया के जीवो के रक्षक के रूप मे निरारभी बनाती है। समस्त त्रस एव स्थावर जीवो की रक्षा करने के कारण मैं अनाथ नही रहा, उनका नाथ हो गया। जो निर्ग्रंथ धर्म को अगीकार तो कर लेते हैं किन्तु परीषह एव उपसर्गों के आने पर कायर बन जाते हैं और साधु धर्म का सम्यक् पालन नहीं करते हैं, यह उनकी अनाथता होती है। मैं ऐसी अनाथता को समझता हू तथा उसे पास मे भी नहीं फटकने देता।

मैं पाच समिति और तीन गुप्ति का आराधक हू। इस रूप मे मैं प्राणतिपात से निवृत्त होने के लिये यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृति करता हू वही समिति है। मैं ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के निमित्त युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि मे यतनापूर्वक गमनागमन करता हू, यतनापूर्वक ही भाषण मे प्रवृत्ति करता हू, गवैषण, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी ऐषणा के दोषो से अदूषित विशुद्ध आहार, पानी, उपकरण, शय्या, पार आदि औपग्रहिक उपधि को ग्रहण करता हू, यतनापूर्वक भाड आदि उपकरणो को देखता, पूजता व रखता हू तथा उपयोग पूर्वक परिठवने योग्य लघुनीत, मल,

मेल आदि को परिठवता हू। मैं इस प्रकार अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग मे प्रवृत्ति करता हू। मैं मनोगुप्ति के माध्यम से पापपूर्ण सकल्प-विकल्प नही करते हुए योग के साथ अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त होता हू, वचन के अशुभ व्यापार को त्याग कर विकथा न करते हुए मौन रहता हू एव कायिक व्यापारो मे प्रवृत्ति न करते हुए अयतना का परिहार कर अशुभ व्यापारो का त्याग करता हू।

मैं आहार की गवैषणा की शुद्धि के लिये सोलह उद्‌गम दोष, सोलह उत्पादन दोष तथा दस ऐषणा दोष कुल बयालीस दोषो का परिहार करता हू। उद्‌गम दोष हैं–(1) आधाकर्म–किसी खास साधु को मन में रखकर उसके निमित्त से सचित वस्तु को अचित्त करना या अचित्त वस्तु को पकाना। यह दोष प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, सवसन और अनुमोदन रूप चार प्रकार से लगता है। (2) औद्देशिक–सामान्य याचको को देने की बुद्धि से आहार आदि तैयार करना। किसी खास साधु के लिये बनाया गया आहार यदि वही साधु ले तो आधाकर्म दोष और दूसरा साधु ले तो औद्देशिक दोष होता है। (3) पूर्तिकर्म–शुद्ध आहार मे आधा कर्म आदि का अश मिल जाना। ऐसा थोडा सा अश भी पूरे निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। (4) मिश्रजात–अपने और साधु के निमित्त से एक साथ पकाना। (5) स्थापन–साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिये आहार को अलग रख देना। (6) प्राभृतिका–साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिये जीमनवार या निमत्रण के समय को आगे पीछे करना। (7) प्रादुष्करण–आहार आदि को अधेरी जगह मे से प्रकाश वाली जगह मे लाना। (8) क्रीत–साधु के लिये आहार मोल लाना। (9) प्रामित्य–साधु के लिये उधार लिया हुआ आहार लाना। (10) परिवर्तित–साधु के लिये आटा–साटा करके आहार लाना। (11) अभिहृत–साधु के लिये एक से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार। (12) उद्‌भिन्न–साधु को घी वगैरा के लिये सील बन्द कुप्पी का मुह खोलकर देना। (13) मालापहृत–एडिया उठाकर या निसरणी लगाकार आहार देना। (14) आच्छेध–अपने आश्रित से छीनकर साधु को देना। (15) अनिसृष्ट–किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सबकी इच्छा के बिना देना। (16) अध्यवपूर्वक–साधुओ के आने का सुनकर आधण मे अधिक ऊरा हुआ देना। उत्पादना के सोलह दोष–(1) धात्री–धाय को नौकरी लगवा कर आहार लेना (2) दूती–दूत का काम करके आहार लेना (3) निमित्त–ज्योतिष बता कर आहार लेना (4) आजीव–जाति, कुल प्रकट करके आहार लेना (5) वनीपक–प्रशसा करके या दीनता दिखाकर आहार लेना (6)

चिकित्सा–औषधि बताकर आहार लेना (7) क्रोध–गुस्सा करके या शाप, आदि का डर दिखाकर आहार लेना (8) मान–प्रभाव जमा कर आहार लेना (9) माया–छलावा करके आहार लेना (10) लोभ–जिह्वा के स्वाद लोभ मे अमुक आहार के लिये भटकना (11) प्राक्पश्चात्सस्तव–पहले या पीछे दाता की तारीफ करके आहार लेना (12) विद्या–विद्या (जप होप आदि से सिद्ध) का प्रयोग करके आहार लेना (13) मन्त्र–मन्त्र प्रयोग से आहार लेना (14) चूर्ण–अदृश्य करने वाले सुरमे आदि के प्रयोग से आहार लेना। (15) योग–सिद्धिया बताकर आहार लेना (16) मूलकर्म–सावद्य क्रियाए (गर्भपात आदि) बताकर आहार आदि लेना। ग्रहणैषणा के दस दोष–(1) शकित–आधाकर्म आदि दोषो की शका हो जाने पर भी आहार लेना (2) म्रक्षित–सचित्त वस्तु से छू जाने पर भी आहार लेना (3) निक्षिप्त–सचित्त वस्तु के ऊपर रखी वस्तु लेना (4) पिहित–सचित्त वस्तु द्वारा ढकी हुई वस्तु लेना (5) साहरित–जिस बर्तन मे सचित्त वस्तु रखी हो, उसमे से सचित्त वस्तु निकाल कर उसी बर्तन से दिया आहार लेना (6) शराब पिये हुए व्यक्ति से या गर्भिणी महिला से या इसी प्रकार के किसी व्यक्ति से जो दान देने का अधिकारी न हो, उससे दान लेना (7) उन्मिश्र–सचित–अचित्त मिला हुआ आहार लेना (8) अपरिणत–पूरे पाक के बाद वस्तु के निर्जीव होने से पहिले ही उसे ले लेना (9) लिप्त–लेप करने वाली रसीली वस्तुओ को लेना (10) छर्दित–जिसके छींटे नीचे पड रहे हो वैसा आहार लेना। मैं इन बयालीस दोषो को टालकर आहार आदि की गवैषणा करता हू और निर्दोष आहार मिलने पर ही उसे ग्रहण करता हू, अन्यथा आहार आदि से सम्बन्धित परीषहो को सहन करता हू।

मैं अपने साध्वाचरण को समाचारी पूर्वक श्रेष्ठ बनाये रखता हू और उस समाचारी के इन दस नियमो का पालन करता हू–(1) इच्छाकार–मैं अपने साथी साधु से किसी कार्य की प्रार्थना करते अथवा स्वयमेव उसके द्वारा मेरा कार्य करते समय इच्छाकार कहता हू अर्थात् कोई भी कार्य बलपूर्वक नहीं किया कराया जाता। (2) मिथ्याकार–सयम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो तो उस पाप के लिये मैं 'मिच्छामि दुक्कड' कहकर अपने पाप के निष्फल होने का पश्चाताप करता हू। (3) तथाकार–मैं सूत्र आदि के विषय मे गुरु को जब कुछ पूछता हू और वे उत्तर देते हैं तो मैं 'जैसा आप कहते हैं, वही ठीक है', ऐसा कहता हू। (4) आवश्यिका–आवश्यक कार्य के लिये जब मैं उपाश्रय से बाहर निकलता हू तो 'आवस्सिया' कहता हू कि मैं आवश्यक कार्य के लिये जाता हू। (5) नैषेधिकी–बाहर से वापस उपाश्रय

मे लौटते हुए मैं 'निसीहिया' कहता हू कि अब मुझे बाहर जाने का कोई काम नही है। (6) आपृच्छना–किसी कार्य मे प्रवृत्ति करने से पहिले मे गुरु से 'क्या मैं यह करू' ऐसा पूछता हू। (7) प्रतिपृच्छा–गुरु ने पहले जिस काम का निषेध कर दिया है, उसी कार्य मे आवश्यकतानुसार फिर प्रवृत्ति करनी हो तो मैं गुरु से उसकी पुन आज्ञा प्राप्त करता हू। (8) छन्दना–पहले लाये हुए आहार के लिये अपने साथी साधुओ को आमत्रण देता हू। (9) निमत्रणा–आहार लाने के लिये अपने साथी साधुओ को निमत्रण देता हू या पूछता हू। (10) उपसपद्–ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिये मैं अपना गच्छ छोडकर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेता हू।

मुझ सर्वथा परिग्रह के त्यागी, छ काया के रक्षक सयमस्थित मुनि के लिये बावन बाते आचरण के अयोग्य, अकल्पनीय तथा अनाचीर्ण बतलाई गई है जिनका मैं परिहार करता हू। वे इस प्रकार हैं–(1) औद्देशिक–साधु के निमित्त से तैयार किये गये वस्त्र, पात्र, मकान, आहार आदि स्वीकार कर सेवन करना। (2) क्रीतकृत–साधु के लिये आहार आदि मोल लिया गया हो उसका सेवना करना। (3) नियाग–आहार पानी के लिये आमन्त्रित होकर गृहस्थ के घर से भिक्षा लाना। (4) अभ्याहृत–घर या गाव से सामने लाया हुआ आहार लेना। (5) रात्रि भोजन–रात्रि मे आहार लेना या दिन मे लाया हुआ रात मे खाना। (6) स्नान–देश या सर्व स्नान करना। (7) गध–चन्दन आदि सुगधित वस्तुओ का सेवन करना। (8) माल्य–पुष्पमाला का सेवन करना। (9) विजन–पखे आदि से हवा लेना। (10) सन्निधि–गुड, घी आदि वस्तुओ का सचय करना। (11) गृहिमात्र–गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करना। (12) राजपिड–राजा के लिये तैयार किया गया आहार लेना। (13) किमिच्छिक–'तुमको क्या चाहिये?'–ऐसा याचक से पूछकर जहा उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता है ऐसी दानशाला आदि से आहार लेना। (14) सबाधन–अस्थि, मास, त्वचा और रोम के लिये सुखकारी मर्दन अर्थात् हाथ, पैर आदि अवयवों को दबाना। (15) दन्त प्रधावन–अगुली आदि से दात साफ करना। (16) सप्रश्न–गृहस्थ से कुशल आदि रूप सावध प्रश्न पूछना। (17) देह प्रलोकन–दर्पण आदि मे अपना शरीर देखना। (18) अष्टापद नालिका–नाली से पाशे फैंककर या अन्यथा जुआ खेलना। (19) छत्रधारण–स्वय छत्र धारण करना या कराना। (20) चिकित्सा–रोग का ईलाज करना या बलवर्धक औषधियो का सेवन करना। (21) उपानह–जूते मौजे आदि पहिनना। (22) आरम–अग्नि का आरभ करना। (23) शय्यातर पिंड–शय्या, मकान आदि देने

वाले गृहस्थ के घर से आहार लेना। (24) आसन्दी–बेंत आदि के बने हुए आसन पर बैठना। (25) पर्यंक–पलग, खाट आदि का उपयोग करना। (26) गृहान्तर निषद्या–गृहस्थ के घर जाकर बैठना या दो घरो के बीच मे बैठना। (27) गात्रोद्वर्तन–मैल उतारने के लिये शरीर पर उबटन करना। (28) गृही वैयावृत्य–गृहस्थ की सेवा लेना। (29) आजीववृत्तिता–जाति, कुल आदि बताकर भिक्षा लेना। (30) तप्तानिवृत्तभोजित्व–मिश्र पानी का भोगना। (31) आतुर स्मरण–भूख आदि से पीडित होने पर पहले भोगे हुए भोज्य पदार्थों को याद करना। (32) सचित्त–सचित्त मूले का सेवन करना। (33) सचित्त–अदरख का सेवन करना। (34) सचित्त–इक्षुखड (गडेरी) का सेवन करना। (35) कन्द–वज्रकद आदि कदो का सेवन करना। (36) सचित्त–मूल (जड) का सेवन करना। (37) सचित्त–आम, नींबू आदि सचित्त फलो का सेवन करना। (38) सचित्त–तिल आदि सचित्त बीजो का सेवन करना। (39) सचित्त–सचल नमक का सेवन करना। (40) सचित्त–सैंधव नमक का सेवन करना। (41) सचित्त–रूमा लवण का सेवन करना। (42) सचित्त–समुद्री नमक का सेवन करना। (43) सचित्त–ऊपर से नमक का सेवन करना। (44) सचित्त–काले नमक का सेवन करना। (45) धूपन–अपने वस्त्रादि को धूप आदि लेकर सुगधित करना। (46) वमन–औषधि लेकर वमन करना। (47) वस्तिकर्म–मल आदि की शुद्धि के लिये वस्तिकर्म करना। (48) विरेचन–पेट साफ करने के लिये जुलाब लेना। (49) अजन–आखों मे अजन लगाना। (50) दतकाष्ठ–दतौन आदि से दात साफ करना। (51) गात्राभ्यग–सहस्रपाक आदि तेलों से शरीर का मर्दन करना तथा (52) विभूषण–वस्त्र, आभूषण आदि से शरीर की शोभा करना। इन सभी बावन अनाचार को टालते हुए मैं अपनी सयम–यात्रा करता हू।

मेरे साधु होने का स्पष्ट अर्थ है मैं सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा मोक्ष की साधना में रत रहता हू और तदनुसार अपने मे उल्लिखित सत्ताईस गुणो का सद्भाव रहे–ऐसा यत्न करता हू। वे गुण इस प्रकार हैं–(1–5) अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाच महाव्रतो का सम्यक् पालन करना। (6) रात्रि भोजन का त्याग करना। (7–11) श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय इन पाचो इन्द्रियो को वश मे रखना–न इष्ट मे राग और न अनिष्ट में द्वेष। (12) भावसत्य–अन्त करण की भावनाओ की शुद्धि रखना। (13) करण सत्य–वस्त्र, पात्र आदि की प्रतिलेखना तथा अन्य ब्राह्य क्रियाओं को शुद्ध उपयोग पूर्वक करना। (14) क्षमा–क्रोध और मान का निग्रह अर्थात् दोनो कषायो को उदय मे नहीं आने देना।

(15) विरागता–निर्लोभी वृत्ति रखना अर्थात् माया और लोभ कषायो को उदय मे नही आने देना। (16) मन की शुभ प्रवृत्ति (17) वचन की शुभ प्रवृत्ति (18) काया की शुभ प्रवृत्ति (19–24) पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय रूप छः काय के जीवो की रक्षा करना। (25) योग सत्य–मन, वचन काया रूप तीनों योगो की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध तथा शुभता मे प्रवृत्ति। (26) वेदनातिसहनता–शील, ताप आदि वेदना को समभाव से सहन करना तथा (27) मारणन्तिकातिसहनता–मृत्यु के समय आने वाले कष्टो को सहन करना और ऐसा विचार करना कि ये कष्ट मेरे आत्म कल्याण के लिये हैं।

मैं सच्चा साधु या भिक्षु बनने का निरन्तर अध्यवसाय करता रहता हू क्योकि (1) मैं वीतराग देवो की आज्ञानुसार दीक्षा लेकर उनके वचनो मे दत्तचित्त रहता हूं और न स्त्रियों के वश में होता हू तथा न त्यागे हुए विषयो का फिर से सेवन करता हू। (2) मैं पृथ्वी को न स्वय खोदता हू, न दूसरे से खुदवाता हू, सचित्त जल न स्वयं पीता हू, न दूसरे को पिलाता हू, तीक्ष्ण शस्त्र के समान अग्नि को न स्वय जलाता हू न दूसरे से जलवाता हू। (3) मैं पंखे आदि से हवा न स्वयं करता हू न दूसरे से करवाता हू, वनस्पति काय का छेदन न मैं स्वयं करता हू, न दूसरे से करवाता हू और न बीज आदि सचित्त वस्तुओ का आहार करता हू। (4) मैं औदेशिक या अन्य प्रकार से सावद्य आहार का सेवन नहीं करता और भोजन न स्वयं बनाता हू, न दूसरे से बनवाता हू न बनाने वाले को अच्छा समझता हू। (5) मैं वीतराग देवों के वचनो मे अटूट श्रद्धा रखते हुए छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता हू, पाच महाव्रतों का पालन करता हू तथा पाच आश्रवो का निरोध करता हूं। (6) मैं चार कषायो को छोडता हू, परिग्रह से रहित होता हू एवं ग्रहस्थों के साथ अधिक संसर्ग नहीं रखता हू। (7) मैं सम्यक् दृष्टि हू, विवेकवान हू तथा ज्ञान, तप व संयम पर विश्वास रखता हू, तपस्या द्वारा पुराने पापों की निर्जरा करता हू और अपने मन, वचन, काया को वश में रखता हू। (8) मैं विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम को प्राप्त कर उन्हें दूसरे या तीसरे दिन के लिये न सचित रखता हू, न दूसरे से रखवाता हू।

(9) मैं विविध प्रकार के अशन पान आदि मिलने पर साधर्मी साधुओ को निमन्त्रित करके स्वय आहार करता हू और स्वाध्याय में लग जाता हू। (10) मैं क्लेश उत्पन्न करने वाली बाते नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं करता, निज इन्द्रियो को चचल नहीं होने देता, सदा प्रशान्त रहता हू, मन, वचन,

काया को दृढतापूर्वक सयम मे स्थिर रखता हू, कष्टों को शान्ति से सहता हू तथा उचित कार्य का अनादार नही रता हू। (11) मैं इन्द्रियो को कटक के समान दु ख देने वाले आक्रोश, प्रहार तथा तर्जना आदि को शान्ति से तथा भय, भयकर शब्द व प्रहास आदि के उपसर्गों को समभाव से सहता हू। (12) मैं श्मशान मे प्रतिमा अगीकार करके भूत, पिशाच आदि के भयकर दृश्यो को देखकर भी विचलित नही होता हू और विविध प्रकार के तपाराधन मे शरीर की चिन्ता नहीं करता हू। (13) मैं अपने शरीर के ममत्व को भी छोड देता हू—बार बार धमकाये जाने पर, मारे जाने पर या घायल हो जाने पर भी शान्त रहता हू तथा निदान या कौतूहल के बिना पृथ्वी के समान सभी कष्टो को समभाव पूर्वक सहता हू। (14) मैं अपने शरीर से परीषहो को जीत कर अपनी आत्मा को जन्म—मरण के चक्र से निकालता हू, जन्म मरण को महाभय समझ कर तप और सयम मे लीन रहता हू। (15) मैं अपने हाथ, पैर, वचन और इन्द्रियो पर पूर्ण सयम रखता हू—सदा आत्म चिन्तन करता हुआ समाधि मे लीन रहता हू एव यथार्थ को अच्छी तरह से जानता हू। (16) मैं भडोपकरण आदि उपधि में किसी प्रकार की मूर्छा या गृद्धि नही रखता हू, अज्ञात कुल की गोचरी करता हू। चारित्र का घात करने वाले दोषो से अलग रहता हू। मैं क्रय, विक्रय या सन्निधि से दूर रहता हू और सभी प्रकार के सगो से अलग रहता हू। (17) मैं चचलता रहित होता हू, रसो में गृद्ध नही होता हू, जीवित रहने की भी अभिलाषा नहीं रखता हू तथा ज्ञान आदि गुणो मे आत्मा को स्थिर करके निश्छल वृत्ति से ऋद्धि, सत्कार, पूजा आदि की इच्छा नही रखता हू। (18) मैं दूसरे को कुशील नही कहता या ऐसी भी कोई बात नहीं कहता जिससे उसे क्रोध आवे और पुण्य व पाप के स्वरूप को जानकर मैं अपने को बडा नहीं मानता। (19) मैं जाति, रूप, लाभ व श्रुत का मद नहीं करता और सभी मद त्याग कार धर्मध्यान मे लीन रहता हू। (20) मैं वीतराग देवो के सिद्धान्तो का सुपाठक हू तथा धर्म का शुद्ध उपदेश देता हू, स्वय धर्म मे स्थिर रहकर दूसरों को स्थिर करता हू एव दीक्षिक होकर कुशील, आरभ आदि छोड कर निन्दनीय परिहास या कुचेष्टाए नहीं करता हू। (21) मैं भावना भाता हू कि उपरोक्त गुण—सम्पन्नता प्राप्त करते हुए मैं इस अपवित्र और नश्वर देहवास को छोडकर मोक्षरूपी हित मे अपने को स्थिर करके जन्म मरण के बधन को तोड दू तथा ऐसी गति में जाऊ जहा से वापस आगमन न हो अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लू।

मैं सर्वविरति साधु के रूप में तीन मनोरथो का चिन्तन करता हू कि (1) कब वह शुभ समय आवेगा जब मैं अल्प या अधिक शास्त्र—ज्ञान सीखूगा

(2) कब वह शुभ समय आवेगा, जब मैं एकल विहार की भिक्षु प्रतिमा (भिक्खू पडिमा) अगीकार कर विचरूगा तथा (3) कब वह शुभ समय आवेगा जब मैं अन्त समय मे सलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर, पादोपगमन मरण अगीकार कर जीवन मरण की इच्छा नही करता हुआ विचरूगा।

मैं अपने अभिग्रह विशेष रूप भिक्षु प्रतिमाए अगीकार करूगा। ये प्रतिमाए बारह हैं जो सात एक से लेकर सात मास तक की जाती हैं तथा आठ से दस सात दिवस रात्रि तक और ग्यारहवीं एक अहोरात्रि तक एव बारहवी प्रतिमा केवल एक रात्रि तक की होती हैं। बारह प्रतिमाए इस प्रकार हैं–(1) पहली प्रतिमा में एक दत्ति अन्न और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। एक अखड धारा को एक दत्ति कहते हैं। जहा एक व्यक्ति के लिये भोजन बना हो, वही से भिक्षा लेनी चाहिये। याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी, पुट्ठ वागरणी, आदि चार प्रकार की भाषा बोलनी चाहिये, तीन प्रकार के स्थान पर ठहरना चाहिये तथा विहार कष्ट सहने चाहिये। एक माह की इसकी अवधि है। तदनन्तर दूसरी से लेकर सातवीं प्रतिमा तक पहली प्रतिमा के सभी नियमो का पालन करते हुए प्रतिमा के क्रमानुसार दो से लेकर सात दत्ति अन्न व पानी ग्रहण किया जाता है। फिर आठवीं प्रतिमा में एकान्तर चौविहार उपवास किया जाता है तथा ध्यान में कायक्लेश सहित समय व्यतीत किया जाता है। नवमी प्रतिमा मे चौविहार बेले बेले पारणा किया जाता है एव दडासन, लकुडासन और उत्कुटासन से ध्यान किया जाता है। दसवीं प्रतिमा मे चौविहार तेले तेले पारणा किया जाता है तथा गोदोहनासन, वीरासन व आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है। ग्यारहवीं प्रतिमा मे, जो अहोरात्रि की होती है, चौविहार बेला किया जाता है और दोनो पैरो को कुछ सकुचित कर हाथो को घुटना तक लम्बा करके कायोत्सर्ग किया जाता है। एक रात्रि की बारहवी प्रतिमा मे चौविहार तेले के साथ अनिमेष नैत्रो से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है।

मैं समता रूप सामायिक को धारण करने वाला श्रमण हू, अत (1) सर्प के समान अपना घर नहीं बनाता और एक ही जगह नहीं ठहरता, (2) पर्वत के समान परीषह–उपसर्गो से कम्पित नहीं होता और अनुकूलता–प्रतिकूलता को समभाव से सहते हुए सयम मे दृढ रहता हू (3) अग्नि के समान ज्ञान और सूत्राभ्यास से तृप्त नहीं होता तथा तप रूपी तेज से प्रदीप्त होता हू (4) सागर के समान मर्यादाओ का उल्लघन नहीं करता और छोटी–छोटी बातों से कुपित नहीं होते हुए ज्ञान गभीर बन रहता हू (5) आकाश के समान किसी

के भी आलबन से रहित निरावलम्बी होकर ग्राम नगर आदि मे यथेच्छ विहार करता हू (6) वृक्ष के समान समभाव पूर्वक कष्टो को सहता हू तथा धर्मोपदेश के द्वारा प्राणियो को मुक्ति का मार्ग बतलाता हू–अपमान, सम्मान से समभाव रखता हू (7) भ्रमर के समान एक–एक घर से थोडा–थोडा आहार ग्रहण करता हू ताकि किसी को कष्ट न हो (8) हरिण के समान पाप कार्यो से सदा डरता हू और पाप स्थानो पर एक क्षण के लिये भी नही ठहरता हू (9) पृथ्वी के समान सभी कष्टो को समभाव से सहता हू तथा अपने अपकारी–उपकारी, निन्दक–प्रशसक सबको समान रूप से उपदेश देता हू, (10) कमल के समान शरीर को उत्पत्ति काम भोगो से होने पर भी उसे काम भोगो मे लिप्त नही होने देता हू और उनसे उसे दूर रखता हू (11) सूर्य के समान नवतत्त्वो का स्वय ज्ञाता बनकर धर्मोपदेश द्वारा भय जीवो के अज्ञानान्धकार को दूर करता हू तथा (12) वायु के समान अपनी इच्छानुसार सभी दिशाओ में अप्रतिबद्ध विहार करता हू और जन–जन को कल्याण मार्ग बताता हू।

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हू–सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सतत आराधना करता हू, क्योकि यही मोक्ष का मार्ग है तथा मोक्ष प्राप्ति ही मेरा साध्य है। मुनि पद ही मूल पद है जो उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहत के भी होता है और सिद्ध भी मुनि पद से ही हुआ जाता है।

मै ज्ञान साधक उपाध्याय हूं

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि होता हू, तभी ज्ञान साधक उपाध्याय हो सकता हू, क्योकि गच्छ, गण या सघ की सुव्यवस्था के लिये योग्य साधुओ को विशेष अधिकार युक्त पदवी दी जाती है। सामान्य रूप से इस प्रकार की सात पदविया निश्चित की गई हैं–(1) आचार्य (2) उपाध्याय (3) प्रवर्तक–आचार्य के आदेश से वैयावृत्य आदि धर्म कार्यो में साधुओ को ठीक तरह से प्रवृत्ति कराने वाले, (4) स्थविर–सवर से गिरते हुए या दु खी होते हुए साधुओं को स्थिर करने वाले तथा दीक्षा, वय, शास्त्रज्ञान मे वृद्ध, (5) गणी–कुछ साधुओं के समूह एक गच्छ के स्वामी–शास्ता (6) गणधर–आचार्य की आज्ञा में रहते हुए गुरु के कथनानुसार कुछ साधुओं को लेकर अलग विचरने वाले गण के धारक, तथा (7) गणावच्छेदक–गण की सारी व्यवस्था तथा कार्यो का ध्यान रखने वाले। यो तीन से लेकर सात तक की पदविया आचार्य के अधीन होती हैं अत इनका उस पद मे समावेश मान लिया जाता है। उपाध्याय का पद यद्यपि आचार्य के अनुशासन मे ही होता है तथापि अपने कार्य की गरिमा के कारण पाच पदों में एक वन्दनीय पद माना गया है।

में ज्ञानसाधक उपाध्याय हू। मैं शास्त्र और धर्म साहित्य स्वय पढता हू तथा जिज्ञासा सम्पन्न साधुओ को पढाता हू। ज्ञानार्जन तथा अध्ययन–अध्यापन मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। मैं शिष्यो को सूत्रों का अर्थ सिखाता हू तथा सर्वज्ञभाषित एव परम्परा से गणधर आदि द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अगो तथा बारह उपागो का अध्ययन कराता हू। मेरे उपाध्याय पद के साथ पच्चीस गुणो की सम्पन्नता होनी आवश्यक मानी गई है। धारण किये जाने वाले ये पच्चीस गुण इस प्रकार हैं–

ग्यारह अग

(1) आचाराग सूत्र
(2) सूत्रकृताग सूत्र
(3) स्थानाग सूत्र
(4) समवायाग सूत्र
(5) भगवती सूत्र
(6) ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र
(7) उपासकदशाग सूत्र
(8) अन्त कृदशाग सूत्र
(9) अनुत्तरोपपातिक सूत्र
(10) प्रश्न व्याकरण सूत्र
(11) विपाक सूत्र

बारह उपाग

(1) औपपातिक सूत्र
(2) राजप्रश्नीय सूत्र
(3) जीवाभिगम सूत्र
(4) प्रज्ञापना सूत्र
(5) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र
(6) चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र
(7) सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र
(8) बिरमावक्तिका सूत्र
(9) कल्पवतसक सूत्र
(10) पुष्फिया सूत्र
(11) पुष्प चूलिका सूत्र
(12) वहिनदशा सूत्र

ग्यारह अगो तथा बारह उपागो के ज्ञान रूप गुणो के सिवाय चौबीसवा गुण है चरणसप्तति अर्थात् सदा काल जिन सत्तर बोलों का आचरण किया जाता है चरण सत्तर कहलाते हैं जो इस प्रकार हैं–प्राच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सत्रह सयम, दस वैयावृत्य, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, रत्नत्रय, बारह तप तथा चार कषाय निग्रह। पच्चीसवा गुण कहा गया है करणसप्तति अर्थात् प्रयोजन उपस्थित होने पर जिन सत्तर बोलो का आचरण किया जाता है, वे करण सत्तर कहलाती हैं जो इस प्रकार हैं–चार पिड विशुद्धि, पाच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पाच इन्द्रिय निरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति तथा चार अभिग्रह।

ज्ञान साधना की दृष्टि से ये पच्चीस रूपी ज्ञान का महासागर है, जिसमे उपाध्याय के पद पर रहते हुए निरन्तर डुबकियाँ लगाता हू और ज्ञानार्जन के अमूल्य मोती एकत्रित करता हू तथा साधर्मी साधु की भव्य आत्माओ को उनसे अलकृत बनाता हू। मेरा यह क्षेत्र ऐसा है जिसमे विचरण करते हुए मुझे असीम आत्मानन्द का अनुभव होता हे और यह पूर्ण स्वाभाविक है। कारण, आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है और उस ज्ञान की गहराई मे उतरने का जब मेरी आत्मा को ऐसा सुअवसर प्राप्त है तो असीम आनन्द की अनुभूति पूर्णत स्वाभाविक है। मेरा सम्पूर्ण ससार सम्यक् ज्ञान का ससार है जिसमे मैं अहर्निश रमण करता हू और ज्ञान के मर्म की शोध करता हू। यह शोध ही वस्तुत सत्य की शोध होती है।

सघ व्यवस्था की दृष्टि से भी मेरे पद के आचार्य पद के साथ कई प्रकार के कर्त्तव्य (जिनका विवरण आचार्य पद के विश्लेषण के साथ दिया गया है) निर्धारित हैं, जिनका सम्यक् निर्वाह भी मैं करने मे यत्नरत रहता हू।

मेरे उपाध्याय पद का विशिष्ट महत्त्व है, तभी तो उसे महामत्र मे स्थान दिया गया है। पाच पदो के इस सर्वश्रेष्ठ महामत्र में मेरा पद चौथे स्थान पर है–आचार्य के पद के पश्चात् ही उसका क्रम है। लोक मे विद्यमान सर्व साधुओ को नमस्कार करने के बाद उपाध्याय को नमस्कार किया गया है। यह नमस्कार महामत्र गुणाधारित है, व्यक्तिपरक नही। उस दृष्टि से उपाध्याय को नमस्कार करते हुए किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार किया जाता है, किन्तु उन सभी महापुरुषो को समुच्चय रूप से नमस्कार किया जाता है, जो उपाध्याय पद के धारक हैं तथा इस पद के पच्चीस गुणो से विभूषित हैं। अत मेरी स्पष्ट मान्यता है कि मुझे उपाध्याय पद से किया जाने वाला नमस्कार मुझे नहीं, अपितु मेरे द्वारा अर्जित गुणो को है। इस दृष्टि से मेरी विनम्रता और अधिक बढ जानी चाहिये वरना यदि मैं ही अपने गुणो मे हीनता प्राप्त करता हू तो मैं अपने पद का अधिकारी ही नहीं रहता हू। मैं ज्ञानसाधक उपाध्याय हूँ और ज्ञानसाधना मे तल्लीन बना रहना चाहता हूँ।

मै अनुशासक आचार्य हूँ

मैं अनुशासक आचार्य हूँ–सघ का अनुशासन मेरा दायित्व है। मैं पच प्रकार के आचार का स्वय कठिनता से निष्ठापूर्वक पालन करता हू तथा सघ के सभी साधुओ से उस आचार का उसी रीति से पालन करवाने की चेष्टा मे रत रहता हू। चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग तथा गणितानुयोग रूप चारो अनुयोगो के ज्ञान को मैं धारण करता हू एव चतुर्विध सघ (साधु,

साध्वी, श्रावक व श्राविका) के सचालन मे अपना सामर्थ्य नियोजित रख
हू। मैं स्वय आचार्य पद की अभिलाषा नही करता हू किन्तु मेरे आचार्य
जब मेरे जीवन मे वैसी योग्यता का सद्भाव देखते हैं और मुझे इस पद
लिये मनोनीत करते हैं तब मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं उनके द्व
तथा चतुर्विध सघ की पूर्ण सहमति के आधार पर अपने मनोनयन के बाद
की सचालन व्यवस्था मे अपने दायित्व का पूर्ण नम्रता एव निष्ठा से निव
करू।

यो आचार्य तीन प्रकार के माने गये हैं–शिल्पाचार्य, कलाचार्य त
धर्माचार्य, किन्तु मैं धर्माचार्य के रूप मे दायित्वधारी होता हू। धमाचार्य
श्रुत धर्म का पालन करने वाला, दूसरो को उसका उपदेश देने वाला सघ
नायक होता है और उसकी सेवा पारलौकिक हित–कर्म निर्जरा आदि के लि
की जाती है। वीतराग देवो ने आचार्य पद मे तीन प्रकार की ऋद्धि का नि
दिया है–(1) ज्ञानऋद्धि–विशिष्ट श्रुत की सम्पदा, (2) दर्शनऋद्धि–आगमो
शकारहित होकर प्रवचन की प्रभावना वाले शास्त्रो का ज्ञान, एव
चारित्रऋद्धि–अतिचार हित शुद्ध तथा उत्कृष्ट चारित्र का पालन। इसी दृ
से यह भी निर्देशित किया गया है कि धर्माचार्य की पूर्ण विनय भक्ति की ज
जो इस प्रकार हो–धर्माचार्य को देखते ही उन्हे वन्दना–नमस्कार कर
सत्कार–सम्मान देना, यावत् उनकी उपासना करना, प्रासुक ऐषण
आहार–पानी का प्रतिलाभ देना एव पीढ, फलग, शय्या, सथारे के लि
निमत्रण देना। तदनुसार आचार्य के भी छ कर्त्तव्य निर्धारित किये गये
(1) सूत्रार्थ स्थिरीकरण–सूत्र के विवाद ग्रस्त अर्थ का निश्चय करना और
एव अर्थ मे चतुर्विध सघ को स्थिर करना। (2) विनय–सबके साथ विनम्र
का व्यवहार करना। (3) गुरुपूजा–अपने से दीक्षा वृद्ध याने स्थविर साधु
की भक्ति करना। (4) शैक्षबहुमान–शिक्षा–ग्रहण करने वाले तथा नवदीक्षि
साधुओ का सत्कार करना। (5) दानपति श्रद्धावृद्धि–दान देने में दाता
श्रद्धा मे अभिवृद्धि करना। एव (6) बुद्धिबलवर्धन–अपने शिष्यो की विवे
बुद्धि एव आध्यात्मिक शक्ति को बढाना।

आचार्य पद मे छत्तीसगुणो के सद्भाव का उल्लेख है। आठ सम्पद
तथा प्रत्येक के चार–चार भेद होने से बत्तीस एव विनय के चार भेद मिल
से कुल छत्तीस गुण होते हैं। अन्य अपेक्षा से ज्ञानाचार, दर्शनाचार
चारित्राचार के प्रत्येक के आठ–आठ भेद होने से चोबीस तथा बारह तप मि
कर छत्तीस गुण बताये गये हैं। एक अन्य अपेक्षा से आठ सम्पदा, दस स्थि

कल्प, बारह तप और छ आवश्यक कुल छत्तीस गुण कहे गये हैं। आचार्य की आठ सम्पदाए इस प्रकार मानी गई हैं–(1) आचार सम्पदा–चारित्र की दृढता का सद्भाव। चार भेद (अ) सयम क्रियाओ मे ध्रुवयोग युक्त होना (ब) गर्वरहित होकर सदा विनीत भाव से रहना (स) अप्रतिबद्ध विहार करते रहना व (द) गभीर विचार एव दृढ स्वभाव रखना। अल्प आयु हो तब भी गुरु गभीर रहना। (2) श्रुत सम्पदा–श्रुत ज्ञान रूप शास्त्रो का पूर्ण ज्ञान। चार भेद–(अ) बहुश्रुत अर्थात् शास्त्र ज्ञानी, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के दृष्टा तथा प्रचार मे समर्थ, (ब) परिचित श्रुत अर्थात्-शास्त्रो की पूर्ण स्मृति, उच्चारण शुद्धि तथा स्वाध्याय का अभ्यास, (स) विचित्र श्रुत–अपने और दूसरे मतो को जानकर शास्त्रो का तुलनात्मक ज्ञान, सोदाहरण मनोहर व्याख्यान और श्रोताओ पर प्रभाव। व (द) घोषविशुद्धि श्रुत–शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, त्वरित, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वर–व्यजनो पर पूरा ध्यान हो। (3) शरीर सम्पदा–देह का प्रभावशाली एव सुसगठित होना। चार भेद–(अ) आरोहपरिणाह सम्पन्न–शरीर की लम्बाई–चौडाई–मोटाई सुडौल हो और प्रभाव पूर्ण हो, (ब) विकलाग, अधूरा या बेडौल अग न हो, (स) स्थिर सहनन–शरीर का सगठन स्थिर हो–ढीलाढाला न हो, एव (द) प्रतिपूर्णेन्द्रिय–सभी इन्द्रिया पूर्ण हो, सदोष न हो। (4) वचन सम्पदा–मधुर, प्रभावी एव आदेय वचनो की सम्पन्नता। चार भेद–(अ) आदेय वचन–जनता द्वारा ग्रहण करने योग्य, (ब) मधुर वचन–मीठे वचन हो, कर्णकटु नही, (स) अनिश्चित वचन–कषाय के वशीभूत होकर वचन नहीं निकले, शान्त भाव से बोले। व (द) असदिग्ध वचन–आशय स्पष्ट हो, श्रोताओ मे किसी प्रकार का सदेह उत्पन्न न हो। (5) वाचना सम्पदा–शिष्यो को शास्त्र पढ़ाने की योग्यता। चार भेद–(अ) विचयोद्देश–किस शिष्य को कौनसा शास्त्र किस समय पढाना चाहिये–इसका ठीक निर्देश कर सके, (ब) विचय वाचना–शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे वाचना देना, (स) शिष्य की ग्रहण योग्य बुद्धि देखकर उसे पढाना, तथा (द) अर्थ निर्यापकत्त्व–अर्थ की सगति करते हुए पढाना। यह सगति प्रमाण, नय, कारक, समास, विभक्ति आदि के साथ हो। पूर्वापर सबध के साथ अर्थ विन्यास किया जाय। (6) मति सम्पदा–मतिज्ञान की उत्कृष्टता। चार भेद (अ) अवग्रह, (ब) ईहा, (स) अवाय व (द) धारणा। (7) प्रयोगमति सम्पदा–अवसर का ज्ञाता कि शास्त्रार्थ या विवाद किस समय किया जाय। चार भेद–(अ) अपनी शक्ति को पहले तौल ले, (ब) सभा को समझ कर शास्त्रार्थ मे प्रवृत्त हो, (स) क्षेत्र को समझ कर उपसर्ग आदि का अनुमान लगाले, व (द) शास्त्रार्थ के विषय को भली प्रकार समझ ले। (8) सग्रहपरिज्ञा सम्पदा–वर्षावास आदि के लिये मकान, पाटला,

वस्त्रादि का ध्यान रखकर आचार के अनुसार सग्रह करना। चार भेद–(अ) मुनियो के लिये योग्य स्थान देखना, (ब) पीढ, फलक, शय्या, सथारे वगैरा का ध्यान रखना, (स) समय के अनुसार सभी आचारो का पालन करना तथा कराना, एव (द) अपने से बडो का विनय करना। प्रवचन सारोद्धार के टीकाकरण के अनुसार आचार्य के छत्तीस गुण इस प्रकार भी गिनाये गये हैं–(1) देश युत–साढे पच्चीस आर्य देशो मे जन्म लेने वाला व आर्य भाषा जानने वाला, (2) कुल युत–पितृ पक्ष से उत्तम कुल मे उत्पन्न, (3) जातियुत–मातृपक्ष से उच्च जाति मे उत्पन्न, (4) रूपयुत–स्वरूपवान्, गुणवान् तथा आदेय वचन युक्त, (5) सहनन युत–विशिष्ट शारीरिक सामथर्य युक्त, (6) धृतियुत–विशिष्ट मानसिक स्थिरता एव धैर्य का धारक, (7) अनाशसी–श्रोताओ को खरी बात सुनाने वाला निस्पृही, (8) अविकत्थन– आत्मश्लाघा नहीं करने वाला, मितभाषी (9) अमायी–अशठ और सरल परिणामी, (10) स्थिर परिपाटी–निरन्तर अभ्यास से अनुयोग क्रम को स्थिर कर लेने वाला तथा व्याख्यान मे स्खलित नहीं होने वाला, (11) गृहीत वाक्य–उपादेय वचन के साथ सारगर्भित बोलने वाला, (12) जितपर्षत्–परिषदा को वश मे करने मे कुशल, (13) जितनिद्र–निद्रा को जीतने वाला, थोडा सोने व अधिक चिन्तन–मनन करने वाला, (14) मध्यस्थ–सभी शिष्यो के प्रति समभाव तथा सभी का समान पूज्य, (15–17) देश, काल और भाव का ज्ञाता (18) आसन्नलब्ध प्रतिभ–समयानुकूल तत्काल बुद्धि की उत्पत्ति जिससे अन्य तीर्थी प्रभावित हो तथा शासन की महती प्रभावना हो, (19) नानाविध देश भाषज्ञ–अनेक देशो की भाषाओ का ज्ञाता, (20–24) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य–इन पाच आचारो का उत्साह व उपयोगपूर्वक पालन करने वाला, (25) सूत्रार्थ तदुभय विधिज्ञ–सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम का ज्ञाता–व्याख्याता, (26–29) आहारण हेतु पनय निपुण–आहारण अर्थात् दृष्टान्त, हेतु, उपनय और नय मे कुशल, (30) ग्राहणा कुशल–दूसरो को समझाने की कला मे कुशल, (31, 32) स्व–पर समय वेदी अपने व अन्य तीर्थियों के सिद्धान्तों का जानकार, खडन मडन में सिद्धहस्त, (33) गभीर–तुच्छ व्यवहार के अभाव मे गौरव का रक्षक, (34) दीप्तमान्–तेजस्वी प्रभाव सहित, (35) शिव–कोप न करने वाला लोक कल्याणी एव (36) सोम–सौम्य एव शान्त दृष्टि वाला।

आचार्य पाच प्रकार के कहे गये हैं–(1) प्रव्राजकाचार्य–सामायिक आदि व्रत का आरोपण करने वाले, (2) दिगाचार्य–सचित्त, अचित्त, मिश्र वस्तु की अनुमति देने वाले, (3) उद्देशाचार्य–सर्वप्रथम श्रुत का कथन करने वाले या मूल पाठ सिखाने वाले (4) समुद्देशानुज्ञाचार्य–श्रुत की वाचना देने वाले तथा

गुरु के न होने पर श्रुत को स्थिर परिचित करने की अनुमति देने वाले एव (5) आम्नायार्थ वाचकाचार्य–उत्सर्ग अपवाद रूप आम्नाय अर्थ के कहने वाले।

आचार्य और उपाध्याय मे शेष साधुओं की अपेक्षा पाच अतिशय अधिक माने गये हे।–(1) उत्सर्ग रूप से सभी साधु जब बाहर से आते हैं तो उपाश्रय मे प्रवेश करने से पहिले बाहर ही पैरो को पूजते ओर झटकाते हें किन्तु आचार्य–उपाध्याय बाहर से लोटकर उपाश्रय के बाहर ही खडे रहते हैं और दूसरे साधु उनके पैरो का प्रमार्जन व प्रस्फोटन करते हैं। बाहर न ठहर कर भीतर भी आ जाते हैं तो उनके पैरो को पूजने व झटकाने की सेवा दूसरे साधु करते हैं। यह उनका अतिशय माना गया हे। इससे उनके साध्वाचार का अतिक्रमण नही होता। (2) आचार्य व उपाध्याय का उपाश्रय मे लघुनीत, बडीनीति का अवसर देखना या पेर आदि मे लगी हुई अशुचि को हटाने मे साधु के आचार का अतिक्रमण नही होता। (3) आचार्य व उपाध्याय इच्छा हो तो दूसरे साधुओ की वेयावृत्य करते हैं और इच्छा नहीं हो तो नहीं भी करते हैं। (4) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय मे एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते। (5) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय से बारह एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते।

आचार्य और उपाध्याय सात बातों का ध्यान रखने से ज्ञान अथवा शिष्यों का सग्रह कर सकते हैं। इनसे सघ मे व्यवस्था भी कायम रह सकती है तो दूसरे साधुओ को अपने अनुकूल व नियमानुसार भी चला सकते हैं। वे सात बाते या सग्रह इस प्रकार हैं–(1) आचार्य और उपाध्याय को आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करना चाहिये। किसी काम के लिये विधान करने को आज्ञा कहते हैं और किसी बात से रोकने को धारणा। इस तरह के नियोग (आज्ञा) और नियत्रण (धारणा) के अनुचित होने पर साधु आपस मे अथवा आचार्य के साथ कलह करने लगते हैं जिससे व्यवस्था टूटनी शुरू हो जाती है। उसे भी आज्ञा कहते हैं जब देशान्तर मे रहा हुआ गीतार्थ साधु अपने अतिचार को गीतार्थ आचार्य से निवेदन करने के लिये अगीतार्थ साधु को सामने जो कुछ गूढार्थ पदों में कहता है। उसे भी धारणा कहते हैं जब अपराध की बार बार आलोचना के बाद जो प्रायश्चित विशेष का निश्चय किया जाता है। इन दोनो का प्रयोग यथारीति से किया जाना चाहिये, ताकि सघ मे एकता और दृढता बनी रहे। (2) आचार्य और उपाध्याय को रत्नाधिक की

वन्दना आदि का सम्यक् प्रयोग कराना चाहिये। दीक्षा के बाद ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे बडा साधु छोटे साधु द्वारा वन्दनीय समझा जाता है। यदि कोई छोटा साधु रत्नाधिक को वन्दना न करे तो आचार्य और उपाध्याय का कर्त्तव्य है कि वे उसे वन्दना के लिये प्रवृत्त करे। वन्दना व्यवहार के लोप होने से व्यवस्था के टूटने की आशका रहती है। (3) आचार्य और उपाध्याय हमेशा ध्यान रखे कि शिष्यो मे जिस समय सूत्र के पढने की योग्यता हो अथवा दीक्षा के बाद जब जो सूत्र पढाया जाना चाहिये, यथासमय यथायोग्य सूत्र शिष्यो को पढाया जावे। यह तीसरा सग्रह स्थान है। (4) आचार्य और उपाध्याय को बीमार, तपस्वी तथा विद्याध्ययन करने वाले साधुओ की वैयावृत्य का समुचित प्रबन्ध करना चाहिये। (5) आचार्य और उपाध्याय को दूसरे साधुओ से पूछकर कोई भी काम करना चाहिये, मन माने ढग से नही। शिष्यो से अपने दैनिक कृत्यो के लिये भी पूछते रहना चाहिये। (6) आचार्य तथा उपाध्याय को अप्राप्त आवश्यक उपकरणो की प्राप्ति के लिये सम्यक् प्रकार से व्यवस्था करनी चाहिये। साधुओ के लिये आवश्यक वस्तुओ की निर्दोष प्राप्ति का यत्न इस कारण आवश्यक है कि उनमे अकारण असतोष न फैले। (7) आचार्य और उपाध्याय को पूर्व प्राप्त उपकरणो की रक्षा का भी ध्यान रखना चाहिये। उन्हे ऐसे स्थान पर नहीं रखने देना चाहिये कि जिससे वे खराब हो या चोर आदि ले जाय। यह सातवा और अन्तिम सग्रह स्थान है।

स्वय आचार्य या उपाध्याय भी पाच प्रकार के कारण उपस्थित होने पर सघ का परित्याग कर सकते हैं। ये कारण हैं–(1) सघ या गच्छ मे साधुओ के दुर्विनीत हो जाने पर जब 'इस प्रकार प्रवृत्ति करो और इस प्रकार न करो' इत्यादि प्रवृत्ति निवृत्ति रूप आज्ञा, धारणा आदि न प्रवर्ता सकें। (2) रत्नाधिक साधुओं की यथायोग्य अथवा साधुओं मे छोटों से बडे साधुओ की जब विनय भक्ति नहीं करा सके। (3) जो सूत्रो के अध्ययन, उद्देश आदि धारण किये हुए हैं, वे आचार्य और उपाध्याय उनकी यथावसर वाचना न दे जिससे दोनो ओर की अयोग्यता प्रकट होवे। वाचना के प्रति इस असावधानी मे दोनो ही तथ्य जिम्मेदार हो सकते हैं कि या तो वाचना लेने वाले साधु अविनीत हो या आचार्य और उपाध्याय ही सुखासक्त और मन्दबुद्धि हो अथवा दोनो ही बाते हो। (4) एक सघ मे रहे हुए आचार्य या उपाध्याय अपने या दूसरे सघ की साध्वी मे मोहवश आसक्त हो जाये। (5) आचार्य या उपाध्याय के मित्र या ज्ञाति के लोग किसी कारण से उन्हे सघ से निकाल दें। उन लोगो की बात स्वीकार कर उनकी वस्त्रादि से सहायता करने के लिये आचार्य और उपाध्याय सघ से निकल जाते हैं।

इस सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट हो जाता हे कि आचार्य का पद कितने अमित महत्त्व एव मूल्य का होता है? तीर्थकर तीर्थों की रचना करते हैं तथा उनकी सुव्यवस्था बनाते हैं तो जिस समय मे तीर्थकर नहीं विराजते हें उस समय आचार्य का भी मोटे तौर पर वैसा ही दायित्व होता हे। आचार्य सघ की रचना नहीं करते किन्तु वे अपनी दूर–दर्शिता एव कुशलता से चतुर्विध सघ का सचालन इस रूप मे कर सकते हें कि सघ की एकता और सुदृढता व्यवस्थित बनें तथा सिद्धान्तनिष्ठ सस्कृति की सुरक्षा हो। आचार्य का सघ नायकत्व इस दृष्टि से अति पूज्य होता है।

मैं अनुशासक आचार्य हू याने कि मैं हो सकता हू। मुझमे क्षमता है किन्तु अपने अथक पुरुषार्थ से उसे प्रकटानी है। जब मैं अपने पुरुषार्थ को सफल बनाकर शुद्ध, बुद्ध, निरजन सिद्ध हो सकता हू तो भला साधु, उपाध्याय और आचार्य क्यों नहीं सकता हू ? तब वीतरागी अरिहत भी तो हो सकता हू। मेरी आत्मा मे और सभी भव्य आत्माओ मे मूल रूप में ऐसा उच्चतम विकास साध लेने की शक्ति रही हुई है। वह वर्तमान मे आवृत्त हे किन्तु उसे अनावृत्त करने का सामर्थ्य भी इसी आत्मा मे रहा हुआ है। यथायोग्य सामर्थ्य नियोजित होगा तो उसका यथायोग्य परिणाम भी प्रकट हो सकेगा।

मैं वीतरागी अरिहंत हूं

मैं वीतरागी अरिहत हू। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार सर्वघाती कर्म शत्रुओ का नाश कर देने पर अरिहन्त पद प्राप्त होता है। तब वीतरागपना भी प्राप्त हो जाता है। चार घनघाती कर्मो का नाश कर देने पर आत्मा अरिहन्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनो का अरिहन्तपद मे समावेश हो जाता है अरिहन्त अवस्था में चार मूलातिशय प्रकट होते हैं जो इस प्रकार हैं–(1) अपायापगमातिशय– अट्ठारह दोष एव विघ्न बाधाओ का सर्वथा नाश हो जाना अपाय का अपगम है जो एक अतिशय है। (2) ज्ञानातिशय–ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न त्रिकाल एव त्रिलोक के समस्त द्रव्य एव पर्यायो को हस्तामलकवत् जानना तथा सम्पूर्ण अव्याबाध अप्रतिपाती ज्ञान को धारण करना। (3) पूजातिशय–अरिहन्त तीन लोक की समस्त आत्माओ के लिये पूज्य हैं तथा इन्द्रकृत अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप पूजा से पूजित हैं। त्रिलोक पूज्यता एव इन्द्रादिकृत पूजा ही पूजातिशय है। इनके चौंतिस अतिशय भी पूजा रूप ही हैं। (4) वागतिशय–अरहिन्त राग द्वेष से परे होते हैं तथा पूर्ण ज्ञान के धारक

होते हैं अत उनके वचन सत्य एव परस्पर बाधा रहित होते हैं। वाणी की यह विशेषता ही वचनातिशय है।

अरिहन्त के बारह गुण ये होते हैं–(1) अनाश्रव (2) अमम (3) अकिचन्य (4) छिन्नशोक (5) निरुपक्षेप (6) व्यपगतराग-द्वेष-मोह (7) निर्ग्रन्थ प्रवचनोपदेशकत्व (8) शास्त्रनायक (9) अनन्तज्ञानी (10) अनन्तदर्शनी (11) अनन्त चरित्री (12) अनन्त वीर्य सम्पन्न।

अरिहत देव बारह गुण सहित होते हैं तो इन अट्ठारह दोषो से रहित भी होते हैं–(1) दानान्तराय (2) लाभान्तराय (3) वीर्यान्तराय (4) भोगान्तराय (5) उपभोगान्तराय (6) मिथ्यात्व (7) अज्ञान (8) अविरति (9) काम (भोगेच्छा) (10) हास्य (11) रति (12) अरति (13) शोक (14) भय (15) जुगुप्सा (16) राग (17) द्वेष तथा (18) निद्रा। ये अट्ठारह दोष एक अन्य अपेक्षा से इस प्रकार भी गिनाये गये हैं–(1) हिसा (2) मृषावाद (3) अदत्तादान (4) क्रीडा (5) हास्य (6) रति (7) अरति (8) शोक (9) भय (10) क्रोध (11) मान (12) माया (13) लोभ (14) मय (15) मत्सर (16) अज्ञान (17) निद्रा तथा (18) राग (प्रेम)।

मैं अरिहत देव हूँ वीतरागी, सर्वथा पाप एव दोष रहित। मेरा अरिहत पद इस लोक मे मगल रूप, उत्तम तथा शरण रूप माना गया है। मैं मगल रूप इस कारण हूँ कि मैंने समस्त आत्माओ के मगल का मार्ग प्रशस्त बना दिया है। उत्तम रूप इस कारण कि जीवन–विकास का इससे अधिक उत्तम स्वरूप दूसरा नहीं हो सकता तथा शरण रूप इस कारण कि कोई भी सासारिक आत्मा इस पद की शरण में आकर अपने स्वरूप को अशरण बना सकती है। मैंने चार घनघाती रूप कर्मो का नाश कर दिया है और मेरी आत्मा सिद्ध गति के योग्य बन गई है। मुझे पूजा की कोई अभिलाषा नहीं है, किन्तु देव और इन्द्र मेरे जीवन को पूजा का स्थल इसलिये बनाते हैं कि भव्य आत्माए प्रभावित होकर अपने उत्थान का मार्ग सरलता से खोज ले और अपने विकास की महायात्रा पर अविलम्ब प्रस्थान कर दे। में केवल ज्ञान एव केवल दर्शन से सम्पन्न बनकर तीनो कालो तथा तीनो लोको के सभी द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायो को स्पष्ट देखता हू तथा वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप को सब पर प्रकट करता हू जिससे मिथ्यात्व का अधकार दूर हो तथा चहु ओर सम्यक्त्व का देदीप्यमान प्रकाश प्रसारित हो जाय–समतामय वातावरण बन जाय।

मैं वीतरागी अरिहत हू–मेरा द्वेष भी नष्ट हो गया है तो राग भी व्यतीत हो गया है। मैं समतादर्शी हो गया हू–सम्पूर्ण ससार को समभाव से जानता

हू और समदृष्टि से देखता हू—सभी आत्माए मेरे लिये समान हो गई हैं। इसी दृष्टि से में उपदेश देता हू जो सबके लिये समान रूप से हितकारी होते हैं। इसीलिये मेरी लोकोत्तमता है।

मै शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हू

मैं अरिहत पद मे शेष रहे चारो अघाती कर्मो का भी नाश कर देता हू और शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हू। ज्यो ही मैं सर्व कर्मो का क्षय कर देता हू कि मैं जन्म–मरण रूप इस ससार से मुक्त हो जाता हू। मेरी आत्मा कृतकृत्य हो जाती है और लोक के अग्र भाग पर सिद्ध–शिला से ऊपर सदा काल के लिये अरुण ज्योति रूप बनकर अवस्थित हो जाती है। मैं मुक्तात्मा हो जाता हू और पुन इस ससार मे किसी भी रूप मे किसी भी प्रयोजन से प्रत्यावित नहीं होता हू, अपितु किसी भी प्रकार से इस ससार से सम्बन्धित भी नहीं रहता हू। मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हू।

सिद्ध पद के ये पन्द्रह प्रकार माने गये हैं–(1) तीर्थ सिद्ध–जीव, अजीव आदि तत्त्वो की प्ररूपणा करने वाले तीर्थंकरो के वचन और उन वचनो को धारण करने वाला चतुर्विध सघ तीर्थ कहलाते हैं अथवा यो कहे कि जिससे ससार रूपी समुद्र को तैर कर पार कर लिया जाय, वह तीर्थ है। इस प्रकार के तीर्थ की विद्यमानता मे जो आत्माए सिद्ध होती हैं, वे तीर्थ सिद्ध कहलाती हैं। (2) अतीर्थ सिद्ध–तीर्थ की उत्पति होने से पहिले या तीर्थ का विच्छेद हो जाने पर बीच मे जो आत्माए सिद्ध होती हैं–वे अतीर्थ सिद्ध कहलाती हैं। जैसे ऋषभदेव तीर्थंकर की माता मरुदेवी तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहिले ही मोक्षगामी बन गई थी। (3) तीर्थंकर सिद्ध–तीर्थंकर पद प्राप्त करके मोक्ष मे जाने वाली आत्माए तीर्थंकर सिद्ध होती हैं। (4) अतीर्थंकर सिद्ध–सामान्य रूप से केवल ज्ञान प्राप्त करके जो आत्माए मोक्ष प्राप्त करती हैं, वे अतीर्थंकर सिद्ध कहलाती हैं। (5) स्वयबुद्ध सिद्ध–दूसरे के उपदेश के बिना स्वयमेव बोध प्राप्त करके सिद्ध हो जाने वाली आत्माए स्वय बुद्ध सिद्ध होती हैं। (6)-प्रत्येक बुद्ध सिद्ध–जो किसी के उपदेश के बिना ही किसी एक पदार्थ को देखकर दीक्षा धारण करके मोक्ष गामी बन जाती हैं, वे आत्माए प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हो जाती हैं। स्वयबुद्ध एव प्रत्येक बुद्ध सिद्धो में समानता होते हुए भी कुछ पारस्परिक विशेषताए होती हैं जो इस प्रकार हैं–(अ) बोधिकृत विशेषता–स्वयबुद्ध को बाहरी निमित्त के बिना ही जाति स्मरण (पूर्वभव दर्शन) आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वय बुद्ध भी दो प्रकार के होते हैं–तीर्थंकर और तीर्थंकर व्यतिरिक्त (प्रत्येक बुद्ध सिद्ध)। प्रत्येक बुद्ध को

किसी भी बाहरी कारण के निमित्त से वैराग्य उत्पन्न होता है जैसे बैल, बादल आदि को देखकर। प्रत्येक बुद्ध दीक्षा लेकर अकेले ही विचरण करते हैं। (ब) उपधिकृत विशेषता–स्वयबुद्ध, वस्त्र, पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (उपकरण) वाले होते हैं ओर प्रत्येक बुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधि वाले होते हैं। वे वस्त्र नही रखते किन्तु मुखवस्त्रिका व रजोहरण तो रखते ही हैं। (स–द) श्रुतकृत विशेषता तथा लिग (वेश) कृत विशेषता–स्वय बुद्ध दो तरह के होते हैं–(1) जिन को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में हो जाता है व (2) जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान मे इस जन्म नही होता। पहले प्रकार के स्वय बुद्ध लिग धारण करके नियम पूर्वक सघ (गच्छ) मे रहते हैं और दूसरी प्रकार के गुरु के पास जाकर वेश स्वीकार करते हैं जो उन्हे देवता लाकर देते हैं किन्तु यदि उनकी अकेले विचरने की क्षमता और इच्छा हो तो वे अकेले विचर सकते हैं। प्रत्येक बुद्ध को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म मे अवश्यमेव होता है जो जघन्य ग्यारह अग और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व का होता है। दीक्षा लेते समय देवता उन्हे लिग (वेश) देते हैं अथवा वे लिग रहित भी होते हैं। (7) बुद्ध बोधित सिद्ध–आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले बुद्ध बोधित सिद्ध कहलाते हैं। (8) स्त्रीलिग सिद्ध–स्त्री जीवन से सिद्ध होने वाली आत्माए स्त्री लिग सिद्ध कहलाती हैं। स्त्रीत्व तीन प्रकार का बतलाया गया है–(अ) वेद (ब) शरीरकृति और (स) वेश। यहा शरीरकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है क्योकि वेद (स्त्री) के उदय मे तो कोई आत्मा सिद्ध हो ही नही सकती है और वेश अप्रमाण है अत यहा शरीर कृति स्त्रीत्व की ही विवक्षा है। (9) पुरुष लिगसिद्ध–पुरुष की शरीर कृति में रहते हुए मोक्ष मे जाने वाली आत्माए पुरुष लिग सिद्ध होती हैं। (10) नपुसक लिग सिद्ध–नपुसक की शरीर कृति में रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुसक सिद्ध हैं। (11) स्वलिग सिद्ध–निर्ग्रंथ साधु का वेश स्ववेश (स्वलिग) होता है अत साधु के वेश में रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिग सिद्ध कहलाते हैं। (12) अन्यलिग सिद्ध–परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुए वस्त्र आदि द्रव्य लिग (अन्य वेश) मे रह कर मोक्ष मे जाने वाली आत्माए अन्य लिग सिद्ध कहलाती हैं। (13) गृहस्थलिग सिद्ध–गृहस्थ के वेश मे मोक्ष जाने वाली आत्माए गृहस्थ लिग (गृहीलिग) सिद्ध कहलाती हैं। (14) एक सिद्ध–एक एक समय में एक एक मोक्ष जाने वाली आत्माए एक सिद्ध होती हैं। तथा (15) अनेक सिद्ध–एक समय मे एक से अधिक मोक्ष जाने वाली आत्माए अनेक सिद्ध कहलाती हैं। एक समय मे अधिक से अधिक कितनी आत्माए मोक्ष में जा सकती हैं–इसके विषय मे विस्तार से बताया गया है। सक्षेप मे एक समय

से आठ समय तक अधिकतम बत्तीस तक आत्माए मोक्ष मे जा सकती हैं। फिर निश्चित रूप से अन्तरा पडता है।

मैं अपने सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करके शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हू तो कर्मो के दुष्प्रभाव से जो आत्मिक शक्तिया दबी हुई रहती थी, वे सम्पूर्ण प्राभाविक बनाकर पूर्णत प्रकट हो जाती हैं। कर्म मुक्ति से सिद्ध पद मे निम्न आठ गुण पूर्ण आत्म विकास के रूप मे प्रकाशित हो जाते हैं-(1) केवल ज्ञान-ज्ञानावरणीय कर्म का पूरी तरह नाश हो जाने से आत्मा का ज्ञान गुण अपनी पूर्ण आभा के साथ प्रकट हो जाता है जिसके प्रभाव से केवल ज्ञानी महात्मा सकल पदार्थों को जानने लगती हैं। (2) केवल दर्शन-दर्शनावरणीय कर्म के समूल नाश से आत्मा का दर्शन गुण पूर्णतया प्रकट हो जाता है जिससे सभी पदार्थों को देखने की शक्ति अनावृत्त हो जाती हैं। (3) अव्याबाध सुख-आत्मा वेदनीय कर्म के प्रभाव से वेदना का अनुभव करती है, यद्यपि साता वेदनीय कर्म से सुख का अनुभव भी होता है, किन्तु वह सुख क्षणिक, नश्वर, भौतिक और काल्पनिक होता है जबकि वास्तविक एव स्थायी आत्मिक सुख की प्राप्ति वेदनीय कर्म के नाश से ही होती है। इस कर्म के सम्पूर्ण विनाश से जो अनन्त सुख प्राप्त होता है, वह अव्याबाध होता है, क्योकि उस सुख के अनुभव मे कभी भी कोई बाधा नहीं आती है। (4) अक्षय स्थिति-आत्मा की इसी को अक्षय स्थिति कहते हैं कि मोक्ष में पहुँच कर आत्मा वापस इस ससार मे नहीं आती, शाश्वत रूप से वहीं रहती है। ससार मे आयु-कर्म का प्रभाव चलता है, इस कारण एक जन्म मे जितना आयुष्य बधा हुआ होता है, उसे भोगकर आत्मा को वहा से दूसरी गति मे जाना ही पडता है किन्तु सिद्धात्माओं का आयु-कर्म ही नष्ट हो जाता है अत मोक्ष मे स्थिति की कोई मर्यादा नहीं रहती अत मोक्ष की स्थिति ही अक्षय स्थिति मानी गई है। (5) क्षायिक सम्यक्त्व-सिद्धात्माओ के मोहनीय कर्म पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है जबकि मोहनीय कर्म ही सम्यक्त्व गुण का घातक होता है। सम्यक्त्व का अर्थ है जीव, अजीव आदि पदार्थो को उनके यथार्थ रूप मे जानना तथा जान कर उन पर विश्वास करना। अत मोहनीय कर्म के अभाव में पूर्ण सम्यक्त्व का सद्भाव हो जाता है तथा पूर्ण सम्यक्त्व ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। सिद्धात्माओ मे यही क्षायिक सम्यक्त्व सदा वर्तता है। (6) अरूपीत्व-बाहर से दिखाई देने वाले रूप की रचना नाम कर्म से शरीर रूप मे होती है और दृष्टिगत रूप ही रूपीपना कहलाता है। चूकि सिद्धात्माओं के नाम कर्म का भी नाश हो जाता है अत उनके किसी प्रकार का शरीर नहीं

रहता। ससारी जीवो के कार्मण आदि शरीरो का सम्मिश्रण हमेशा रहता है जिस अपेक्षा से ससारी आत्मा रूपी भी कहलाती है। किन्तु नाम कर्म के अभाव मे सिद्धात्माओ से कोई भी शरीर नही रहता, इसलिये उनका स्वरूप अरूपी ही रहता हे। (7) अगुरुलघुत्व–अरूपी होने से सिद्धात्मा न भारी होती है न हल्की। वह निरजन होती है अत अगुरुलघु होती है। (8) अनन्त शक्ति–मूल रूप मे आत्मा मे जिस अनन्त शक्ति या बल का सद्भाव रहता है, वह सिद्धावस्था मे सम्पूर्णत प्रकट हो जाता है। अन्तराय कर्म के कारण आवृत्त बनी समस्त शक्तिया उस कर्म के नष्ट हो जाने पर पूरी स्पष्टता से अनावृत्त हो जाती हैं। सिद्धात्मा मे अनन्त शक्ति व्यक्त बन जाती है।

मैं सिद्ध होता हू आठो कर्मो का समूल विनाश कर देने से–तो उस अपेक्षा से मेरे पद मे इकत्तीस गुणो का उल्लेख भी किया गया है, क्योकि आठो कर्मो की विदृष्टि से कुल प्रकृतियॉ ज्ञानावरणीय कर्म की पाच, दर्शनावरणीय कर्म की नौ, वेदनीय कर्म की दो, मोहनीय की दो, अन्तराय कर्म की चार, नाम कर्म की दो, गोत्र कर्म की दो तथा अन्तराय कर्म की पाच मिलाकर इकत्तीस प्रकृतिया होती हैं। इन्ही इकत्तीस प्रकृतियो के क्षय हो जाने से सिद्धात्माओ मे ये इकत्तीस गुण प्रकट होते हैं–(1) क्षीण आभिनिबोधिक ज्ञानावरण (2) क्षीण श्रुत ज्ञानावरण (3) क्षीण अवधि ज्ञानावरण (4) क्षीण मन पर्यय ज्ञानावरण (5) क्षीण केवल ज्ञानावरण (6) क्षीण चक्षुदर्शनावरण (7) क्षीण अचक्षुदर्शनावरण (8) क्षीण अवधिदर्शनावरण (9) क्षीण केवल दर्शनावरण (10) क्षीणनिद्रा (11) क्षीण निद्रा–निद्रा (12) क्षीण प्रचला (13) क्षीण प्रचला–प्रचला (14) क्षीण सत्यानगृद्धि (15) क्षीण सातावेदनीय (16) क्षीण असातावेदनीय (17) क्षीण दर्शन मोहनीय (18) क्षीण चारित्र मोहनीय (19) क्षीण नैरयिकायु (20) क्षीण तिर्यचायु (21) क्षीण मनुष्यायु (22) क्षीण देवायु (23) क्षीण उच्च गौत्र (24) क्षीण नीच गौत्र (25) क्षीण शुभ नाम (26) क्षीण अशुभ नाम (27) क्षीण दानान्तराय (28) क्षीण लाभान्तराय (29) क्षीण भोगान्तराय (30) क्षीण उपभोगान्तराय तथा (31) क्षीण वीर्यान्तराय।

सिद्ध पद के गुण इस प्रकार भी बतलाये गये हैं कि सिद्धात्मा पाच सस्थान, पाच वर्ण, दो गध, पाच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद तथा काय, सग एव रुह (पुनरुत्पत्ति) को क्षय कर देती है, जिनके क्षय से प्रकट होने वाले गुण भी इकतीस होते हैं। वैसे बीज के जल जाने पर अकुर पैदा नही होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने से सिद्ध आत्माओ के ससार रूपी अकुर पैदा नहीं होता।

जब मे अपने को सिद्ध कहता हू तो मैं अपनी ही आत्मा के मूल स्वरूप का वर्णन करता हू। मेरी आत्मा भी सिद्धात्मा जैसी ही है, क्योकि आत्मा होती है वही सिद्ध होती है। आत्मा और सिद्धात्मा के बीच मात्र आठो कर्मों के आवरण होते हैं जो जब सम्पूर्णत नष्ट कर दिये जाते हैं तब आत्मा अपने मूल स्वरूप को तथा अपने गुणो को प्राप्त करके स्व-स्वभाव मे अथवा स्वधर्म मे अवस्थित हो जाती है। स्वधर्म स्थित आत्मा की सिद्धात्मा होती हे अत सिद्धात्मा के स्वरूप के अनुसार ही मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी होता है। इसीलिये मैं कहता और मानता हू कि अपने मूल स्वरूप मे मैं न दीर्घ हू, न ह्रस्व, न वृत्त हू, न त्रिकोण या चतुष्कोण और मैं मडलाकार भी नहीं हू। मैं न काला हू, न हरा हू, न लाल, न पीला और न सफेद हू। मैं न सुगध रूप हू, न दुर्गंध रूप। मैं न तीखा, न कडवा, न कषैला, न खट्टा व न मीठा हू तो मैं न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का, न ठडा, न गर्म, न चिकना और न रूखा हू। मैं न स्त्री हू, न पुरुष हू तथा न ही नपुसक हू। मैं सर्व सग रहित अमूर्त हू। मैं ज्ञाता हू, विज्ञाता हू और अनन्त ज्ञान, दर्शन तथा अनन्त सुखो से सम्पन्न हू। मैं अरूपी हू अत मेरे स्वरूप का वर्णन रूपी शब्दो द्वारा समव नहीं है।

ऐसा है मेरी आत्मा का मूल स्वरूप और ऐसा ही होता है सिद्धात्माओ का सदा काल वर्तता हुआ स्वरूप जो रूपी न होकर अरूपी होता है। वे अनन्त सुखो में विराजमान रहती हैं। उनके ज्ञान और सुख के लिये कोई उपमा नहीं दी जा सकती है क्योकि ससार मे ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके साथ उनके ज्ञान और सुख की उपमा घटित हो सके। उनका स्वरूप अरूपी होता है, उसका वर्णन रूपी शब्दों के माध्यम से नहीं किया जा सकता है।

मैं अनश्वर ओऽम् हूं

मैं अनश्वर ओऽम् हू। ओऽम् शब्द पाच अक्षरो से बना है-अ अ आ उ तथा म् और ये पाचों अक्षर महान् आध्यात्मिक पदों के प्रतीक हैं जो इस प्रकार हैं-अ=अरिहत, अ=अशरीरी (सिद्ध), आ=आचार्य, उ=उपाध्याय एव म्=मुनि (साधु)। इन अक्षरों की सधि इस प्रकार है-अ + अ = अ, आ + उ =ओ तथा ओ + म् = ओम्। इस प्रकार ओकार पाचो पदो का प्रतीक सक्षेप हो गया। ओकार से कुछ बडा पद होता है-असिआउसा, जो पाचों पदो के प्रथमाक्षर से मिल कर बना है।

मैं अपनी आत्मा के मूल स्वरूप की दृष्टि से पच परमेष्ठी हू। ये ही पाचो पद पच परमेष्ठी के नाम से उल्लिखित किये जाते हैं। ये पद पाच

अवश्य है, किन्तु हैं सभी पद इसी आत्मा के। अपने परम स्वरूप अर्थात् उत्कृष्ट आध्यात्मिक स्वरूप मे अवस्थित आत्मा को ही परमेष्ठी कहा जाता हैं। ये पाचो पद आत्मा की ही विभिन्न गुण–अवस्थाए हैं। इन गुण–अवस्थाओ के उल्लेख का क्रम इस प्रकार रखा गया है–सबसे पहिले अरिहन्त। यद्यपि इस क्रम मे सिद्ध पद का पहिले उल्लेख होना चाहिए क्योंकि अरिहन्त चारो घाती कर्मों का ही नाश करते हैं, जब कि सिद्ध आठों कर्मो का नाश करके सर्वथा कर्म–मुक्त हो जाते हैं। किन्तु सिद्ध पद को दूसरे क्रम पर इस दृष्टि से रखा गया है कि स्वय सिद्ध–अवस्था का ज्ञान भी अरिहन्त के द्वारा ही होता है तथा आत्मोद्वार का सम्पूर्ण उपदेश भी अरिहन्त के द्वारा ही मिलता है। अत पहले क्रम पर अरिहन्त तथा दूसरे क्रम पर सिद्ध पद को रखा गया है। तीसरा पद आचार्य का है व चौथा उपाध्याय का। पाचवा पद सर्वविरति साधु का है। इस प्रकार इन पाचो पदो को वन्दनीय माना गया है तथा इस वन्दन को महामत्र की सज्ञा दी गई जो इस प्रकार है–अरिहन्तो को नमस्कार, सिद्धो को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायो को नमस्कार, लोक मे स्थित सर्व साधुओ को नमस्कार। यह महामत्र का मुख्यभाग है तथा इसी के अन्तिम भाग मे इन नमस्कारो की महत्ता स्पष्ट की गई है जो इन शब्दो मे है–ये पाचो नमस्कार सर्व पापो को नष्ट करने वाले हैं, सर्व मगलो के प्रथम मगल रूप होते हैं।

इसी महामत्र का सक्षिप्त रूप है–असिआऊसा नम ऐसा कहा जाता है, पर महामन्त्र के साधक को तो नमस्कार मन्त्र के पाच पदो का पूरा उच्चारण करना चाहिये। क्योकि जिनेश्वरो ने जैसा कहा, मन्त्र को उसी रूप से बोलना चाहिए तथा अति सक्षिप्त रूप है ओम् नम इन पाचो आध्यात्मिक पदो को अथवा आत्मोत्थान की इन पाच उत्कृष्ट अवस्थाओ को नमस्कार करना परम मगल, परम उत्तम तथा परम शरण रूप माना गया है। ऐसा क्यो है? यह विषयवस्तु गहराई से समझने लायक है। यह अटल नियम है कि गुण गुणी के बिना नहीं टिकता तथा गुणी के माध्यम से ही गुण प्रकाशित होता है किन्तु गुण और गुणी के भेद मे किसको श्रेष्ठतर माना जाय? जैसे क्षमा एक गुण है। इसके स्वरूप का विवेचन करते समय गुण के सभी पहलुओ पर विचार करेगे तथा इसके सर्वोत्कृष्ट विकास का भी प्रतिमान लेगे, क्योंकि इसी प्रतिमान के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकेगा कि किस व्यक्ति में यह क्षमा गुण कितने अशो मे विकसित हुआ है? सामान्य रूप से भिन्न भिन्न व्यक्तियो में मूल्याकन करने पर इस क्षमा गुण का विकास भिन्न भिन्न स्तरों का मिलेगा। अत गुण का विकास भिन्न–भिन्न गुणियो मे भिन्न–भिन्न रूप

से परिलक्षित होता है। गुणी का सम्मान या उसकी मान्यता इस दृष्टि से गुण–विकास पर आधारित रहती है।

गुण और गुणी मे इस प्रकार गुण की प्रमुखता मानी जानी चाहिये क्योकि गुण का सर्व स्वरूप गुणी के समक्ष आदर्श रूप होता है और गुणी की सर्वोत्कृष्ट सफलता तभी मानी जाती है जब वह गुण के उस आदर्श रूप को आत्मसात करले। गुण को प्रमुखता देने से गुण–गोरव तथा गुण ग्राहकता मे वृद्धि होती रहती हे। आध्यात्मिक उन्नति के उपरोक्त पाचो प्रतीक भी गुण वाचक हैं ओर गुणो को सर्वोच्च सम्मान देने की दृष्टि से ही नमस्कार महामत्र को सर्वोच्च महिमा प्रदान की गई हे।

गुणवत्ता की कसौटी पर ही पाचो पदो का विश्लेषण इस सत्य को स्पष्ट कर देता हे कि आत्मा किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नही करती हे। इस रूप में विशिष्ट से विशिष्ट हो किन्तु व्यक्ति की प्रभुता आत्मानुभूति को दबा नहीं पाती है। गुण दृष्टि ही बनी रहती है जिससे गुण ग्रहण करने की प्रेरणा भी बनी रहती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो आत्मा स्वय को ही नमस्कार करती है–अपनी ही इच्छित अथवा समावित अवस्थाओ को नमस्कार करती है कि वे अवस्थाए उसके निज स्वरूप मे उद्घाटित हों।

गुण दृष्टि को प्रधानता देने मे एक और तथ्य या सत्य उभर कर समक्ष उपस्थित होता हे ओर वह यह कि यह आत्मा ओर मात्र आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट विकास की मूल है–कोई ओर कैसा भी व्यक्तित्व इस की प्रमुखता को आच्छादित नहीं कर सकता है। कई बार और कई स्थानो पर देखा जाता है कि व्यक्ति का वर्चस्व बढता जाता है ओर उस वर्चस्व से प्रभावित व्यक्ति अपने महत्त्व को खोते हुए चले जाते हें। कई बार राजनीति के क्षेत्र मे भी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति का वर्चस्व सर्व प्रमुख हो जाता है और उसके शासन या दल के अन्य सदस्य उसके सामने अपना महत्त्व–यहा तक कि प्रभावपूर्ण अस्तित्व तक खो देते हें। कहा जाता है कि बरगद के पेड की छाया मे कोई दूसरा पौधा नहीं पनपता। व्यक्तिवादी वर्चस्व की ऐसी ही विदशा को समझ कर वीतराग देवों ने सम्पूर्ण सघ व्यवस्था को गुणाधारित स्वरूप प्रदान किया। गुण की ही महिमा, गुण की ही स्तुति और गुण को ही नमस्कार और इसी श्रेष्ठता के उच्चतम स्वरूप में पाचो पद भी गुण विकास के क्रम पर आधारित हैं। गुणी कोई भी हो, वह वन्दनीय है। विकासशील आत्मा उस गुण का सम्यक् रीति से अनुपालन कर सके। उसके समक्ष गुणी का व्यक्तित्व कम ओर गुण–स्वरूप की श्रेष्ठता अधिकाश मे रहनी चाहिये।

ससार मे रहते हुए गुण विकास के श्रेष्ठ प्रतीक होते हें अरिहन्त। यह अरिहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही, आत्मिक अवस्था विशेष का नाम है कि जिन्होने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय रूप चार घनघाती कर्मो का नाश करके केवल ज्ञान एव केवल दर्शन को प्रकट कर लिया है तथा जो राग द्वेष को जीत कर वीतराग व अन्तराय रूप बाधा को जीत कर अनन्त वीर्यवन्त हो गये हैं। वे महापुरुष अरिहन्त होते हैं– अपने भीतर के अरियो–शत्रुओ को जिन्होने नष्ट कर दिया है। उनकी आत्मा तब सिद्धि के योग्य हो जाती है तथा अपने पूर्ण ज्ञान के प्रकाश मे वे ससार की सभी आत्माओं को आत्म विकास का मार्ग दिखाते हैं। दूसरा सिद्ध पद भी गुणवत्ता पर आधारित है कि वे ससार के भव चक्र को समाप्त करके मुक्तात्मा बन जाते हैं। तीर्थंकर की विद्यमानता न होने पर सघ सचालन का भार आचार्य उठाते हैं अत उनका तीसरा पद है। ज्ञान साधना और ज्ञान दान का महत्त्वपूर्ण कार्य करने वालो का चौथा उपाध्याय का पद है तो पाचवा पद ससार त्याग करके सर्व विरति एव निर्ग्रंथ बनने वाले साधु का है जो अपना सम्पूर्ण जीवन महाव्रतो के पूर्ण पालन के साथ स्व–पर कल्याण मे नियोजित कर देता है। नमस्कार योग्य पद साधु अवस्था से ही प्रारम होता है और सामान्यतया साधु, उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहन्त के चार पद साधु जीवन से ही सम्बन्धित होते हैं और साध्वाचार की उत्कृष्टता ही दिखाते हैं। सिद्ध अवस्था भी एक दृष्टि से श्रेष्ठ साधु जीवन की उच्चतम श्रेष्ठता की ही उपसहार रूप होती है। यह समग्र क्रम आत्मा के गुण–विकास का ही क्रम है। आत्मा किस नाम धारी व्यक्ति के शरीर मे अवस्थित है–इससे उन आत्मिक गुणो तथा उनकी प्राप्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है जिनका विकास आत्मा को अपनी उन्नति के विभिन्न चरणो मे ऊर्ध्वगामी बनाता है। आत्मा को ऐसी निरन्तर गतिशील ऊर्ध्वगामिता प्राप्त हो–यही परम लक्ष्य है क्योकि इसी का चरम बिन्दु मोक्ष प्राप्ति के रूप मे प्रतिफलित होता है।

सदासद् सग्राम

यह सब मैंने एक अपेक्षा से कहा है कि मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हू, ज्ञानसाधक उपाध्याय हू, अनुशासक आचार्य हू, वीतरागी अरिहन्त हू, अथवा शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध या अनश्वर ओऽम् हू, क्योकि ऐसा कहने और विचारने मे 'सोहऽम्' की अनुभूति होती है तथा विकासोन्मुख आत्मा अपने परम व चरम साध्य का निर्धारण करती है।

किन्तु इन उच्च पदो की उपलब्धिया मुझे प्राप्त हो सकेगी एक सग्राम जीत लेने के बाद। यह सग्राम है अपनी ही आत्मा की असद् वृत्ति तथा प्रवृत्तियो का अपनी ही आत्मा की सद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के बीच मे ओर यह आत्मा ही योद्धा है। इसे सदासद् सग्राम कह सकते हैं। आठ कर्मो के रूप मे असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की सेना एक ओर खडी है ओर दूसरी ओर सद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की सेना जो एक दूसरे के साथ लड रही है तथा इस लडाई की प्रयोजक हे स्वय आत्मा, मन और उसकी इन्द्रिया। आत्मा की सुप्तावस्था और जागृतावस्था का तारतम्य ही इस सग्राम मे हार और जीत का निर्णय करने वाला है। यदि सुप्तावस्था घटती है और आत्म–जागृति अभिवृद्धि होती जाती है तो यो समझिये कि असद् वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया मिटती जाती हैं और उनके स्थान पर सद् वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया आत्मा का सुरक्षा कवच बना लेती है जिस पर फिर असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियों का बलप्रयोग व्यर्थ हो जाता है। एक एक करके असद् वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया पराजय का मुख देखती हुई नष्ट होती जाती है। तब इस सग्राम मे आत्मा की सद् वृत्तिया तथा प्रवृत्तियॉ विजय की ओर अग्रसर बन जाती हैं।

यह सदासद् सग्राम आत्मा की आन्तरिकता मे प्रतिपल चल रहा है–एक पल के लिये भी वह रुकता नही है। असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की सेना मे मिथ्यात्व और मोहनीय बहुत जोरदार होते हैं। ये आत्मा के शत्रु ऐसा मारक प्रहार करते हैं कि आत्मा तिलमिला उठती है–उसके मन और उसकी इन्द्रियो मे बेचैनी और बेहोशी फैल जाती है इसलिये इन दोनो शत्रुओ के प्रति आत्मा की पूरी सावधानी होनी चाहिये। आत्मा के पास इन दोनो शत्रुओ को परास्त कर देने के लिये रत्नत्रय का सुदर्शन चक्र है। सम्यक्त्व के जगमगाते प्रकाश के सामने मिथ्यात्व का अधेरा टिक नहीं सकता है और ज्यों ही सम्यक्त्व का प्रकाश फैल जाता है, इस आत्मा के समक्ष सदा सद् सग्राम का पूरा दृश्य अति स्पष्ट हो जाता है और उसका सुदर्शन चक्र भी सक्रिय बन जाता है। वह सम्यक् ज्ञान से सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र को पूर्ण रूप से जब मोहनीय कर्म पर प्रहार करती है तो अष्ट कर्म का यह सेनापति बौखला उठता है। वह बार बार आत्मा पर अपने प्रहार करता है, किन्तु बार बार आत्मा का सुदर्शन चक्र मोहनीय कर्म को नीचे पटकता रहता है तब एक ही झटके मे उसका शिरच्छेद कर देता है। मोहनीय कर्म के विनाश के साथ

ही आत्मा की शक्ति अनन्त गुना बढ जाती है उसका सम्यक् चारित्र सर्व विरति साधु–आचार के रूप मे उत्कृष्टता के नये–नये सोपानो पर आरूढ होता रहता है। रत्न–त्रय की साधना श्रेष्ठतर होती जाती है और शेष कर्म शत्रु भी नष्ट होते चले जाते हैं। तब वह शुभ दिवस और समय भी आता है, जब पहले चारो घाती कर्म पूर्णत नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा का वीतराग भाव जगमगा उठता है। फिर उसके लिये शेष सग्राम विशेष पुरुषार्थ साध्य नहीं रहता। चारो अघाती कर्मों का नाश करके वह सिद्ध गति की ओर प्रयाण कर देती है और इस प्रकार सदासद् सग्राम मे पूर्ण विजय प्राप्त कर लेती है। तब आत्मा स्व–भाव तथा स्व–धर्म मे अवस्थित होकर विजेता बन जाती है।

वर्तमान परिस्थितियो मे जबकि मेरे सामने सद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो तथा असद् प्रवृत्तियो की चतुरगिणी सेनाए आमने सामने खडी हैं। और ज्ञाता–विज्ञाता एव जागृत दृष्टा बना मैं इस दृश्य को देखता हू तो मुझे दृढ निश्चय करना होता है कि इस सग्राम मे चाहे जो हो–मुझे अपनी अन्तिम विजय प्राप्त करनी ही है। सारी रणस्थली मे मैं ही योद्धा हू–मुझे ही लडना है अपनी असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो से अपनी सद् वृत्तियो की सहायता लेकर। यह ऐसा समय है जब मैं कई बार अर्जुन की तरह घबराता हू कि मैं कैसे लड सकूगा उन मनोज्ञ विषयो के विरुद्ध जिनसे मेरा मन और मेरी इन्द्रिया सुखाभास लेती रही है? कैसे लड सकूगा मैं अपने ही विद्रोही मन और इन्द्रियो से जो मनोज्ञ शब्द, दृश्य, गध, रस और स्पर्श के घेरो मे बार–बार दौडे हुए चले जाते हैं? किन्तु मेरी आत्मा तब श्रीकृष्ण बन जायगी और अर्जुन की नपुसकता को दूर करेगी, उसमे योद्धा भाव को जगायगी और उसे अपने रत्न–त्रय का सुदर्शन चक्र चलाने के लिये उत्साहरत बना देगी। यह सब कुछ मेरी ही आत्मा को करना होगा। आत्मा ही सोने लगेगी तो आत्मा ही अपने को जगायगी। आत्मा ही आत्मा से लडेगी और आत्मा ही आत्मा को समझायगी। अन्ततोगत्वा यह आत्मा ही अपने द्वन्द्वो को समाप्त करेगी और विजेता बन कर अपने उत्थान के ऊचे से ऊचे आयामों को अवाप्त करेगी।

अन्तिम विजय मेरी होगी

मेरी यह निश्चित धारणा बन चुकी है कि इस सदासद् सग्राम मे अन्तिम विजय मेरी ही होगी। मैं दृढ चेता होकर अपने नये कर्म बधन को रोकूगा, पूर्वार्जित कर्मो को तपस्या की अग्नि मे भस्म कर दूगा और अपने

आत्म स्वरूप को कुन्दन बना लूगा। गुणस्थानो के सोपान रूपी कसौटियो पर आत्मा की शुद्धता की जाच मे हर समय करता रहूगा और ऊर्ध्वगामी बना रहूगा। मैं अपने दृढ सकल्प के बल पर रत्न–त्रय की कठिनतर साधना करता रहूगा और नीचे नहीं गिरूगा। मेरी आत्मा क्रमश पदोन्नति करती रहेगी और कर्मो के साथ निरन्तर युद्ध करती हुई अन्तिम विजय के सर्वोच्च छोर तक पहुच कर ही चैन लेगी। यही मेरी आत्म विकास की महायात्रा का सानन्द समापन होगा जहा फिर मेरी आत्मा आनन्द की अजस्र धारा मे ही सदा सदा के लिये आल्हादित बनी रहेगी।

मेरी अन्तिम विजय के प्रेरक ये आप्त वचन हैं और मैं उनका निरन्तर चिन्तन करता हू कि जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोडता, वैसे ही मैं भी कर्मोदय के कारण उत्तप्त होने पर भी अपने स्वरूप को क्यो त्यागू? जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुन वृन्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी सपूर्ण रूप से मेरी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुन. मेरी वीतरागी आत्मा के साथ नहीं लग सकते हैं। जो अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है, वह शुद्ध भाव को प्राप्त करता है, क्योकि सम्यक्, इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मेरी आत्मा भी अन्तिम विजय की ओर स्वस्थ तथा स्थिर गति से आगे बढती ही जायगी।

मैं अनुभव करता हू कि मेरी अपनी आत्मा ही ज्ञान रूप है, दर्शन रूप है और चारित्र रूप है। शास्त्र स्वय ज्ञान नहीं है क्योकि शास्र स्वय मे कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है। जो ज्ञान है, वह मैं हू और मैं ही शास्त्रो के स्रोत से ज्ञानार्जन करता हू। चारित्र ही वास्तव मे धर्म है, क्योकि वहीं मेरी आत्मा को उसके धर्म मे प्रतिष्ठित करता है और जो धर्म है, वही समत्व है। मोह और लोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है। अत आत्मा ही धर्म है अर्थात् धर्म आत्म स्वरूप होता है। समत्व से विभूषित आत्मा सुख दु ख मे समान भाव रखती है और तब वह वीतरागी और शुद्धोपयोग हो जाती है। आत्मा ज्ञान प्रमाण (ज्ञान जितनी) है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है जिससे ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है। यही आत्मा का सर्वव्यापी स्वरूप है।

मैं जब अपने इस अनुभव में विराट् होता हू तो अपने आत्म स्वरूप को वैसा ही विराट् बना लेने का दृढ निश्चयी भी बन जाता हू। यही दृढ निश्चय मेरे आत्म–विकास की महायात्रा का सबल सगी होता है तथा उस के सफल समापन का श्रेयी भी। मेरी दृढता ही मुझे सदासद् सग्राम मे विजेता बनाती है तो वही मेरी अन्तिम विजय की प्रतीक बनती है।

नवम सूत्र और मेरा सकल्प

मै शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरजन हू। मैने अनुभव कर लिया है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है तथा जान लिया है कि मैं उसे केसे प्राप्त करू? यह सारी विधि वीतराग देव बता चुके हैं तथा उनकी चेतावनियो पर भी मैं निरन्तर चिन्तन–मनन करता रहता हू कि जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड जाते हैं और भूमि पर झड जाते हैं, उसी प्रकार मेरा यह जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जायगा, अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करू। जैसे कुशा (घास) की नोक पर हिलती हुई ओस की बूद बहुत थोडे समय के लिये टिक पाती है, ठीक वैसा ही मेरा यह जीवन भी क्षणभगुर है। अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करू। मेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है। अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करू। मैं इस ससार रूपी महासमुद्र को तेर चुका हू, फिर किनारे पर आकर क्यो बैठ गया हू? मैं उस पार पहुचने की शीघ्रता करू। समय बडा भयकर है और इधर प्रतिक्षण जीर्ण शीर्ण होता हुआ शरीर है। अतएव मैं सदा अप्रमत्त होकर भारड पक्षी (सतत सतर्क रहने वाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करू। मैं सोये हुओ के बीच मे भी सदा जागृत रहू और सदा अप्रमत्त बनू। सकल इच्छाओ का निरोध करके अपनी स्वय की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसधान करू। क्योंकि सत्य ही ससार मे सारभूत है।

अत इस नवम सूत्र के सदर्भ मे मैं सकल्प लेता हू कि मैं निरन्तर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करूगा, गुणाधारित धर्म का पालन करूगा तथा ज्ञानी व ध्यानी बनूगा। ऐसा करके मैं अपने कर्मो के आवरण को उसी प्रकार उतार फैंकूगा, जिस प्रकार सर्प अपनी केचुली को उतार कर छोड देता है। मुझे यह मत्र शीघ्र आत्मा विजेता बनने मे सहायता करेगा कि जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है, वह भी तू ही है और जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह भी तू ही है। जिसे जाना जाता है, वह आत्मा है तथा जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है। यह प्रतीति मेरी अन्तिम विजय की मूल भित्ति है। इसी भित्ति पर मैं अपने गुणाधारित जीवन का निर्माण करता हू और अपने मूल आत्म स्वरूप को समाहित करने की दिशा मे अग्रसर होता हू।

तदनन्तर गुण विकास की क्रमिकता मे समुन्नत होता हुआ, मनोरथो एव नियमो का चिन्तन करता हुआ ओर उत्कृष्ट भाव–श्रेणियो मे विचरण करता हुआ मैं अपने मूल स्वरूप के आलोक को प्राप्त कर लूगा और शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध बन जाऊगा।

अध्याय ग्यारह

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

समता की जययात्रा

अग्ग च मूल च विगिच धीरे,
पलिछिंदियाण णिक्कम्मदसी।

हे धीर, तू विषमता के प्रतिफल और आधार का निर्णय कर तथा उसका छेदन करके करमो से रहित अवस्था अर्थात् समता का द्रष्टा बन जा।

अध्याय ग्यारह

समता जीवन विकास का मूलमत्र तथा जीवन का चरम साध्य है। आत्म–समीक्षण से लेकर समता अवाप्ति तक की जय–यात्रा ही जीवन की जय यात्रा है। समीक्षण का अर्थ है समान रूप से देखना और आत्म समीक्षण होता है अपनी आत्मा को समान रूप से देखना तथा यही समान रूप से देखना होता है ससार की समस्त आत्माओ के सदर्भ में। यह समीक्षण ही बोध देता है आत्म–समता का कि सभी आत्माए समान है–एक हैं। यह अनुमान और यह दृष्टि ही समता का मूल है अर्थात् समीक्षण मूल है और समता उसका वट वृक्ष जो समस्त ससार को अपनी शीतल एव सुखदायक छाया मे लपेट लेना चाहती है। समीक्षण कारण है तो समता उसका कार्य। समीक्षण मूल है तो समता उसका सुवासयुक्त फूल।

समीक्षण सपूर्ण ससार को समान दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है तो समता समस्त ससार को समानता मे ढाल लेने के अपूर्व कृतित्व को अनुप्राणित करती है। दृष्टि से कृति तक की यह यात्रा ही आत्म विकास की महायात्रा है जो मन, वाणी और कर्म को एकरूपता तथा समरसता प्रदान करती है। समीक्षण ध्यान की साधना से यह आत्मा एक निष्ठ बनती है और मन तथा इन्द्रिया एकाग्र तो इनमे जो एक है और जिसके प्रति एक निष्ठ तथा एकाग्र होना है, वही एक है समता। समता स्थिति भी है तो आचरण भी। समता साध्य भी है तो साधन भी।

सच पूछे तो समता एक व्यक्ति का ही साध्य नहीं अथवा एक आत्मा का ही साध्य नहीं, अपितु सपूर्ण ससार का साध्य है। साध्य इस दृष्टि से कि एक व्यक्ति या आत्मा अपनी आन्तरिकता को समता से ओतप्रोत बना ले और अन्ततोगत्वा समत्व योगी या समतादर्शी बन जाय। समता सम्पूर्ण ससार का साध्य इस दृष्टि से कही जायेगी कि ससार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक आदि विभिन्न क्षेत्रो मे तथा स्वय व्यक्तियो के सामूहिक रहन सहन तथा व्यवहार में जितना अधिक समता का प्रसार होता जायगा, एक व्यक्ति को समत्व योगी के लक्ष्य तक पहुचने मे उतनी ही सुविधा ओर सरलता बढती जायेगी, क्योकि सासारिक जीवन मे बढती हुई समता निश्चित

रूप से उन मानवीय गुणो को प्राणवान बनायगी जो एक आत्मा को सभी आत्माओ के साथ समान सहृदयता से जोडते हैं। तो इस रूप मे समानता किसी एक ही व्यक्ति, वर्ग अथवा समूह का ही साध्य नही, बल्कि समस्त ससार का साध्य है।

और समता साधन भी है समता ही के व्यापक साध्य को अवाप्त करने का। वही साधन है एक व्यक्ति या आत्मा के लिए तो वही साधन है समूह, समाज या सकल विश्व के लिए भी। समता, समत्व अथवा साम्यवाद एक विचार भी है तो कृति भी है और कृति है तो साधन है। साधन इस कारण कि समता आचरण का सोपान भी है। समता के आचरण की विभिन्न सीढिया है जिन पर क्रमिक रूप से आरोहण करते हुए समता के शिखर तक पहुचा जा सकता है। अत समता की साधना समग्र जीवन की साधना है।

एक आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है कर्म युक्त हो जाना याने कि आत्मा के मूल स्वभाव पर जितने विकारो के आवरण हैं, उन्हे हटाकर आत्मा को उसके मूल निर्मल स्वरूप मे प्रतिष्ठित कर देना। यही आत्मा का मोक्ष होता है, उसकी सिद्धि होती है। सिद्धात्मा ही समत्व योगी और समतादर्शी होती है। ये जो कर्म हैं, आत्मा के विकारो के–पापो के प्रतीक हैं–आत्मा की विकृति कृतियो के द्योतक हैं। कर्म पुण्य रूप भी होते हैं और उनका फल सुखद भी होता है, फिर भी सभी प्रकार के कर्मों का अन्त ही आत्मा को मोक्ष मे पहुचाता है क्योकि कर्म सदा ही विषमता का परिचायक होता है। जहा तक लेश मात्र भी विषमता है, पूर्ण समता की अवाप्ति नही होती है।

पूर्ण समता आध्यात्मिक समता ही हो सकती है और इस दृष्टि से पूर्ण समता की अवाप्ति एक आत्मा द्वारा ही सभव है जो अपनी सजग एव कठिन साधना द्वारा अपने उत्थान के चरम के रूप मे अवाप्त करती है। पूर्ण समता आन्तरिक समता होती है। इसी आन्तरिक समता से बाह्य समता होती है जो बाह्य वातावरण को समानता के साचे मे ढालने का यत्न करती है। बाह्य वातावरण इतना विषम होता हे और अनेकानेक आत्माओ के सचरण से इतना जटिल कि वहा पूर्ण समता की कल्पना दु साद्य है यह अवश्य है कि यदि पूर्ण समता को साध्य के रूप मे सदैव समक्ष रखे तो जटिल विषमता का अन्त किया जा सकता है तथा ससार के बाह्य वातावरण को भी सुखद मानवीय मूल्यों से विभूषित बनाया जा सकता हे। आदर्श ही नीचा हो तो उसकी प्राप्ति बहुत नीची होगी, लेकिन सर्वोच्च आदर्श को दृष्टि मे रखकर जो भी प्रगति सामूहिक रूप से साधी जा सकेगी, वह भी अति मूल्यवान सिद्ध हो सकेगी।

जीवन का उद्भव और सचरण

सासारिक दृष्टि से एक जीवन का उद्भव वर्तमान जन्म के आरभ से माना जायगा, जबकि आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के उद्भव का प्रश्न ही नहीं है, क्योकि यह आत्मा अनादिकाल से इस ससार के जन्म–मरण के चक्र में परिभ्रमण कर रही है तथा वर्तमान जीवन उसी की एक कडी है। दोनो दृष्टियो का समन्वय यो किया जा सकता है कि एक बालक जब गर्भावस्था मे आता हे तो वह अपने साथ अपने पूर्वजन्म के सस्कार (कर्म बध) भी लाता है तो वर्तमान जन्म के सस्कारो को भी ग्रहण करता है जो उसे अपने निकट के वातावरण से प्राप्त होते हैं। फिर भी एक बालक और एक वयस्क की तुलना मे वह बालक अधिक निश्छल और निर्दोष दिखाई देता है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही माना जा सकता है कि यह बाह्य ससार जिसमे सभी जीते हैं और जिसको सभी देखते हैं, बहुत अधिक विषम परिस्थितियो मे चल रहा हे। तभी तो ये विषम सस्कार एक बालक को वयस्क बनते–बनते इतना अधिक जकड लेते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से उसका जीवन अधिकाधिक विषम बनता चला जाता है।

आशय यह है कि ससार की वर्तमान परिस्थितिया दिन–प्रतिदिन अधिकाधिक विषम होती जा रही हैं जो एक बालक से उसकी निश्छलता और निर्दोषता को छीन लेती हैं। कल्पना करे कि यदि एक सीमा तक ससार की इस विषमता को बढने से रोक दे अथवा एक सीमा तक समातमय व्यवस्था की स्थापना कर दें तो क्या यह यह नही हो सकता कि एक बालक की जन्मजात निश्छलता और निर्दोषता सामान्य रूप से अधिक समुन्नत न बन सके तो अधिक विकृत तो न बने। ससार के बाह्य वातावरण को इस सीमा तक तो समताम्य बनाया जाय कि एक बालक को, एक व्यक्ति को या एक आत्मा को अपने शुभ सस्कारो से बिगड या गिरकर अशुभता से लिप्त हो जाने के लिए विवश तो न होना पडे। जीवन के उद्भव ओर सचरण का दृष्टिकोण यही है कि वर्तमान जीवन के उद्भव से लेकर सचरण तक के बाह्य वातावरण को अधिकाधिक समतामय बनाने का सुप्रयास किया जाय जिससे सुप्रभावित होकर भव्य आत्माए सरलता एव सहजतापूर्वक ऊर्ध्वगामी बने तथा समतादर्शन की सर्वोच्चता को साध सके।

मनुष्य के जीवन का उद्भव उसकी गर्भावस्था से ही हो जाता है। गर्भावस्था मे भी बालक नये सस्कारो को अपनी माता की चेतना के माध्यम से ग्रहण करता है। महाभारत काल मे अभिमन्यु इसका ज्वलन्त उदाहरण

माना जाता है जिसने गर्भावस्था मे चक्रव्यूह मे प्रवेश करने की विधि तो जान ली किन्तु वापस उसको भेद कर बाहर निकल आने की विधि न सुन पाने से उससे अज्ञात रही, फलस्वरूप उसके जीवन मे जब चक्रव्यूह को भेदने का अवसर आया तब वह उसमे प्रवेश तो कर गया किन्तु वापस बाहर नही निकल सका। कहने का अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था मे भी बालक की चेतना बाह्य वातावरण से बहुत कुछ सस्कार ग्रहण करती है। फिर जन्म ले लेने के बाद बालक अपने आसपास के वातावरण से भी सीखता है और ज्यो–ज्यो उसकी आयु बढती है, उसके सीखने का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि बालक को यदि शुभ सस्कारो से भरा–पूरा वातावरण दिया जाए तो उसका निर्माण श्रेष्ठ सस्कार युक्त जीवन के रूप मे किया जा सकता है। बाल–शिक्षा का इसी दृष्टि से सर्वाधिक महत्व भी माना जाता है कि एक कुम्हार गीली मिट्टी को चाहे तो दीवड मे बदल सकता है और चाहे तो मल–पात्र मे या कोमल टहनी को ऊपर उठाकर ऊपर बढने की दिशा मे मोड सकते हैं तो नीचे झुकाकर भू लुठित कर सकते हैं। बालक को इस रूप मे गीली मिट्टी या कोमल टहनी मानकर उसके जीवन को सुरचनात्मक बनाने का प्रयास किया जाता है।

यह सुप्रयास इसी दिशा का परिचायक है कि जीवन का उद्भव उसके भावी सचरण की स्वस्थ प्रक्रिया मे ढाला जाय जिससे उस जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो तो वैसे स्वस्थ वातावरण मे पलने वाले सभी जीवनो का श्रेष्ठ निर्माण हो और फलस्वरूप एक समूह, एक वर्ग, एक समाज और परिणामत सकल विश्व का वातावरण स्वस्थ बने तथा उसमे जन्मने और पलने वाले बालको के जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो। कम से कम जीवन के उद्भव की श्रेष्ठता उसके भावी सरचण मे बनी रहे–इतना प्रयास तो सफल बने ही। जीवन निर्माण की ऐसी श्रेष्ठता ही मन, वाणी और कर्म मे समाहित होकर समता की आदर्शता तक प्रतिफलित हो सकती है।

इस विश्लेषण से दो परस्पर विरोधी तथ्य उभर कर सामने आते हैं। एक तो यह कि वर्तमान समय मे विश्व मे विविध प्रकार की विषमताओ ने अति ही जटिल स्वरूप ले रखा है तो दूसरे, उसके बावजूद सामान्य जीवन मे यह शुभाकाक्षा और किन्ही अशो मे यह शुभ चेष्टा विद्यमान है कि नई पीढी के बालको मे श्रेष्ठ सस्कारो का निर्माण हो–उन्हे शुभ, सुभग एव समुन्नतकारी शिक्षा मिले। एक निराशाजनक स्थिति है तो दूसरी आशापूर्ण। अत यह आवश्यक है कि वर्तमान विश्व में फैली और फैलती जा रही विषमताओ तथा

उनके कारणो का आकलन किया जाय और यह निर्णय लिया जाय कि क्या इस वातावरण मे सामान्य रूप से ही सही, कितु शुभतामय परिवर्तन लाया जा सकता हे? क्या परिवर्तन की ऐसी सभावना मे, नई पीढी के सस्कारो को अधिक शुभता के ढाचे मे ढालकर समता के वातावरण को अधिक पुष्ट बनाया जा सकता है?

जीवन विकास का गतिक्रम

इस ज्ञात ससार के ज्ञात समय के इतिहास को यदि देखा जाए तो उससे मानव जीवन के वर्तमान विकास के गतिक्रम की एक रूपरेखा समझ मे आती हे। प्रारभ मे मनुष्य जीवन केवल प्रकृति की कृपा पर चलता रहा जब वन के वृक्षो से वह फल और निर्झर नदियो से जल प्राप्त करके अपना निर्वाह चलाया करता था। जीवन निर्वाह के लिए वह कोई पुरुषार्थ नही करता था। ऐसा ही उल्लेख युगलिया काल का भी आता है जब पुत्र और पुत्री का एक ही युगल जन्म लेता था जो बडा होकर प्रकृति पर ही निर्भर रहा करता था। इस युगलिया काल की परिसमाप्ति ऋषभदेव द्वारा धर्म–कर्म के प्रारभ के साथ हुई। उन्होने ही उस युग मे असि (रण कौशल), मसि (स्याही–महाजन व्यापार) तथा कसि (कृषि) के व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया। इसी अवस्था को आधुनिक इतिहासकारो ने आदिम काल कहा है जब प्रारभ मे अग्नि का आविष्कार भी नहीं हुआ था। अग्नि के आविष्कार के बाद भोजन पकाने की विधि शुरू हुई। इस आदिमकाल मे जब प्रकृति द्वारा निर्वाह पूर्ति मे अल्पता आने लगी, तब मनुष्य ने खेती तथा पशु पालन का व्यवसाय आरभ किया। अब तक मनुष्य घूमन्तु बना हुआ था, लेकिन खेती ने उसे एक स्थान पर ठहरने के लिये विवश कर दिया। उसके बाद ही बस्तियो और ग्रामो का क्रम शुरू हुआ। नदियो के किनारे किनारे ग्रामो ओर नगरो का विकास होने लगा। इस विकास से दो प्रकार की समस्याए उत्पन्न हुई। एक तो सुरक्षा की समस्या तो दूसरी आवश्यक पदार्थो की पूर्ति की समस्या। सुरक्षा की दृष्टि से क्षत्रिय जाति का निर्धारण हुआ कि वे अपने ग्राम, नगर या क्षेत्र की अपनी तलवार के बल पर रक्षा करे और समूह उनका जीवन निर्वाह। आवश्यक पदार्थो की पूर्ति की दृष्टि से वैश्यजाति बनी जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवश्यक पदार्थ पहुचा कर समुचित लाभ अर्जित करने लगी। यही क्षत्रिय जाति धीरे–धीरे अपनी तलवार ही के बल पर शासक जाति बन गई जिसने सामन्त प्रथा तथा राजतत्र को जन्म दिया। वैश्य जाति ने अपने व्यापार के क्षेत्र को बढाते हुए क्षत्रिय जाति से रक्षा पाते हुए अपना वर्चस्व दूर–दूर तक

फैला दिया। चूकि प्रकृति की विविध शक्तियो से मनुष्य का साक्षात्कार होने लगा ओर तब तक प्रकृति की उसकी जानकारी पर्याप्त नही थी अत प्रत्येक शक्ति के अनुभव से उसकी पूजा और तदनुसार धार्मिक क्रियाकाडो का श्रीगणेश हुआ। इसकी जिम्मेदारी ब्राह्मण जाति ने ली। प्रारभ से कृषि आदि व्यवसाय करने वाली उत्पादक जाति उसकी ही पीठ पर बनी दूसरी जातियो से दबती गई और उसका कार्य इन तीनो प्रभावशाली जातियो की सेवा के रूप में ढल गया जो शूद्र जाति कहलाने लगी। इस प्रकार जहा आदिमकाल मे मनुष्यो के बीच मे प्राकृतिक समानता थी, वह विभिन्न जातियो ने अपने अपने शक्ति सन्तुलन के आधार पर समाप्त कर दी। व्यवसायो के जातिगत वर्गीकरण के साथ इस रूप मे सबसे पहले विषमता ने जन्म लिया।

पहिले मनुष्य का अपना कहलाने को कुछ नहीं था। वृक्ष सबके थे ओर नदी निर्झर भी सबके थे। समित्व नाम की कोई स्थिति नहीं थी। उसको खेत का स्वामित्व आया, पदार्थों का स्वामित्व पैदा हुआ तो सम्पति और राज्य का स्वामित्व बना। इस प्रकार शुद्ध समता के वातावरण मे रहने वाले मनुष्य अपने अपने स्वामित्व की दृष्टि से भिन्न-भिन्न जातियो तथा वर्गों मे बट गये। फिर भी प्रारभ मे मानवीय मूल्यो की बहुलता थी, हृदय की सरलता और निर्मलता भी थी जिसके कारण वे एक दूसरे के सहायक और सपोषक रहे। कितु सत्ता और सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व ने मनुष्य के मन मे अधिकार और तृष्णा की आग लगा दी। अपने लिए अधिक से अधिक सचित करना तथा अपने व अपनो के लिए ही उसका व्यय करना-ऐसी सकुचितता पैदा होने लगी-बढने लगी।

फलस्वरूप मनुष्य गलत दिशा का महत्वाकाक्षी बनने लगा। राज्य प्रसार और व्यवसाय प्रसार की होड लग गई कि कौन कितना अधिक उपार्जन करता है और कौन अपना अधिक से अधिक वर्चस्व ओर प्रभाव बनाता है। मनुष्य तब पदार्थी से स्वार्थी बनने लगा और स्वार्थ बढता गया तो उसमे सामूहिक हित की भावना क्षीण होने लगी। उसकी इसी वृत्ति ने बडे-बडे राज्यों की और साम्राज्यो की रचना की जिसके साथ ही दमन और शोषण का दौर दौरा भी शुरू हुआ। सेवा करने वाली जाति का काम सेवा करना है-परिश्रम करना है। यह जरूरी नहीं रहा कि परिश्रम करने वालो को उसके परिश्रम का उचित मूल्य मिले ही। वे परिश्रम पूरा करे और प्रभावशाली वर्ग उसे उसके जीवन निर्वाह के लिए जितना दे दे, उससे वह सतोष कर ले। इस व्यवस्था के चलने से राजनीति और अर्थ के नये ही ढाचे खडे हो गये। राज तत्र की स्थापना करके राजा सेवक के रूप से ईश्वर रूप बन

गया—ईश्वर का इस ससार का प्रतिनिधि। उसकी भिक्षा पर पलने वाले ब्राह्मण वर्ग ने राजा की शान मे चार चाद लगाने शुरू कर दिये। उधर व्यापारी वर्ग ने भी राजा की सेवा करते हुए अपना व्यापार ही नही बढाया बल्कि अपने लाभाशो का भी विस्तार कर दिया। इस प्रकार राजनीति और अर्थ ने अपना गठजोडा जोड कर समाज में एक ऐसे शक्तिशाली वर्ग को जन्म दे दिया जो समूचे समाज का शासक और भाग्य नियन्ता बन गया।

यह शक्तिशाली वर्ग जरूर बना कितु इसी वर्ग मे व्यक्तिवादी होड भी जारी रही। वे व्यक्तिगत प्रभाव के लिए परस्पर सघर्षशील बन गये। इस कारण साम्राज्यवाद के विकास के साथ भीषण युद्धो का और युद्धास्त्रो का विकास भी होने लगा। धीरे—धीरे सभी देशो मे यह विकृति पनपने लगी तथा क्षेत्रवाद और समूहवाद से ऊपर राष्ट्रवाद भी एक आक्रामक शक्ति के रूप मे उभरने लगा। यही से भयकर युद्धो का प्रारभ हुआ। प्रथम विश्व युद्ध (सन् 1914) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध (सन् 1939) तो आज भी कई लोगो की स्मृति मे होगे। इन युद्धो के बाद यह परिस्थिति स्पष्ट होती जा रही है कि अर्थ का वर्चस्व प्रमुख है और वही राजनीति को चलाता है।

इस सारे विषम विकास के बीच मे भी मनुष्य के मन मे बसी हुई समता कभी टूटी नहीं। वह अपनी समता की रक्षा के लिए निरन्तर सावधान भी रहा है। एक ओर तो अर्थ तथा राजनीति की शक्तियो ने अपना अलग वर्ग खडा कर दिया और समूचे समाज पर शासक के रूप में वे छा गई तो दूसरी ओर सामान्य जन अपने दमन और शोषण के विरूद्ध लडते भी रहे। समता की प्रबल आकाक्षा ने ही लोकतत्रीय पद्धति को जन्म दिया है कि जिसमे सभी नागरिक समानता के आधार पर जी सके। यह दूसरी बात है कि वह लोकतत्रीय पद्धति सत्ता और सम्पति के प्रपची स्वामियो के सामने अपने शुद्ध रूप मे विकसित नहीं हो सकी है, लेकिन सघर्ष जारी है।

इस दौरान भौतिक विज्ञान का भी अकल्पनीय विकास हुआ। नये—नये अनुसधानों तथा आविष्कारो ने अपार शक्ति के स्त्रोत खोल दिये, जिन्हे सत्ता और सम्पत्ति के स्वामियो ने अपने अधिकार मे ले लिये। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विज्ञान की शक्ति उनकी शासन शक्ति बन गई। जिस वैज्ञानिक विकास को सामान्य जन का सहायक बनना चाहिए था, वह समव नहीं हो पाया। उसी का कुफल है कि आज का यह विश्व भयानक अणु—शस्त्रो के अम्बार पर बैठा है जिसमे जब भी किसी घोर सत्ता—लिप्सु ने अगार रख दिया तो सारा विश्व धू धू करके जल उठेगा। उस आग में सिर्फ सत्ता और सम्पत्ति

की अन्यायी शक्तिया ही नही जलेगी किंतु वह सब कुछ अमूल्य सास्कृतिक और सुसभ्यता की धरोहर भी जल जायगी, जिसे अपने आदर्श ज्ञान और आचरण के बल पर कई महापुरुषो ने मानव जाति के सुपुर्द की है। वह महाविनाश समुपस्थित न हो—इस ओर आज सबका ध्यान केन्द्रित है।

इसे एक रूप मे सदासद् सग्राम की सज्ञा दी जा सकती है, क्योकि जब ये वृत्तिया ही मानव हृदयो को मथती है, तभी उन का प्रवृत्तियो के रूप मे विस्फोटन होता है। ऐसा सदासद् सग्राम आज मनुष्यो के भीतर भी चल रहा है तो बाहर भी चल रहा है। सद् शक्तियो दुर्बल भले हो लेकिन सजग और सावधान अवश्य है। आवश्यकता है कि इन सद् शक्तियो को अधिक से अधिक लोगो का सम्बल मिले और वे इतनी प्रभावशाली बन जाए कि असद् शक्तियो का शुभ परिवर्तन कर दिया जा सके।

ज्ञात ससार के ज्ञात समय मे हुए जीवन विकास के गतिक्रम की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता ओर सम्पति जितने अशो मे अपने अर्जन और सचय की प्रक्रिया मे व्यक्तिगत हाथो मे केन्द्रित होती हुई चली जाती है, उतने ही अशो मे समाज मे विषमता बढती जाती है। कुछ बहुत अधिक सम्पन्न हो जाते हैं और अधिक अभावग्रस्तता की जिन्दगी जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं। समता के सूत्र भी बट जाते हैं—टूट जाते हैं। विषमता कभी अकेली नहीं आती और फैलती, वह अनीति, अन्याय और अत्याचार के अनेकानेक पाशविक और राक्षसी दुगुणो को साथ मे लाती हैं एव मानव मन को पतन के दल दल मे फसाती है। समझने का मूल बिदु यह है कि व्यक्तिगत स्वार्थ और उसकी निरन्तर बढती हुई तृष्णा के चक्रवात मे सामूहिक या सामाजिक हित समाप्त हो जाता है, कुछ लोगो के भौतिक वर्चस्व के नीचे लाखो करोडो का जीवन निर्वाह दब जाता है तथा सबसे बडी क्षति यह होती है कि मानवीय मूल्य नष्ट होते चले जाते हैं।

किन्तु आशा की किरणे लुप्त नहीं होती। सम्पन्न और अभावग्रस्त वर्गों की नीतिहीनता के बीच मे भी समता और मानवता की ज्योति जलती रहती है। उसी ज्योति मे प्रकाश भरना होता है प्रबुद्ध जनो को, जो मानवीय मूल्यो के लिए निरन्तर सघर्षशील रहते हैं। अत आज के विश्व की जटिल विषमता के कारण हमारे सामने हैं जो मूल मे व्यक्तिगत लिप्सा से बोतल के भूत की तरह फैले हैं। व्यक्तिगत सत्ता और सम्पति की लिप्सा के इस भूत को जितना जल्दी तथा जितने पुरुषार्थ से वापस बोतल मे बद किया जा सके, उतना ही मानव जाति का कल्याण निकट लाया जा सकता हे और उतना ही बाह्य एव आभ्यतर का त्वरित विकास भी साधा जा सकता है।

यह जीवन क्या है ?

जीवन विकास के इस गतिक्रम के उपसहार मे आखिर यह जानना जरूरी हो गया है कि यह जीवन क्या है? इसका वस्तु स्वरूप क्या है और इस जीवन को तदनुसार वास्तविक कैसे बनाया जा सकता है?

ज्ञान की चितन गूढता एव आचरण की सत्यानुभूति के साथ जीवन की यह छोटी सी व्याख्या उभर कर आती है कि जो (1) सम्यक् निर्णायक हो तथा (2) समतामय हो, वही वास्तविक जीवन है। इसे जरा विस्तार से समझें।

वर्तमान युग मे मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन एकाकी नहीं होता। वह समूह और समाज में जन्म लेता है, पनपता है ओर परिपक्वता ग्रहण करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अपने साथी मनुष्यो के सस्कारो, स्वभावों तथा कृत्यो से स्वय प्रभावित होता है तथा आयु वृद्धता के साथ वह भी अपनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो का प्रभाव अपने साथियो पर याने कि समाज पर छोडता है । व्यक्ति और समाज इस रूप मे परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। इस सम्बद्ध स्थिति मे ही नवजात शिशुओ के जीवन का श्रीगणेश और विकास होता है और इस तरह जीवन की क्रमबद्धता चलती रहती है। ये परिस्थितिया ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी का रूप देती हैं। मनुष्य का सम्पूर्ण बाह्य जीवन एक प्रकार से इसी सामाजिक धरातल पर गतिशील होता है।

समाज में कई व्यक्ति होते हैं भिन्न भिन्न सस्कारों, स्तरो और स्वभावो के। इन भिन्नताओ मे क्या सही है और क्या गलत है–जब तक ऐसा निर्णय लेने की बुद्धि और शक्ति न हो, तब तक यह समझ मे नहीं आ सकता कि क्या ग्रहण किया जाना चाहिए और क्या छोड दिया जाना चाहिए? इस कारण जीवन में निर्णय शक्ति का विकास हो–यह पहली आवश्यकता है, जो हर समय घटित होती हुई परिस्थितियो मे निर्णय ले सके कि जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिए तथा कौन कौनसे मानवीय मूल्यों से उसे सवार कर एक स्वस्थ जीवन और एक स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है? चारो ओर फैली विविधताओ के बीच मे एकता के सूत्र यही सम्यक् निर्णायक शक्ति खोज सकती है तथा समता के सूत्रो को भी यही शक्ति एक साथ सयोजित कर सकती हैं। इसी दृष्टि से जीवन को समतामय बनाने का उल्लेख किया गया है। यो मानिये कि व्यक्ति और समाज के जीवन का परम और चरम लक्ष्य समता है और समता की सृष्टि के लिए सम्यक् निर्णायक

शक्ति की पहली ओर आखिरी आवश्यकता हे। व्यक्ति अपने प्रत्येक चरण पर अपने जीवन और समाज के जीवन के प्रति सजग दृष्टि बनाये रखे कि जो भी घटित हो, वह समता के उच्चादर्श की ओर आगे बढाने वाला हो और क्या कार्य इस आदर्श के अनुकूल हैं और क्या कार्य प्रतिकूल--इसका उसी चरण पर सम्यक् निर्णय भी लिया जाता रहे ताकि एक भी चरण मार्ग से भटके नहीं।

जीवन की वास्तविकता इस प्रकार सम्यक् निर्णायक शक्ति ओर समता के उच्चादर्श के रूप मे ढहनी चाहिए। इस वास्तविकता बोध के बाद आज के व्यक्तिगत जीवन की मीमासा और सामाजिक जीवन की समीक्षा करें।

वर्तमान मानव जीवन का आरम होता हे गर्भावस्था मे उत्पत्ति के साथ। गर्भ से ही उस जीवन का जो निर्माण शुरू होता है वह जन्म के बाद तक चलता रहता है। अत प्रारम से ही इस लक्ष्य को ध्यान मे रखा जाय कि बालक मे निर्णायक शक्ति का विकास हो। वैसे बालमनोविज्ञान की दृष्टि से यह माना जाने लगा है कि शिक्षा का उद्देश्य जीवन को इस या उस दिशा मे मोडना नहीं होना चाहिए। शिक्षा का यही उद्देश्य हो कि बालक के मन ओर इन्द्रियो का ऐसा स्वस्थ विकास कर दिया जाय कि वह अपनी प्रगति की दिशा का निर्णय लेने मे स्वय सक्षम हो। वस्तुत प्रारभिक सस्कारो ओर शिक्षा का यही उद्देश्य होना चाहिए। यहद कोई खास दिशा, शिक्षा या गति बालक के मन पर थोप दी जाती है तो उसका स्वस्थ विकास विवशता के भार के नीचे दब जायेगा ओर उसकी जीवनी शक्ति पगु बन जायगी। यह सही है कि बालक असहाय होता हे और उसे भिन्न भिन्न स्तरो पर अपनी माता, अपने परिवार, अपने सगी साथी और अपने समाज की सहायता की अपेक्षा होती है किन्तु वह सहायता उसके लिए रचनात्मक होनी चाहिए। इसे एक उदाहरण से समझिए। सडक के किनारे पर एक लगडा बैठा हुआ हे, उसे अपने गतव्य तक पहुचने के लिए आपकी सहायता की अपेक्षा है। आप कल्पना करें कि उसकी दो प्रकार से सहायता करते हें। एक तो आपने उसको खडा किया, अपने कधे का सहारा दिया ओर उसे ले चले उसकी नहीं अपनी मर्जी या अपनी सुविधा से। समझिए कि आपने उसे शहर के बाहर एकान्त मे छोड दिया और चले आये बिना परवाह किये कि उसका वहा क्या होगा? दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि आप उसे अस्पताल ले गये उसकी टाग का ईलाज कराया और जब वह तदुरुस्त हो गया तो उसे अपनी इच्छा

के अनुसार जीवन बिताने के लिए स्वतत्र छोड दिया। अब सोचिये कि कौनसा प्रकार सही है और किस प्रकार से जीवन का स्वस्थ विकास हो सकेगा?

बालक के साथ भी यही बात हे। प्रारभिक सस्कारो और शिक्षा से उसमे यह शक्ति पैदा की जाय कि वह स्वतत्रतापूर्वक अपने जीवन विकास के सम्बन्ध में स्वय निर्णय ले सके। उसे सहयोग दिया जाय लेकिन वास्तविक विकास भी उस पर थोपा नही जाय, क्योकि थोपने पर मानसिकता अच्छाई तक के भी विरूद्ध हो जाती है। स्वय के विवेक से जो ग्रहण किया जाता है, वही स्थिरता से पकडा जाता है। अत स्वय सक्षम बनकर बालक जो निर्णय लेगा, वह अधिकाशत सही निर्णय होगा। यही ऐसी निर्णायक शक्ति का विवेक प्रारभ मे ही सजग बना दिया जाता है तो निश्चय मानिये कि उस जीवन का विकास सदा स्वस्थ रीति से चलेगा।

सम्यक् निर्णायक शक्ति के स्थापित हो जाने के बाद समता का मार्ग खोज लेना और उस पर दृढता पूर्वक गति करना कठिन नहीं रह जायगा, क्योकि समता की आकाक्षा मानव मन के मूल मे रहती है और वह प्रत्येक परिस्थिति मे जब बाहर प्रकट होने का रास्ता दूढती है तो अनुकूल परिस्थितियो में समता की आकाक्षा का फूलना और फलना अनिवार्य है।

समता का मूल्याकन

समता मानव–मन के मूल मे होती है, जो गुण मूल मे होता है, वह कभी न कभी अवसर एव अनुकूलताए प्राप्त करके अकुरित होता ही है और तदनुसार पल्लवित एव पुष्पित भी होता है। अत समता का मूल्याकन करने की अपेक्षा हम समता को मूल्य ही माने तो वह एक अधिक सत्य मान्यता होगी। जो स्वय जीवन का एक मूल्य है तथा सर्वोच्च मूल्य हैं, वह मूल्याकन का गुण नही, सर्वभावेन ग्रहण करने वाला मूल्य होता है।

अत समता दृष्टि भी है और कृति भी। दृष्टि जागृत होती है तो कृति आचरण में प्रकट होती है और कृति ज्यों–ज्यो परिपुष्ट होती है, त्यो–त्यों दृष्टि निर्मल एव प्रखर बनती जाती है। अन्ततोगत्वा कृति अपनी समुन्नति के शिखर पर पहुच जाती हे तो दृष्टि भी त्रिकाल एव त्रिलोक दर्शी बन जाती है। तब दृष्टि ही दृष्टि सर्व सत्य हो जाती है। वही समत्व योग का पूर्ण सत्य होता है।

समता की यह दृष्टि तीन चरणो मे पूर्णत्व प्राप्त करती है व्यक्ति के विकासशील जीवन मे। पहले वह सम्यक् दृष्टि होती है, फिर गुण दृष्टि बनकर ज्ञान, दर्शन एव चरित्र के विभिन्न सोपानो पर आरूढ होती है और

अन्त मे समता दृष्टि बनकर सर्वजग हितकारिणी हो जाती है। एक व्यक्ति की अन्तरात्मा मे समता का इस रूप मे उच्चतम विकास होता है तो उसका बाह्य जगत् मे भी यथाविध प्रसार होता है। भीतर की समुन्नत समता बाहर के वातावरण को भी समानता के रूप मे प्रभावित करती है और परिवार के घटक से लेकर, समाज, राष्ट्र एव सम्पूर्ण ससार मे पारस्परिक सहृदयता एव सहयोग की परिपाटी को प्रारभ करती है। समता मानव मन मे पल्लवित एव पुष्पित बनकर समग्र ससार को अपनी सुवास से आनन्दित बनाती है।

समता के ये तीन चरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हें जो मानव–मन को आदोलित, आप्लावित और आह्लादित बनाते हैं। अपनी अविकास की अवस्था मे मानव–मन अज्ञान के अधकार मे भटकता है, तब उसे अपने ही हिताहित की सज्ञा नही होती। अपने ही भौतिक सुख की वितृष्णा मे वह भ्रमित होता रहता है ओर उस सुख की भी उसे प्राप्ति कम और पीडा अधिक रहती है। उस समय उसे आवश्यकता होती है सम्यक् दृष्टि की याने कि उसकी मिथ्या दृष्टि मिटे और दृष्टि उन सत्यो को देखे जो उसके लिए अपने स्वस्थ आत्मविकास के प्रेरक होते हैं। उन सत्यो को देखना, समझना, परखना तथा अपनाने की प्रेरणा प्राप्त करना ही सम्यक् दृष्टि का वरण कहलाता है। असत्य को सत्य मांनकर तथा दुख दायक को सुखदायक मानकर चलने वाले मिथ्यात्व से मुक्त होना सबसे पहले जरूरी है। मिथ्यात्व जब तक बना रहता है तब तक विपथगामिता चलती रहती है और जो विपथगामिता है, वही भटकाव है। इस भटकाव से सत्य–पथ मिले और सत्य–पथ पर चलने की धारणा बने–यही सम्यक् दृष्टि है।

यह सम्यक् दृष्टि सम्यक् ज्ञान की अवधारणा से उत्पन्न होती है। यो तो ज्ञान प्रत्येक आत्मा मे लक्षण रूप होता ही है क्योकि ज्ञान के सर्वथा अभाव मे जीवत्व ही नही रहता है, कितु वह ज्ञान अपने आत्म विकास के पथ को परख ले और अपने साध्य को भलीभाति पहिचान ले–तभी वह सम्यक्त्व मे ढलता है। यो मनुष्य ससार की विविध कलाओ का अनूठा ज्ञान और विज्ञान प्राप्त कर ले, कितु जब तक वह अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियो के निग्रह तथा अपनी अनन्त इच्छाओ के निरोध का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को अहिसक, सत्यमय एव सुस्थिर नहीं बना पाता है, तब तक उसका अन्य कलाओ सबधी सारा ज्ञान और विज्ञान अपूर्ण ही कहलायगा। इसका स्पष्ट कारण है। जो स्वय अपने जीवन को सर्वहितकारी बनाने की कला सीख नहीं पाता, वह दूसरा कितना ही क्यो न सीख जाय–जीवन जीने की कला नहीं

सीख पायगा। जीवन जीने की कला को दो शब्दो मे परिभाषित करे कि जीओ और जीने दो। स्वय इस तरह जीओ कि दूसरे भी सहजतापूर्वक जी सके। यह दिखने मे जितनी छोटी बात है, आचरण करने मे उतनी ही कठिन और महत्त्व की बात है।

जीवन जीने की सच्ची कला का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि का निर्माता बनता है। व्यक्ति अपने जीवन मे अकेला नहीं रहता, वह सदा ही समूह या समाज मे रहता है, जहा उसका अपने ही साथी मनुष्यो से तो अन्य सभी तरह के छोटे बडे प्राणियो से हर समय सपर्क होता रहता है। उन सबके बीच मे सबको सुख देते हुए और सुख लेते हुए वह कैसे जी सकता है—यही इसलिए कि प्रकाश तो है लेकिन वह उतने मोटे पर्दो से ढका हुआ है कि उसकी झलक भी नहीं दिखाई देती। ये पर्दे अपनी ही अकर्मण्यता के होते हैं जिन्हे कर्मों के पर्दे कहते हैं। कर्म सिद्धान्त के कर्म कोई अन्य नहीं, अपने ही किए हुए कर्म होते हैं। कल्पना करे कि कोई जान से या अनजान से अपनी ही आख मे कीला चुभा ले तो आख जरूर फूट जायेगी, दृष्टिहीन हो जायेगी। तो यह अपना कर्म हुआ कि अपने हाथो अपनी आख फोड ली। अब दृष्टि वापस तभी प्राप्त हो सकती है जब उसकी योग्य चिकित्सा कराई जाय तथा वह चिकित्सा भी अपना श्रम और समय लेगी ही। इसके बावजूद भी दृष्टिहीनता का दु ख लम्बा भी हो सकता है। आख मे यह कीला चुभोते हुए तो आदमी को उसके कुफल का भान रहता है लेकिन अपने सुख के लिए दूसरो को दु ख देते हुए—तडपाते और कलपाते हुए आदमी को—सभी देखते हैं—अपनी ताकत के गरूर मे जरा भी भान नही रहता। ऐसा कुकृत्य अपना कुफल तो देगा ही जल्दी या देर से। ऐसे कुकृत्य ही कर्म बध रूप होते हैं और उनका कुफल मिलना कर्मों का उदय मे आना कहा जाता है। कर्म बुरे भी होते है तो अच्छे भी। अच्छों का फल अच्छा मिलेगा। यही पाप और पुण्य है। दूसरो को दु ख दोगे तो दु ख मिलेगा और सुख दोगे तो सुख मिलेगा इसलिए अपने आचरण को सुधारो और सतुलित बनाओ कि कुकृत्य कम से कम हो और सुकृत्य अधिक से अधिक। तब बुरे कर्म कम बधेगे और अच्छे कर्म अधिक—तदनुसार बुरा कम मिलेगा और अच्छा फल अधिक। अच्छा फल यह होगा कि आत्मिक स्वरूप मे विकास हो, अनावृत्तता आवे तथा आचरण की सुघडता पैदा हो। आचरण धीरे—धीरे इतना सुघड और स्वस्थ होता जायगा कि नया कर्मबध नहीं होगा और पुराना झडता जायगा। यही गुण दृष्टि के विकास का क्रम होगा।

गुण दृष्टि के विकास का प्रारभ होगा श्रेष्ठ आचरण के शुभारभ से कि जीवन मे नियम का अनुपालन शुरू किया जाय। नियम, व्रत या प्रत्याख्यान–एक ही बात है। ये व्रत स्वय से भी सबधित होते हैं, तो उनका हितकारी प्रभाव दूसरो पर भी पडता है। व्रत को दूसरे शब्दो मे त्याग भी कह सकते हे। अपने पास जो भौतिक सुख सामग्री हे, उस पर से अपनी आसक्ति कम करते जावे–उसे छोडते जावे। यह पदार्थों का व्यक्तिगत त्याग उनके समाज मे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया का रूप भी ले लेता है। सविभाग तब आचरण का अभिन्न अग हो जाता है। त्याग सामान्य से आशिक होता हे तब श्रावकत्व का व्रत होता है और जब वह त्याग सर्वथा पूर्ण हो जाता हे तब साधुत्व का महाव्रत हो जाता है। यह साधुत्व की निसरणी ही अतिम साध्य तक पहुचाती है। साधु 'जीओ और जीने दो' याने कि जीने की कला की जीवत मिसाल होता है। इसी अवस्था मे गुण दृष्टि परिपक्व होती है–गुणस्थानो के उच्चतर सोपानो पर समुन्नत बनती हुई।

जीवन मे श्रेष्ठ आचरण का अवरोधक माना गया हे विषय और कषाय को। विषय कहते हैं इन्द्रियो के सुख को, इच्छाओ की लालसा को और सत्ता व सम्पत्ति की लालसा को। विषय ही राग द्वेष को जन्म देते हैं। जो अपने को अच्छा लगे–मनोज्ञ हो–उससे राग होता है और अमोनज्ञ के प्रति द्वेष। राग द्वेष की प्रतिक्रियाए कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया ओर लोभ को जन्म देती है–राग से माया और लोभ तथा द्वेष से क्रोध और मान मुख्यत फूटता है। विषय और कषाय के सम्मिलित कुप्रभाव से सपूर्ण जीवन प्रक्रिया मे प्रमाद फैलता है और यही प्रमाद श्रेष्ठ आचरण को पनपने नही देता। गुण दृष्टि के विकास क्रम मे इन्हीं विकारो को जड से उखाडना होता है और आचरण का प्रबल पुरुषार्थ नियम, सयम एव तप के रूप मे करना होता है। तभी ये सारे जीवन के विकार नष्ट होते हैं। जीवन तब निर्मल होता है और वही निर्मल जीवन दूसरो के लिए आदर्श बन जाता है।

यही गुण दृष्टि जब अपनी परिपूर्णता के चरम बिन्दु तक पहुच जाती है, तब वही समता दृष्टि बन जाती है, सबको समान दृष्टि से देखने वाली और सबको सत्य की कसौटी पर परखने वाली। समता दृष्टि का वह चरमादर्श रूप होता है। इसका यह अर्थ नही कि समता जीवन मे इससे पहले आती ही नहीं। समता तो शुरू हो जाती है सम्यक् दृष्टि के आगमन के साथ ही, जो तदनन्तर दृष्टि और कृति मे समुन्नत बनती रहती है। अपनी पूर्णता की प्रक्रिया मे समता अपने साधक के आचरण को सयमित और सतुलित बनाती

हे तो उसके अदर बाहर को सुधारती हे। साधक का ऐसा सशोधित जीवन बाहर की दुनिया मे भी नये नये सुधारो को प्रेरणा देता है। इस प्रकार समता का सर्वांगीण स्वरूप क्रियान्विति मे अभिवृद्धि होता रहता है।

विषमता का मूल व विस्तार

विषमता भी दृष्टि और कृति मे होती है तथा उसका मूल भी विभाव के रूप मे मानव–मन मे ही उभरता है। मन का यह वैभाविक मूल ही मन के भीतर, मन के बाहर, अपने आसपास के वातावरण मे तथा समाज, राष्ट्र व विश्व मे विस्तार पा लेता है।

एक प्रश्न उठता है कि समता स्वाभाविक है अथवा विषमता? स्वभाव उसे कहते हैं जो अपने भाव मे–अपने विचार मे अच्छा लगे। इस अच्छेपन की कसौटी कहीं बाहर नही होती और न ही इस अच्छेपन पर फैसला कोई बाहर वाला दे सकता है। यह आत्मानुभव का विषय हे। व्यक्ति स्वय ही अपने स्वभाव की परख करता है। किंतु यहा एक समस्या भी पैदा होती है। क्या व्यक्ति सदा ही सही परख कर सकता है या कर लेता है? बाहर के क्रिया कलापो से ऐसा नहीं दिखाई देता। कइयो को वास्तव मे वैसा आचरण करते हुए देखते हैं जो उनका स्वभाव नहीं होना चाहिए फिर भी वे उसे अपना स्वभाव मानकर वैसा आचरण करते हैं। यह क्या है? यह भ्रमपूर्ण दशा होती है जिसमे जो स्वभाव नही होता, उसे स्वभाव मान लिया जाता है। इसे ही विभाव कहते है–अपने भाव से विपरीत भाव।

प्रश्न उठता है कि इस स्वभाव–विभाव को जाचेगा कौन और कौन विभाव को मिटाने की प्रेरणा देगा? यह सब अपना खुद का मन अपनी आत्मा ही करेगी। यह सही है कि व्यक्ति विपरीत आचरण करता है–विषमता से खुलकर खेलता है और फिर भी चेतता नही है, किंतु यह उसका विभाव ही होता है। एक क्रूर से क्रूर व्यक्ति को भी उसके दिल की बात पूछो तो वह कहेगा कि किसी की दयापूर्ण सहायता का वह छोटा सा काम भी कर लेता है तो उसे मन मे खुशी होती है लेकिन अपने स्वार्थ के लिये या अन्य किसी परिस्थिति के वशीभूत होकर वह क्रूर और हिसक कार्य करता है। इसमे भी वह अपने मन को मारता है। क्रूर के पहिले या बीच–बीच मे उसके अन्तर्मन से यह आवाज जरूर उठती है वह ऐसा न करे, किन्तु उस आवाज को वह अनसुनी कर देता है और धीरे–धीरे उसकी वह आत्मा की आवाज उपेक्षित होकर दब जाती है तब यो समझिये कि उसका स्वभाव भी दब जाता है। स्वभाव नष्ट नहीं होता, दबता ही है, इस कारण दबे हुए स्वभाव को फिर से

प्रकट करने के लिये चहुमुखी प्रयासो की आवश्यकता होती हे। व्यक्ति में भी जागृति लाई जाय और सामूहिक वातावरण मे भी ऐसा सुधार कि जहा विभाव की अवमानना हो और स्वभाव को प्रोत्साहन मिले। मुख्यत पहिचान और विभाव परिवर्तन की प्रेरणा अपने ही भीतर से उठनी चाहिये, क्योकि भीतर से उठी हुई प्रेरणा ही कर्मठतापूर्वक क्रियाशील होती है।

विषमता और विभाव एक दूसरे को फैलाने वाले होते हैं। व्यक्ति जब अपने विचार, वचन तथा कार्य में स्वभाव से फिसलता है, तब उसके मन मे विभाव अपनी जडे जमाता है और जिस रूप मे विभाव फैलता है, उतनी ही विषमता उग्र रूप धारण करती है। मन से उपजी हुई विषमता न सिर्फ वृत्तियो को विषम बनाती है, बल्कि उस व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियो मे वह विष घोल देती है और प्रवृत्तियो का वह विष ही सम्पर्क से परिवार, समाज और राष्ट्र मे फैल कर जन–जन को विषमता मे रगने लगता है। और ज्यो–ज्यो विषमता फैलती है, उन्मत्तता मे, मूर्खता मे या कि विवशता मे स्वभाव की समता और समरसता कटु बनती रहती हे–विभाव का आतक बढता जाता है।

इसलिये विषमता के विस्तार को रोकने के लिये तथा उसका मूलोच्छेद करने के लिये सबसे पहिले व्यक्ति को अपने विभाव को ही रोकना होगा–विभाव का ही मूलोच्छेद करना होगा। किन्तु इस दिशा मे व्यक्ति का पुरुषार्थ तभी जगेगा जब वह विषमता और विभाग के सम्बन्धगत कारणो को भलीभाति समझले।

इस ससार मे जन्म लेने के बाद सबसे पहिले जो समस्या मनुष्य के सामने खडी होती है, वह होती है जीवन निर्वाह की समस्या। इस समस्या का समाधान अनिवार्य होता है– इस से मुह नहीं मोडा जा सकता। जीवन निर्वाह के साधन और पदार्थ सामान्यतया विपुल नही होते या कि सुलभ भी नहीं होते कि सभी लोगो को वे अनायास प्राप्त हो जावे। जीवन निर्वाह के लिये अति आवश्यक पदार्थ भी आयास प्रयास के उपरान्त न मिले तब भी समस्या खडी होती है और जिनको वे पदार्थ विपुलता से मिल जाये तथा वे उनको सचित करके अपने अधिकार मे दबाये रखे–तब भी समस्या खडी होती है। समस्या तब नहीं रहती जब समान हार्दिकता से सभी प्राप्त पदार्थो का सभी लोगो मे सविभाग होता रहे। तब यदि पदार्थो की अल्पता भी रहती है तो भी समस्या नहीं आयगी क्योकि सविभाग और समान न्याय से सभी मन से सतुष्ट रहेंगे। पदार्थ अल्प हो और असविभाग भी रहे तब समस्या जटिलतर हो जाती है।

समस्या की जटिलता इस तरह फूटती है कि जब कोई हमदर्दी छोडकर निर्दयी बनता है, साथियो के आसुओ को पीकर स्वार्थान्ध हो जाता है तो वह अपने ही लिये येन केन प्रकारेण आवश्यक पदार्थों को जुटाने की कुचेष्टा करता है। कुचेष्टा इसलिये कहा जाय कि वह उपार्जन उसका नीतिमय नही होता। अनीति और अन्याय से ही वह अधिक लूटता है और उनका सचय भी करता है। ऐसा सचय पहले से पदार्थों की अल्पता को अधिक भयावह और कष्टदायक बना देता है। जिन्हे आवश्यक पदार्थ नहीं मिलते, उनकी सहन शक्ति जबाबा दे देती है, उनका धैर्य छूट जाता है। विभाव की बाढ के सामने वे भी अपना स्वभाव भूल जाते हैं। इस प्रकार आचरण मे आरभ होती है हिसा और हिसा ही समस्या की जटिलता की जड होती है। हिसा ही रक्षक सस्कारो को भक्षक के रूप मे विकृत बनाने लगती है। हिसा की तरफ झुक जाने से व्यक्ति अपने स्वभाव की और अपनी आत्मा की आवाज की निरन्तर उपेक्षा करने लग जाता है क्योकि हिसा उसके हृदय के कोमल भावो को कुचल डालती है।

आचरण मे हिसा के फूट पडने के बाद जीवन का सारा सतुलन टूट जाता है। फिर हर रास्ता विषमता का रास्ता बन जाता है। यह विस्मृत विषमता का वातावरण कैसा होता है--उसका प्रत्यक्ष अनुभव आज शायद सभी को हो रहा होगा। आज पारस्परिक सबधो की मर्यादाए टूट रही हैं, पारम्परिक शिष्टाचार मिट रहा है और अपने स्वार्थो को पूरा करने के लिए कोई भी बेरोकटोक आक्रामक और हिसक बन जाता है। यही कारण है कि अपराध वृत्ति, दगे और सघर्ष सामान्य बात हो गये हैं। हिसा का द्वार जिस व्यक्ति के अथवा समाज या राष्ट्र के जीवन मे खुल जाता है फिर उसकी सस्कृति और सभ्यता भी नष्ट होने लगती है। हिसा सभी प्रकार के दुर्गुणो तथा पापमय आचरणो की जननी होती है। यह हिसा रूई मे पडी चिनगारी से लगी आग की तरह तेज गति से फैलती ही जाती है, तब उस पर काबू पाना भी एक अति कठिन कार्य हो जाता है।

हिसा का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी का वध कर देना ही हिसा नहीं, अपितु दस प्राणो मे से किसी भी प्राण का हनन करना या उसको कष्ट पहुचाना भी हिसा है। किसी को आतकित करना, डराना या उसे अपने अधीन बनाना भी हिसा है। ये सब हिसा के रूप जब फैलते हैं तो मानवीय गुणो का ह्रास होता है और जीवन--मूल्य नष्ट होते हैं। इसे एक द्रष्टान्त से समझे। एक परिवार मे सभी खून के सम्बन्ध मे बधे होते हैं अत

स्पष्ट हे कि हृदय से अपेक्षित या अधिक निकट होते हें। सोचे कि एक परिवार मे पाच छ सदस्य हैं। उनमे वृद्ध भी हें तो बच्चे भी हें। यद्यपि धनार्जन का श्रमपूर्ण कार्य युवक सदस्य करते हैं, तब भी अधिक व्यय वृद्धो और बच्चो पर किया जाता है क्योकि उन्हे पोषक तत्त्वो की अधिक आवश्यकता होती है। कमाने वाले सदस्य ऐसा करके अपने को कर्त्तव्यनिष्ट मानते हैं और यह नहीं सोचते कि कमाते वे हैं और खर्च उन सदस्यो पर अधिक होता है जो कमाते नहीं है। इस प्रकार की पारिवारिक मर्यादाए स्वस्थ रूप से ढल जाती हैं और चलती रहती हैं। यह पारिवारिक कर्त्तव्य और शिष्टाचार बन जाता है। अब सोचे कि उस परिवार मे अर्जन मे कमी आ जाय और पदार्थो की अल्पता होने लगे तब भी पारिवारिक मर्यादाओ के रहते प्रचलित व्यवहार मे परिवर्तन नहीं आवेगा। सभी एक दूसरे के लिये कष्ट भोग को तैयार रहेगे और स्नेह यथावत् रहेगा। इस अल्पता के कष्ट यदि बढने लगे और कोई युवा सदस्य उत्तेजना पकडले या फिर क्रूरता अपनाले तो निश्चय मानिये कि दिलो मे दरार पड जायगी और एक सुखी परिवार दु खपूर्ण मानसिकता से घिर जायगा। हिसा का द्वार किसी भी रूप मे खुला नहीं कि दु खो की बाढ आई नहीं। कारण, विभावगत विषमता सबके मन–मानस मे कटुता भर देगी और देखते देखते परिवार की एकता नष्ट हो जायगी। ऐसा ही सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी घटित होता है।

इस रूप मे विषमता का विस्तार हिसा के द्वार से आरम होता है और गुण–मूल्य की क्षति के साथ बेरोकटोक फैलता रहता है। सोचना है कि विषमता के इस विस्तार का मूल कहा है ? एक शब्द में कहे कि यह मूल है जड सम्पर्क से जड के प्रति सघन बन जाने वाला चेतन का व्यामोह। विषमता इसी से उपजती है और आध्यात्मिक दृष्टि से कर्मबधन तथा ससार परिभ्रमण भी इसी से होता है। जब तक इस सत्य को हृदयगम नहीं करेगे कि आत्मा चेतना गुण वाली होकर ससार के सभी जड पदार्थो से पृथक् है और जडचेतन सयोग तथा उसके प्रति जटिल व्यामोह इस पृथकत्व को स्पष्ट नही होने देता है, तब तक यह व्यामोह कम नहीं होगा और वैसी दशा मे विषमता भी कम नही होगी।

अधिक जडग्रस्तता . अधिक विषमता

ससार मे जो कुछ इन बाहर की आखो से दिखाई देता हे, यह सब जडतत्त्वो की रचना है। आत्म तत्त्व चर्म चक्षुओं का विषय नही होता, अनुभूति का विषय होता है और यह अनुभूति अभ्यास से मिलती है। अत सम्यक् ज्ञान

के अभाव मे इन जड तत्त्वो के प्रति ही झुकाव पेदा होता हे और इन्हीं की प्राप्ति मे सुख की कल्पनाए की जाती हैं। अपने शरीर और अपनी वस्तुओ के प्रति पनपने वाला यह झुकाव ही प्रगाढ बनकर ममत्व का रूप ले लेता है।

ममत्व की इस भूमिका पर ही विषमता की विष बेल उगती हे। ममत्व का अर्थ है मेरापना। यह मेरा है और यह तेरा है--इसी बिदु से विषमता शुरू होती है। मेरा मैं रखता हू और तेरा तू रख की वृत्ति तब तक ही चलती है, जब तक मानवीय मूल्यो का सत्प्रभाव रहता है। यह सत्प्रभाव जब घटने लगता है और जो घटता है ममत्व की मूर्छा के बढते रहने के साथ--तब मेरा भी मैं रखता हू और तेरा भी मैं रखूगा--ऐसा क्रूर अनीतिमय स्वार्थ जागता है। इसके साथ ही हिसा का द्वार खुल जाता है।

ममत्व पैदा होता है आसक्ति से और आसक्ति मूर्छारूप होती है जिससे सदासद् की सज्ञा क्षीण हो जाती है। शरीर मेरा है और इन्द्रियो का सुख मेरा है--इस मान्यता के साथ कामनाऍं जागती हैं कि मुझे शब्द, वर्ण, गध, रस और स्पर्श के ऊचे से ऊचे सुविधापूर्ण साधन मिले ताकि मैं अपनी इन्द्रियो को तृप्त करू। यह तृप्ति भी बडी अनोखी होती है जो मिलती कभी नहीं और साधनो की प्राप्ति के साथ ज्यादा से ज्यादा भडकती रहती है। जिन साधनो की कामना की जाती है, उनको पाने मे आसक्ति की बहुलता के कारण विचार और व्यवहार की उचितता अथवा नैतिकता भुला दी जाती है। फिर ज्यो--ज्यो इच्छित साधनो की प्राप्ति होती जाती है, त्यो--त्यो प्राप्त का सुख भोगने की अपेक्षा अप्राप्त को प्राप्त करने की चिन्ता अधिक सताती है। तथ्यात्मक स्थिति यह होती है कि, तृप्ति कभी होती नहीं, सुख कभी मिलता नहीं। जो सुख महसूस करते हैं, वह सुख भी वैसा ही होता है जैसा सुख एक कुत्ता सूखी हड्डी चबाते रहकर अपने ही खून का स्वाद लेता है और सुख महसूस करता है। जड पदार्थो का सुख भी सूखी हड्डी जैसा होता है जो आत्म गुणो का नाश करके इन्द्रियो के सुखाभास मे जीवन को भ्रमित बनाता है और विषमता के जाल मे फसाता है।

इसी कारण परिग्रह--सत्ता और सम्पत्ति के प्रति आसक्ति भावना रूप मूर्छा को कहा है क्योकि यही आसक्ति--भावना परिग्रह धारी या परिग्रह हीन को भी घोर परिग्रहवादी बनाती है। परिग्रहवाद वही है जडग्रस्तता और जीवन मे जितनी अधिक जडग्रस्तता सघन बनती है, उतनी ही विषमता भी जटिल बनती है। इस विषमता से व्यक्ति के जीवन मे शक्तिस्रोतो का सन्तुलन

बिगड जाता हे तो व्यक्ति का असयमित एव असन्तुलित जीवन समाज और राष्ट्र के वृहद् शक्ति स्रोतो को भी विकृति की राह पर धकेलता है। जब व्यक्ति की विषमताग्रस्त अवस्था मे उस की मानवीय गुणवत्ता, सौजन्यता तथा हार्दिकता कुठाग्रस्त बन जाती है तो वही कुठा व्यापक बन कर राष्ट्रीय चेतना पर प्रहार करती है। जडग्रस्तता के फेलाव मे भोग स्वार्थ ओर मूर्छा का फैलाव होता है। यह एक ऐसे अँधेपन का फेलाव होता है जिसमे मनुष्य निजी स्वार्थो का सकुचित घेरा बनाकर उसी मे अपने को कैद कर लेता है। वह परहित को भूल जाता है, बल्कि अपने निकटस्थो के सुख दुख से भी द्रवित नहीं होता और अपनी ममत्व–मूर्छा मे ही उन्मत्त बन जाता है। तब वह आध्यात्मिक ज्ञान से तो शून्य होता ही है, किन्तु लौकिक व्यवहार से भी शून्य होता जाता है। यही उसके सर्वमुखी पतन का मार्ग होता है।

जडग्रस्तताजन्य विषमता छूत के रोग के समान होती है जो अधिक सत्ता और सम्पति येन केन प्रकारेण अर्जित कर लेने का प्रलोभन बिखेरती हुई अधिक लोगो को तीव्र गति से जडग्रस्त बनाती है, इस कारण इसकी रोक व निवारण के उपाय भी उसी स्तर से किये जाने चाहिये जो किसी सक्रामक रोग के लिये किये जाते हैं। यह कार्य प्रबुद्ध जनो, धर्मोपदेशको आदि का होता है जो जडग्रस्तता की हानियो को भली प्रकार समझा कर सामान्य रूप से ऐसी विषमता के विरुद्ध जनमत बनाने का प्रयास करते हैं। इसी से त्याग का रूझान भी बढता है और आत्मोन्मुखी वृत्ति विकसित होती है।

समता की दृष्टियां

विषमता एव हिसा से आवृत्त वर्तमान जटिल वातावरण मे आशा की किरणे दिखाई देती हैं जो दो प्रकार से मन मानस को हताश नहीं होने देती है। एक तो यह बुनियादी तथ्य है कि मनुष्य का स्वभाव समतामय है और विभावगत विषमता के कितने ही गहरे कीचड मे वह चाहे फस जाय, उसका स्वभाव समय समय पर समता की बलवती प्रेरणा के झटके लगाता ही रहता है। अव्यक्त तरीके से तो यह स्वभाव मनुष्य को उसकी प्रत्येक विकृत वृत्ति या प्रवृत्ति के कार्यरत होने से आरम मे ही चेतावनी देता रहता है, जिसे अनसुनी करते करते भी यह चेतावनी असर कर ही देती है।

इसका पुष्ट कारण यह है कि कोई कितना भी पतन के गढ्ढे में चला जाय, मनुष्य का मन अपनी चचलता के कारण क्रिया ओर प्रतिक्रिया के चक्र मे घूमना नहीं छोडता। जडतापूर्ण विषमता के प्रति जागी हुई मन की रागात्मक क्रिया भी जब एक सीमा तक कार्यरत हो जाती है तो उसी से

उसकी प्रतिक्रिया भी फूटती है। उस प्रतिक्रिया के क्षणो मे वह मन अगर सम्यक बोध पा जाय तो प्रभावशाली परिवर्तन भी सभव हो जाता है।

दूसरी प्रकार की आशा की किरण यह होती है कि सामूहिक और सामाजिक रूप से विषम परिस्थितिया उत्पन्न हो जाने के उपरान्त भी कई प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उस पतनावस्था के विरुद्ध विद्रोह और सघर्ष करते हैं तथा अपनी सदाशयता से नीति एव समतामय परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। प्रयत्नो की यह निरन्तरता एक ओर विषमताओ को अति सघन नही बनने देती तो दूसरी ओर पतनोन्मुख व्यक्तियो के हृदयस्थ भावो मे शुभ परिवर्तन का आन्दोलन जगाती रहती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने ही मन की बदलती विचारणाओ के कारण और समूह या समाज प्रबुद्ध व्यक्तियो द्वारा बदली जाने वाली धारणाओ के कारण समता के साध्य से पूर्णत विस्मृत कभी नहीं होता है। इस कारण हताशा कभी भी उत्साही मनो को शिथिल न बनावे–यह शिक्षा लेनी आवश्यक है। विषमता का जितना गहरा घटाटोप अधकार है, उसमे समता की एक तीली भी कोई जला सके तो वह भी यत्किचित् प्रकाश की रेखा अवश्य अकित करेगी। एक व्यक्ति के कई प्रयास या निरन्तर प्रयास जब कई व्यक्तियो के निरन्तर प्रयासो मे परिपुष्ट बनते हैं और जब आर्थिक एव राजनीतिक प्रयास भी समाज मे सामूहिक परिवर्तन की दृष्टि से किये जाते हैं तो कोई कारण नही कि विषमताओ का चलन बहुत हद तक न घटे और समता को प्रोत्साहन देने वाला सामान्य धरातल भी न बने। ऐसे शुभ कार्य में त्याग और बलिदान की अपेक्षा तो रहेगी ही। रेगिस्तान की तपती हुई रेत मे पडने वाली और तुरन्त विलुप्त हो जाने वाली वर्षा की पहली बूदों की तरह विषमताओं को मिटाने के भगीरथ कार्य मे भी समर्पित भावना अनिवार्य मानी जानी चाहिये। आज की स्थिति भी इस दृष्टि से असाध्य किसी हालत मे नहीं है।

ममता (ममत्व) को घटाने वाले जितने सार्थक प्रयास किये जायेगे व्यक्तिगत एव सामूहिक दोनो स्तरो पर, उतनी ही समता की सृष्टि सर्जित होती हुई चली जायगी। समता के ऐसे चहुमुखी विकास के लिये समता के मूल्यों को आत्मसात् कर लेने के साथ समता की दृष्टियो का भी यथार्थ ज्ञान कर लिया जाना चाहिये। प्रधानत समता की दो दृष्टिया मानी जाती हैं। पहली आभ्यन्तर दृष्टि तो दूसरी बाह्य दृष्टि। ये दोनो दृष्टिया एकदम पृथक्–पृथक् नही होती हैं, बल्कि दोनो दृष्टिया अधिकाशत एक दूसरे की पूरक भी होती रहती हैं। कारण, दोनो प्रकार की दृष्टियो का धारक दृष्टा

व्यक्तिश एक ही होती है, अत दोनो दृष्टियो का सामजस्यपूर्ण सहयोग भी समता की पृष्ठभूमि को सुदृढ बनाता है।

इस तथ्य मे कोई विवाद नही कि किसी भी सामूहिक सुकृति अथवा दुष्कृति का आरभ व्यक्ति रूपी घटक से ही होता है तथा व्यक्ति का वह सुकृति अथवा दुष्कृति रूपी कार्य बाहर क्रियान्वित होने से पहिले उसके हृदय मे विचार रूप मे जन्म लेता है। इस रूप मे मनुष्य के ही हृत्तल से विषमता भी फूटती है तो उसी हृत्तल पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे विद्यमान समता भी वहीं से पल्लवित एव पुष्पित होती है। किसी भी बाह्य कार्य का कारण सदैव आभ्यन्तर के अनुभाव मे पैदा होता है। अत इस दृष्टि से दोनो दृष्टियो मे आभ्यन्तर दृष्टि का महत्त्व ही अधिकतर माना जायगा। इस महत्त्व का सही अकन यही हो सकता है कि समता को व्यापक रूप से प्रसारित करने का कोई भी अभियान मानव हृदय से आरभ किया जाना चाहिये, जिसका सम्यक् परिवर्तन ही सम्पूर्ण विषम परिस्थितियो मे या यो कहे कि जडग्रस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे शुभ परिवर्तन का बीजारोपण कर सकता हे।

समता स्वभावगत होने से सत्य होती है और विभावरूप विषमता असत्य। इस सत्य का उद्घाटन उसी आन्तरिकता मे किया जा सकता है और किया जाना चाहिये जहा सत्य आवृत्त और आछन्न बनकर दबा हुआ पडा है। इस का अर्थ है कि उस आन्तरिकता मे आत्मीय अनुभूति का सचार किया जाय। आत्मीय अनुभूति यह कि ससार की सभी आत्माए अपने मूल स्वरूप से एक हैं तथा ससार परिभ्रमण में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप मे सम्बन्धित रहने के कारण प्रत्येक आत्मा अपनी आत्मीय भी है। आत्मीयता की इस अनुभूति से ममता घटेगी कि सब कुछ मेरे ही लिये क्यो ? सब पदार्थ सबके लिये हैं और जब सभी परस्पर आत्मीयता के सूत्र से बधे हुए हैं तो उन पदार्थों का उपभोग भी सबके लिये सुलभ क्यो न हो ? ममता घटेगी तो समता बढेगी कि सब पदार्थ ही क्यों, मैं स्वय भी सबका हित क्यों नहीं साधू ? सबका हित साधने का सकल्प ही स्व–कल्याण और सर्वस्व त्याग की भूमिका बनाता है। एक हृदय के समत्व स्वभाव को भी यदि उभार कर क्रियाशील बना दिया जाता है तो वह एक बुनियादी काम होगा। एक की आभ्यन्तर दृष्टि मे आया हुआ शुभ परिवर्तन न केवल उस व्यक्ति के वचन और व्यवहार को समता का जामा पहिनाएगा, बल्कि उस व्यक्ति की आभ्यन्तर दृष्टि मे आया वह परिवर्तन उसकी बाह्य दृष्टि मे उतरेगा तथा वह अन्यान्य कई व्यक्तियो को दोनो दृष्टियो से प्रभावित बनाएगा। बाह्य समता का

स्वरूप उन अनुभव लेने वाले व्यक्तियो की आभ्यन्तर दृष्टि से उतरेगा ओर उनकी आन्तरिकता मे भी समता के समर्थन मे एक सफल आन्दोलन चलेगा। आभ्यन्तर और बाह्य दृष्टियो की प्रक्रिया के चक्र मे प्रवाहित होता हुआ समता का अनुभाव जब व्यक्ति ओर समाज की कृति मे उतरेगा, तब जो नवनिर्माण होगा, उसी की नींव पर समतावादी समाज की रूपरेखा को साकार रूप दिया जा सकेगा।

समता की आभ्यन्तर दृष्टि को उभारने मे आध्यात्मिकता का ही प्रमुख योगदान हो सकता है। मानस परिवर्तन बलात् सभव नहीं होता और बलात् परिवर्तन ला भी दिया जाय तो उसका स्थायित्व सदा सदिग्ध रहेगा। इस कारण शुभ योगमय परिवर्तन की इच्छा ही आन्तरिकता मे जगानी होगी। यह इच्छा जगेगी सम्पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप को समझ कर तथा आत्मा के सर्वोच्च विकास को चरम साध्य मानकर। यह दृष्टि आध्यात्मिकता ही प्रदान करती है। वीतराग देवो ने इच्छा निरोध रूप सयम, जड पदार्थो से ममत्व त्याग तथा आठो कर्मो के क्षय रूप तप का मार्ग प्रशस्त कर रखा है और इसी मार्ग की प्रेरणा से व्यक्ति के हृदय मे परिवर्तन लाकर उसके मन, वचन, काया के अशुभ योगो को शुभता में परिणत कर सकते हैं जिनके आधार पर भीतर और बाहर समता की सरचना की जाय। इस रूप मे आत्मीय समता की अनुभूति ही समता की भावना को स्थिरता प्रदान करेगी तो उसे कृतित्व के साचे मे भी ढालेगी। बाह्य वातावरण मे जब समता का विस्तार होगा तो उससे बाह्य वातावरण भी सुधरेगा और जन–जन की आन्तरिकता में भी समता का उदय होने लगेगा। अत समता की दोनो प्रकार की दृष्टियों मे शुभ परिवर्तन तथा विकास के प्रयत्न करने के साथ साथ दोनों के पारस्परिक सामजस्य को भी क्रियाशील बनाते जाना चाहिये ताकि व्यक्ति की आन्तरिकता में और बाह्य वातावरण मे याने कि ससार की आन्तरिकता मे भी यथोचित परिवर्तन पूर्ण किये जा सके।

समता का दार्शनिक स्वरूप

समता के दार्शनिक स्वरूप को समता के आचरण का आधार स्तभ माना जाना चाहिये। दर्शन होता है वह वैचारिक मूल–जिस पर सरचना का सृजन किया जाता है। वैचारिकता यदि यथार्थ, बोधगम्य एव सानुभव हो तो उसके अनुसार किया जाने वाला कृतित्व सदा ही सार्थक स्वरूप ग्रहण करेगा।

यहा हम समता दर्शन को चार प्रकार के वर्गीकरण से इस रूप मे समझने का यत्न करेगे कि उसकी दार्शनिकता के साथ उसकी व्यावहारिकता भी सुप्रकट हो सके। यदि कोई भी दर्शन व्यवहार्य न हो तो उसकी उपादेयता कम हो जाती है। समता के दार्शनिक स्वरूप का विवेचन करके यही स्पष्ट किया जायगा कि उसे व्यवहार रूप मे ढालने पर व्यापक सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात किया जा सकता है, क्योकि समता दर्शन ओर उसके व्यवहार से प्रभावित साधको की बहुत बडी सख्या और वह भी स्थान–स्थान पर पहले ही तैयार की जा सकती हे। इस दृष्टि से समता का दार्शनिक स्वरूप एक नई ही उत्क्रान्ति का कारणभूत हो सकता हे।

किसी भी अच्छे विचार या व्यवहार को गतिशील बनाने के लिये उसके वाहको की आवश्यकता होती है। विचार दिये की बाती की तरह यदि एक से अनगिन बातियों को नहीं जला पाता तो समझिये कि वह अपने समुचित विकास को प्राप्त नही कर सकेगा, किन्तु विचार के ऐसे विकास मे उस हाथ की सदा जरूरत रहेगी जो दिए को हाथ मे उठा कर उसकी जलती हुई लौ को दूसरे दियो की बातियो से छुआ छुआ कर प्रदीप्त बनाता रहे। इसी तरह व्यवहार को भी उसके चालकों की जरूरत होती है इसलिये समता के विचार और व्यवहार को कार्यक्षम सफलता दिलाने के लिये वाहको ओर चालको की सेना याने नि स्वार्थ साधको की टोलिया एकदम जरूरी हैं जिनके प्राणवान् सहयोग के बिना समता की ज्योति के प्रकाश को भी अधेरे दिलो मे भरा नहीं जा सकेगा। इस योजना पर उसी अध्याय मे आगे जाकर प्रकाश डाला जायगा कि समता साधको को समता प्रसार के लिये कैसे तत्पर बनाया जाय और केसे समता के नव निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की जाय। व्यवहार की योजना के पहले समता के विचार के सभी पक्षो पर गहराई के साथ चिन्तन–मनन करके तत् सम्बन्धी सम्यक् निर्णायक शक्ति को अवश्य ही जागृत बना लेनी चाहिये जो प्रत्येक चरण पर आत्माधारित सम्बल का रूप ले सकेगी।

समता के दार्शनिक स्वरूप को निम्न चार वर्गो के रूप मे समझ कर वैचारिक एकरूपता एव व्यावहारिक कार्यक्षमता का निर्माण किया जाना चाहिए –

(1) सिद्धान्त दर्शन – समता का समारम्भ भी स्वय से शुरू होना चाहिये। पहले हम निज को सम बनावे अर्थात् सम सोचे, सम जाने, सम माने, सम देखे और सम करे। सम का अर्थ होता है समानता याने सन्तुलित। एक

तुला के दोनो पलडे जब समान होते हैं तब उसे सन्तुलित कहा जाता है। वह तुला सन्तुलित हे याने बराबर तोल रही है जिसका सही सकेत मिलता है उस तुला के काटे से। तुला के समान जब मन का काटा भेद को भूलकर और केन्द्रित बनकर वस्तु स्थिति को देखता है, उस पर सोचता है एव तब तदनुकूल करने का निर्णय लेता है—वैसे मन को सन्तुलित कहा जाता हे। ऐसा सन्तुलन कब रह सकता है ? जब मन इच्छाओ का दास बनकर न भटकता हो बल्कि सयम का आराधक बनकर एक निष्ठा अपना लेता हो। अपने हित पर चोट भी पडे तब भी मन का सन्तुलन न बिगडे – ऐसा अभ्यास सयम कराता है। सयम से सम किसी भी स्तर पर टूटता नहीं है। यदि सम टूट जाय या दुर्बल'हो जाय तो विषमता तेज प्रहार करने से नही चूकती और उसके प्रहार से आहत होकर मन स्वार्थ, भोग एव विकार से पुन घिर जाता है। अत साधे गये सम की सुरक्षा होती है सयम से तथा सयम सुदृढ बनता रहता है त्याग से। त्याग का अर्थ है जो अपने पास है उसे किसी प्रयोजन के हित मे छोडना। ऐसा छोडना हृदय को एक अलग ही प्रकार का आनन्द देता है। इसलिये यह त्याग ही समता का पीठबल होता है।

त्याग और भोग ये जीवन के दो पहलू हैं। एक समता का वाहक है तो दूसरा विषमता का जनक। त्योग के धरातल पर निर्मित हृदय की उदारता से ही समता का प्रसार किया जा सकता है। जबकि भोग मनुष्य को उसकी आन्तरिकता से हटाकर उसे उसके शरीर से बाधता है, परिग्रह की मूर्छा मे पटकता है और जड ग्रस्त स्वार्थों की अधी दौड मे घुटने तुडवाता है। राग, द्वेष और विषय कषाय की आधियों मे आत्मा को धकेल कर वह उसे अविचार पूर्वक अन्याय, अनीति और अत्याचार की राह पर आगे कर देता है। इसलिये अहिसक जीवन प्रणाली को अपनाने तथा सत्य की शोध मे निकल पड़ने के बाद स्वाभाविक और स्वैच्छिक रूप से जो उत्कृष्ट त्याग उभरता है, वह त्याग की समता सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है। यह कह सकते हैं कि जितना ऊचा त्याग, उतनी ही ऊची समता। समता की साधना के समय विचार एव कार्य दृष्टि निरन्तर इसी केन्द्र बिन्दु पर लगी रहनी चाहिये। त्याग समतल पर अकुरित होकर कितनी ऊचाई तक उठ सकता है—उसकी कोई सीमा नही है—अवसर और भावना से ही उसका मूल्याकन किया जा सकता है। ऐसे त्याग के बल पर ही समता का उच्चादर्श उपलब्ध किया जा सकता है। त्याग की यह सामान्य निष्ठा कही जायगी जब मैं यह प्रण लू कि मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात नहीं करूगा। किन्तु त्याग की यह विशेष निष्ठा होगी और उस निष्ठा की उच्चता किसी भी सीमा तक निखर सकती

हे जब मैं यह निश्चय करू कि मैं दूसरे प्राणियो के हितो की रक्षा के लिये अपने हितो को भी छोड दूगा, अपितु अपने सर्वस्व तक को न्योछावर कर दूगा। ज्यो–ज्यो त्याग सामान्य बिन्दु से विशेषता की साढिया चढता हुआ ऊपर उठता जाता है, त्यो–त्यो समता की समरसता भी भीतर, बाहर और चारो ओर दूर–दूर तक फैलती जाती है तथा छोटे बडे सभी स्तरो के मनुष्यो एव प्राणियो तक के बीच मे सबको सुख देने वाला वातावरण रच देती हे। यो कह दे कि त्याग समता का पीठ बल होता है जिसके बिना समता की सुस्थिर प्रतिष्ठा सभव नहीं है। इसलिये समता का सिद्धान्त दर्शन सभी मानवीय मूल्यो के हृदय रूप त्याग मे प्रतिष्ठित किया जा सकता हे।

आत्मीय गुणो का सार गूथ कर समता के सिद्धान्त दर्शन की सप्तवर्णी पुष्प माला बनाई गई है जो इस प्रकार है–(अ) आत्मीय समता–अपने मूल स्वरूप में और विकास के चरम मे सभी आत्माओं में समता विद्यमान है और उसकी अनुभूति आत्मीय समता को प्रेरित करती है। इस आत्मिक स्वरूप के आधार पर मनुष्य मे यह स्वभाव जागना चाहिये कि वह किसी भी प्रकार से शूद्र या हीन नही है। वह कर्मावरणो को हटाकर अपनी आत्मा को मूल रूप मे प्रतिष्ठित करने की क्षमता रखता है। उस मे कर्मण्यता का भाव जागना चाहिये कि वह सिद्धात्माओ की समता मे पहुचने का सत्पुरुषार्थ करे। अपने से ऊपर की आत्माओ के साथ समता प्राप्त करने का वह पराक्रम दिखावे तो नीचे के स्तर पर रही हुई आत्माओ पर अपनी करुणा बरसा कर उन्हे भी समता का महत्त्व सिखावें और अपना आश्रय देकर ऊपर उठावे। यही आत्मीय समता के सिद्धान्त का मर्म है। समता के सिद्धान्त दर्शन का इस प्रकार पहला सिद्धान्त यह होगा कि सभी आत्माओ के लिये अपना परम विकास तक सम्पादित करने मे अवसर की समानता हे–कोई विषमता या विभेदपूर्ण स्थिति नहीं है। जो भी ज्ञान और प्राणियो का हिताकाक्षी बनेगा, वह स्वय समता पाएगा और बाहर समता फैलाएगा। वह समत्व योगी बन जायगा। (ब) 'दु' का परित्याग–आत्मीय समता को उपलब्ध करने के लिये अपने सम स्वभाव का निर्माण होना चाहिये और सम स्वभाव के निर्माण के लिये मन, वाणी एव कर्म की एकरूपता तथा शुभता आवश्यक हे। अपना सोचना, अपना बोलना ओर अपना करना अपनी मन स्थिति को व्यक्त करता है जिसकी समता की कसौटी यही होगी कि इन तीनो मे समानता है। मन, वाणी तथा कर्म की एकरूपता से ही किसी की विश्वसनीयता तथा प्रतिष्ठा का आधार बनता है और उसे भद्र पुरुष कहा जाता है। किन्तु जो सोचता एक बात है और बोलता दूसरी बात है तथा करता तीसरी बात है–उसको धूर्त कहा जाता है तथा उसका विश्वास कोई नहीं करता।

मन, वाणी ओर कर्म की समता बनेगी उनकी शुभता से और शुभता के लिये 'दु' का परित्याग करना होगा। दुर्भावना, दुर्वचन और दुष्प्रवृत्ति रूप अशुभ योग व्यापार जब तक चलता रहता है, पूर्ण शुभता नही आती ओर पूर्ण समता अवाप्त नहीं होगी। समता का अर्थ है ससार के सभी प्राणियो के प्रति सद्भावना और भावना सद् होगी, तभी वचन और कर्म सद् बन सकेगा। सद् बनाने से असद् छूटेगा, शुभ वरने से अशुभ मिटेगा ओर विषमता को दूर हटाने से समता जागेगी तथा यह तथ्य–परिवर्तन होना चाहिये समस्त योग व्यापार मे। योग व्यापार की शुभता और समता आन्तरिकता से लेकर विश्व के विस्तृत वातावरण तक प्रभावशाली बनेगी। भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना में कर्मनिष्ठ बनाती है तथा 'सु' से विभूषित कर देती है। यह 'सु' ही समता का विवेक सम्पन्न वाहक होती है। (स) जी ओ और जीने दो – यह सिद्धान्त अहिसक जीवन की प्रतिकृति है। समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि ससार के सभी मनुष्य, बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते हैं तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे का अस्तित्व मिटाने का उसको कोई अधिकार नही है। वस्तुत उसका यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक प्राणी के स्वतत्र अस्तित्व की रक्षा में नियोजित करे। यह रक्षा का भाव करुणा और अनुकम्पा से उपजता है। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता और समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन मे नये प्राणो का सचार कर देता है।

इस अहिसक जीवन शैली मे इस सीमा और मर्यादा का पालन करना होता है कि एक अहिसक कही भी किसी अन्य जीवन के साथ टकराव की स्थिति में न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। अपनी आत्मा वैसी सबकी ही आत्मा ऐसा अनुभाव तब पैदा होता है जब मनुष्य अपने दायित्वो के प्रति सजग और सावधान हो जाता है। सब जीवो के प्रति समान रूप से स्नेह, सहानुभूति एव सहृदयता की वर्षा करने मे ही समता की तरल सार्थकता रही हुई है। प्रत्येक प्राणी के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकारने से ही मनुष्य के समूचे जीवन मे एक ऐसा समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन विधा को ही बदल देता है। ऐसे मनुष्य में कभी दभ या हठवाद नहीं भडकता, क्योंकि उसके विचार मे विनम्रता समा जाती है। वह कभी यह नहीं मानता कि मैं ही सब कुछ हू। वह सबका समादर करता है, इसलिये वह सबके सुख दु ख का सहभागी भी होता है। अहिसक जीवन शैली की गुण सम्पन्नता समूचे वातावरण को समता के अमृत से आप्लावित बना देती है–विभोर कर देती है।

(स) यथायोग्य वितरण--यह सही है कि जड पदार्थों के प्रति मनुष्य की मूर्छा घटनी और मिटनी चाहिये लेकिन यह उतना ही सही है कि जीवन की मूल आवश्यकताओ की पूर्ति के बिना कोई जीवन चल नही सकता ओर जब इन्हीं जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकार के सम्बन्ध मे अन्यायपूर्ण नीति चलती हो तो पहला काम उसे मिटाना होगा। मूल आवश्यकताए होती हैं--भोजन, वस्त्र ओर निवास। सभी जीवनधारियो की मूल आवश्यकताए पूरी हो--यह पहली बात, परन्तु दूसरी बात भी उतनी महत्त्वपूर्ण है कि वह पूर्ति विषम नही होनी चाहिये जो पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष की कटुता को पैदा करे। यही कारण है कि समता के सिद्धान्त दर्शन मे समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के यथाविकास यथायोग्य वितरण पर बल दिया जाता हे।

यथाविकास एव यथायोग्य वितरण का लक्ष्य यह होगा कि जिसको अपनी शरीर दशा, धधे या अन्य परिस्थितियो के अनुसार जो योग्य रीति से चाहिये, वैसा उसे दिया जाय। यही अपने तात्पर्य मे सम वितरण होगा। अब जहा सम वितरण का प्रश्न है--ऐसी सामाजिक व्यवस्था भी होनी चाहिये जो ऐसे वितरण को सुचारू रूप से चलावे। इस दृष्टि से वितरण को सुचारू बनाने के लिये उत्पादन के साधनो पर भी किसी न किसी रूप मे समाज का नियत्रण आवश्यक होगा ताकि व्यक्ति की तृष्णा वितरण की व्यवस्था को अव्यवस्थित न बनादे। उपभोग--परिभोग के पदार्थो की स्वेच्छापूर्वक मर्यादा बाधने से भी सम वितरण मे सुविधा हो सकेगी। मूल आवश्यकता के अलावा सुविधापूर्ण पदार्थों का भी वितरण ऐसा हो जो आर्थिक विषमता का चित्र न दिखावे। कारण, पदार्थो का अभाव उतना घातक नही होता जितना पदार्थों का विषम वितरण, अत यथाविकास यथायोग्य वितरण का सिद्धान्त मान्य किया जाय। (द) सपरित्याग में आस्ता--समता के एक साधक को सपरित्याग मे सदा आस्था रखनी चाहिये तथा अवसर आवे तब सर्वस्व--त्याग की तत्परता भी दिखानी चाहिये। ऐसा सकट काल हो अथवा शुभ प्रयोजन की पूर्ति में आवश्यक हो तो व्यापक जन कल्याण की भावना से अपने पास जो कुछ हो, उसे त्यागने मे भी तनिक हिचकिचाहट नही होनी चाहिये। इस प्रकार की वृत्ति मे आस्था होने का यही आशय है कि समता साधक अपनी सचित सम्पत्ति मे ममत्व न रखे बल्कि उसे भी समाज का न्यास समझे तथा यथावसर सविभाग हेतु समाज को समर्पित करदे। जन कल्याण का अर्थ भी काफी व्यापक दृष्टि से समझना चाहिये। जैसे अकाल आदि का प्राकृतिक सकट हो, लोग धनाभाव मे भूख से मर रहे हो और समता साधक अपनी

सम्पत्ति को दबा कर बेठा रहे तो यह उसकी समता साधना नही होगी। सामूहिक हित को व्यक्ति के हित से ऊपर मानना होगा। सामूहिक हित साधना मे व्यक्ति के त्याग को सदा ही प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था को सर्वजन हितकारी इसी निष्ठा के साथ बनाई जा सकती है।

समता का सिद्धान्त दर्शन तो सपरित्याग की आस्था को मनुष्य के मन मे अधिकाधिक विकसित रूप मे देखना चाहेगा क्योकि यह आस्था जितनी गहरी होगी, उतनी ही सम्पत्ति और सत्ता के प्रति मनुष्य की मूर्छा क्षीण होगी। इसका सीधा प्रहार विषमता पर होगा जिससे अर्थ लोलुप परम्पराए मिटेगी, वितृष्णाजन्य वृत्तियॉ बदलेगी और सामूहिक जीवन में सरसता की नई शक्तियो का उदय होगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था यदि सम बन जाती है तो सही जानिये कि व्यक्ति व्यक्ति का चारित्र भी शुभता और शुद्धता का वरण करने लगेगा। (य) गुण और कर्म का आधार – वर्तमान युग अर्थ प्रधान बना हुआ है तथा इसमे श्रेणी, विभाग या वर्गीकरण आदि का आधार अर्थ ही बना हुआ है। अर्थ ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा का मानदड बना हुआ है किन्तु समता की साधना मे यह सब मान्य नही हो सकता। जब अर्थ को जीवन के शीर्षस्थ स्थान से नीचे उतार दिया जाय और मानवीय मूल्यो से उसे नियत्रित कर दें तो वर्तमान समाज का सारा ढाचा ही बदल जायगा। जब अर्थ नीचे उतरेगा तो स्वय ही गुण ऊपर आ जायगा और यही समता के सिद्धान्त दर्शन को अभीष्ट है कि समाज के सारे मानदड गुणाधारित हो। राजनैतिक, आर्थिक एव सामाजिक समता के परिवेश मे तब धन सम्पत्ति के आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा, अपितु गुण एव कर्म के आधार पर समाज का श्रेणी विभाजन होगा। ऐसा विभाजन मानवता का तिरस्कार करने वाला नहीं होगा बल्कि समता के लक्ष्य की ओर बढाने के लिये स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का अवसर देने वाला होगा। एक बात तब और होगी। अर्थ के नियत्रण में जब चेतना शक्ति सजग रहेगी तो वितृष्णा की जड़ता कभी पैदा नहीं होगी। वैसी दशा मे वह अर्थ भी समाज सुधार मे सहायक बन जायगा।

इस कारण सिद्धान्त रूप से एक समता साधक का गुण व कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग मे विश्वास होना चाहिये। गुण और कर्म का आधार किस रूप मे हो—इसे भी समझ लेना चाहिये। समाज मे ऊची श्रेणी, ऊचा आदर और ऊची प्रतिष्ठा उसे मिलनी चाहिये जिसने अपने जीवन मे ऊचे मानवीय गुणो का सम्पादन किया हो और जिसके कार्य सदा लोकोपकार की

दिशा मे गतिशील रहते हो। गुण कर्म युक्त विभाजन का यह सुप्रभाव होगा कि नीचे की श्रेणियो वाला स्वय अधिक गुणार्जन के साथ ऊपर की श्रेणी मे चढने का सत्प्रयास करता रहेगा। गुण और कर्म ही मनुष्यता की महानता एव समाज की प्रतिष्ठा के प्रतीक हो तथा पौद्गलिक उपलब्धिया उनके समक्ष हीन दृष्टि से देखी जाय यही वाछनीय है। गुणाधारित समाज एक कर्मनिष्ठ समाज होगा और उसमें सर्वांगीण समता की साधना सुलभ हो जायगी।

(र) मानवता प्रधान व्यवस्था–समता के सिद्धान्त दर्शन का निचोड यह होगा कि वर्तमान समाज व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन हो और उस परिवर्तन का लक्ष्य यह हो कि शासन जड का नही, चेतन का हो, सत्ता और सम्पत्ति का नही, मानवता का हो। अर्थ की प्राप्ति से नहीं, मानवीय गुणो की उपलब्धि से समाज या राज का नेतृत्व प्राप्त होना चाहिये। मूलत मानवता प्रधान व्यवस्था का गठन करना होगा।

मानवता प्रधान व्यवस्था से सम्पत्ति व सत्ता के स्वामी को नहीं, मानवीय गुणो के साधक को प्राण प्रतिष्ठा मिलेगी और गुणवत्ता अनुप्राणित होगी। तब सम्पत्ति और सत्ता पाने की छिछली व घिनौनी होड भी खत्म हो जायगी तो वास्तव मे विषमता के कीटाणु भी नष्ट हो जायेगे। तब चेतना, मनुष्यता तथा कर्मनिष्ठा की प्रतिष्ठा होगी और सर्वहित मे जो जितना ज्यादा त्याग करेगा, वह उतना ही पूजा जायगा। सम वातावरण मे दृष्टि सम बनेगी तथा समदृष्टि वस्तु स्वरूप की यथार्थता को देख सकेगी। यह अवलोकन अन्तरावलोकन बन कर आत्मोत्थान का कारण भूत हो जायगा।

(2) जीवन दर्शन–वही सिद्धान्त प्रेरणा का स्रोत बन सकता है जो तदनुकूल कार्य क्षमता को जागृत करे। ज्ञान और क्रिया का सयोग सिद्धि के लिये अनिवार्य है। यह युति ही मनुष्य को सर्व प्रकार के बधनो से मुक्त बना सकती है। चाहे वे बन्धन कैसे भी हो–पूर्वार्जित कर्मो के रूप मे हों अथवा विषमता एव तज्जन्य विकारो से ही क्यो न उपजे हो, व्यक्तिगत एव समाजगत शक्तियो के ज्ञान एव क्रिया के क्षेत्र मे साथ साथ कार्यरत होने से विकास मे भी विषमता नही रहेगी। इससे यह नहीं होगा कि कुछ व्यक्ति तो अपनी उग्र साधना के बल पर विकास की चोटी पर चढ जावे और बहुसख्यक लोग पतन के गढ्ढे मे बेमान पडे रहे। विकास की चोटी पर चढने वाले तो तब भी होगे किन्तु जीवन विकास की अपेक्षा से सभी लोगो का मुख अवश्य ही चोटी की तरफ होगा और पाव धीमे या जल्दी उधर ही आगे बढ रहे होगे।

व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण उठाते समय समग्र वस्तु ज्ञान को तीन भागो मे विभाजित करके तदनुसार अपने क्रिया कलापो को दिशा दी जाय। ये विभाग हो– ज्ञेय (जानने लायक), हेय (त्यागने लायक) और उपादेय (स्वीकारने और आचरने लायक)। सब जानो किंतु जीवन मे उतारो उनको ही जो उतारने लायक हो। वर्तमान हेय को छोडने तथा उपादेय को ग्रहण करने का क्रम साथ–साथ ही चलेगा जैसे ज्यो–ज्यो विषम आचरण छूटता जायगा, त्यो–त्यो समता का आचरण पुष्ट तर बनता जायगा। समस्त वस्तु ज्ञान का यह त्रिरूपी विभाजन सबसे पहले समता साधक को स्वय समझना चाहिये तथा निम्नानुसार अपने आचरण को ढालना चाहिये –

(अ) सप्त कुव्यसन त्याग–मास भक्षण, मदिरा पान, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन ये सात कुव्यसन बताये गये हैं जो सब या एक भी जब व्यक्ति के जीवनाचरण मे प्रवेश पा जाता है तो वे उस जीवन को गुणवत्ता की दृष्टि से नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं। अत आचरण शुद्धि के पहले पग के रूप में सप्त कुव्यसन का त्याग लिया जाना चाहिये। ये कुव्यसन जहा व्यक्ति के जीवन को घोर पतन मे तिरोहित करते हैं, वहा समाज के वातावरण को भी कलकित बनाते हैं। इनके रहते सभी ओर पतन की सभावनाओ को स्थायी भाव मिलता है अत इनके त्वरित परित्याग की ओर कदम शीघ्रातिशीघ्र आगे बढने ही चाहिये। इसके लिये सयम की मुख्य धारा से अपने आपको जोडना होगा।

(आ) पच व्रत आचरण – जब दुराचरण का त्याग करके सदाचरण की ओर उन्मुख हुआ जायगा तब उस सदाचरण का स्वरूप भी स्पष्ट होना चाहिये। इस हेतु पच व्रतों का अवलम्बन लिया जाना चाहिये जिनका आशिक पालन श्रावक करता है और सर्वथा पालन साधु धर्म की महत्ता रूप होता है। ये व्रत हैं–अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

ये पाच व्रत जीवन विकास की कडी के रूप मे होते हैं। हिसा विषमता का महाद्वार होती है, इस कारण जब विषमता त्यागनी है तो हिसा को पहले त्यागना होगा। अहिसापूर्ण आचरण को अपनाये बिना समता की दिशा मे गतिशील होना तो दूर–उस तरफ उन्मुख भी नहीं हो सकेगे। अहिसा का पोषण होना अचौर्य्य और अपरिग्रह व्रतो से जो परिग्रह की मूर्छा को घटाकर जीवन मे सयम–चेतना का विकास करेगे तथा उसमे अपूर्व सहायता देना ब्रह्मचर्य व्रत। इस प्रकार इन व्रतो की साधना साधक को सत्य की ओर ही अग्रसर करेगी। सत्य का साक्षात्कार करना ही पूर्णभावेन समता का वरण

करना हे तथा समदर्शी बन जाना हे। मिथ्या का त्याग ओर सत्य का अनुशीलन ज्ञान एव क्रिया की युति को स्पष्ट, पुष्ट तथा आत्मनिष्ठ बना देगा।

(इ) उच्च प्रामाणिकता – वास्तव में देखा जाय तो प्रामाणिकता एव विश्वसनीयता प्रत्येक नागरिक का सामान्य गुण होना चाहिये किन्तु इस अर्थ–प्रधान युग ने उसे दभी और पाखडी बना दिया है। समाज का समूचा वातावरण ऐसा दो रगा बन गया है कि जो है कुछ और लेकिन अपने को बताता है कुछ और। यदि ऐसा पाखड है तो वह राजनीति, अर्थनीति या समाज नीति मे सफलताओ पर सफलताए पाता हुआ ऊपर से ऊपर उठ जायगा। और आश्चर्य की बात यह होगी कि उसे इस समाज मे प्रामाणिकता का जामा भी ओढने को मिल जायगा किन्तु समता की साधना में पाखड को कही भी स्थान नहीं रहेगा। प्रामाणिकता का मूल मत्र यह होगा कि जो जितने अच्छे क्षेत्र मे काम करता है और जितने ऊचे पद पर जाता है, उसका प्रामाणिकता के प्रति अधिक से अधिक दायित्व बनेगा अर्थात् क्षेत्र की गरिमा तथा पद की मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता लाने पर बल दिया जायगा। प्रामाणिकता एव विश्वसनीयता की धारा उन लोगो से बहेगी जो समता का स्रोत बन जायगी। उच्च प्रामाणिकता आचरण मे से विषमता के मिट जाने पर ही प्रतिष्ठित हो सकेगी और मन, वाणी एव कर्म की एकरूपता के साथ समता की प्रबल पृष्ठभूमि बन जायगी।

(ई) सयम का अनुपालन – प्रामाणिकता एव विश्वसनीयता के प्रतिष्ठार्जन के पश्चात् आचरण के चरण अधिक शुद्धि की दिशा मे अग्रगामी बनेंगे। तब जीवन में एक स्वस्थ एव व्यवस्थित परिपाटी का उदय होगा जिसका आधार होगा निष्कपट भाव से मर्यादा, नियम एव सयम का अनुपालन। मर्यादाए वे जो व्यक्ति एव व्यक्ति तप समाज के पारस्परिक सम्बन्धो के सुचारू रूप से निर्वहन के कारण हित परम्पराओ के रूप मे ढल गई हो। नियम वे जो जीवन और सगठन को स्वच्छ अनुशासन का रूप देते हो तथा सयम का महत्त्व और गुणगौरव तो सभी को ज्ञात है। ऐसी मर्यादाओ, नियमो तथा सयम के अनुपालन मे भावो की निष्कपटता पहले जरूरी है। ऐसी दशा मे विश्वासघात एव आत्मघात की दो स्थितिया स्वत ही टल जायगी। समता के साधन का जीवन इस रूप मे पूर्ण नियमित तथा सयमित बन जाना चाहिये ताकि विषमता के प्रवेश के सभी मार्ग ही बन्द हो जावे और समता की समरसता सभी क्षेत्रो मे छा जावे।

(उ) विचारपूर्ण निर्वहन – समाज मे रहते हुए व्यक्ति क कई पक्ष होते हैं और इस कारण उसके दायित्व भी बहुमुखी हो जाते हैं। अत यथास्थान, यथावसर, यथाशक्ति एव यथायोग्य रीति से ऐसे बहुमुखी दायित्वों पर ईमानदारी से विचार किया जाय तथा इन्ही सब 'यथा' के साथ उन दायित्वो का विचारपूर्ण निर्वहन भी किया जाय। ऐसी अवस्था मे व्यक्ति अपने स्वय के प्रति एव परिवार से लेकर समूचे प्राणी समाज के प्रति अपने सभी दायित्वो एव कर्त्तव्यो का समुचित रीति से निर्वहन कर सकेगा तथा सर्वत्र समता के स्थायी भाव को सचरित भी बना सकेगा। कर्त्तव्यहीनता यो विषमता का लक्षण बनती है या विषमता की वाहिका, अत विचारपूर्ण निर्वहन का सदाग्रह सदा प्रदीप्त रहना चाहिये।

(ऊ) सबमें एक एक मे सब – समता के जीवन दर्शन का यह प्रमुख अग होगा कि सबमे एक और एक मे सबकी धारणा बलवती बने तथा अपने व्यवहार मे सब एक के लिये और एक सबके लिये सदैव सन्नद्ध रहे। इस सूत्र पर आचरण इतना प्रभावी होगा कि विषमता के विष की आखरी बूदे भी सूख कर नष्ट हो जायगी और सारा समाज पारस्परिक हित–सहयोग तथा एकता के सूत्र में आबद्ध होकर आध्यात्मिक एव आत्मोन्मुखी बन जायगा। सहयोग एव सहानुभूति के सुखद वातावरण से आश्वस्त होकर सभी के चरण समता प्राप्ति की दिशा मे तेजी से आगे बढ सकेंगे। विचार, वचन और व्यवहार मे सर्वत्र समता का समावेश दिखाई देगा।

(ए) व्यापक आत्मीय निष्ठा – जैसे अपने परिवार मे रहता हुआ एक व्यक्ति सामान्य रूप से सारे भेद भाव भूल जाता है और अपने सभी कर्त्तव्यो के प्रति सजग रहते हुए सबकी यथायोग्य सेवा भी करता है, उससे भी उन्नत रूप मे एक समता साधक समूचे विश्व को अपना परिवार मानकर अपने नैतिक एव आध्यात्मिक कर्त्तव्यो का एकनिष्ठा से पालन करता है। परिवार मे रक्त सम्बन्ध की प्रबलता होती है, परन्तु वसुधा के विशाल परिवार मे भावना की सघनता रक्त सम्बन्ध को बहुत पीछे छोड देती है, क्योकि उस भावना का आधार व्यापक आत्मीय निष्ठा पर टिका हुआ होता है। मानव जीवन मे विकास के लिये कोई भी ऊचाई असाध्य नहीं होती। जो सोचता है कि वैसी ऊचाई नही मिलेगी तो यह उसकी दुर्बलता ही होती है। जो जीवन दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा से ओतप्रोत होकर समता मार्ग पर आगे बढ जाता हे, वह सबसे ऊची ऊचाई को भी प्राप्त करके रहता है।

(3) आत्म दर्शन – आत्मदर्शन का अर्थ होता हे मूल आत्म स्वरूप का दृष्टा बनना, क्योकि दृष्टा बनकर ही ज्ञाता ओर विज्ञाता बना जा सकता हे तथा यह जाना जा सकता है कि यह आत्मा ही स्वय कर्त्ता एव अपने ही किये हुए कर्मो का भोक्ता है। न इसको कोई अन्य चलाने वाला है या सुख दु ख देने वाला है। यही इसकी भाग्य विधाता है–स्वय भाग्य बनाती है और उसका फल भोगती है।

यह आत्म दर्शन अपनी स्वतत्र सत्ता और शक्ति का प्रेरक बनेगा। ससार मे कोई ऐसी शक्ति नहीं जो इस आत्मा को सुख या दु ख देती हो। जैसा यह आत्मा कर्म करती है अच्छा या बुरा अथवा शुभ या अशुभ, वैसा ही उसका वह फल भोगती है जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह होगा कि यदि उसे सुख चाहिये तो शुभ कर्म करने चाहिये। दूसरो को सुख देने वाले कर्म शुभ या पुण्य रूप होते हैं और दूसरो को दु ख देने वाले कर्म अशुभ तथा पाप रूप होते हैं। आत्मा को याने कि मनुष्य को इससे सार यह लेना है कि सुख दोगे तो सुख मिलेगा और दु ख दोगे तो दु ख मिलेगा। यो सुख पाने की प्रत्येक आत्मा को अभिलाषा रहती है किन्तु अज्ञानवश या कि जडग्रस्तता से वह सुख के कारण रूप कार्य करती नहीं है और बबूल बोकर आम के फल लेना चाहती है। आत्म दर्शन की साधना से यह जानकारी और सीख मिलती है कि सुख और शाश्वत सुख पाने के कौनसे उपाय हैं तथा उसकी प्राप्ति का कौनसा मार्ग है ?

समता का आत्म दर्शन सबसे पहिले 'मैं' की अनुभूति कराना चाहता है और जड चेतन तत्त्व का स्वरूप बोध कराता है। इसके साथ ही आत्मा और शरीर के पृथकत्व का ज्ञान देकर आत्मा के चरम साध्य मोक्ष की साधना विधि बताता है। आत्म दर्शन से ही कर्म सिद्धान्त की जानकारी मिलती है कि कैसे और क्यो कर्म बधते हैं, किस उपाय से कर्मबध रुकता है तथा किस साधना से कर्मो का क्षय किया जा सकता है ? यह भी ज्ञात होता है कि पूर्वार्जित कर्मो का फल कैसे उदय मे आता है और कैसे कर्म फल की शुभता का योग लेकर कर्म मुक्ति का सफल पुरुषार्थ किया जा सकता है ? आत्म दर्शन मे इस आत्म पुरुषार्थ की फलवत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है कि कैसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करते हुए व उत्तरोत्तर उच्चस्थ गुणस्थानो मे आरोहण करते हुए आत्मा वीतरागी सयोगी केवली होकर अयोगी और सिद्ध हो जाती है ? यही समता की अवाप्ति का चरम होता है।

आत्म दर्शन से ही आत्म समत्व का ज्ञान होता है और चिन्तन, मनन एव स्वानुभूति के आनन्दमय क्षणो का रसास्वादन। तपो की अग्नि मे तपकर जब आत्मा शोधित स्वर्ण के समान निर्मल हो जाती है तब वह ससार की सब आत्माओ मे एकत्व और समत्व की प्रतीति लेती है। आत्म दर्शन की दिशा में पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से समता–साधक को नियमित रूप से कुछ भावात्मक अभ्यास करने चाहिये जो इस प्रकार के हो सकते हैं –

(अ) आत्म चिन्तन एव आत्मालोचना स्वय के बारे मे सोचे और स्वय की स्वय आलोचना करे–यह एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। स्वय के बारे मे सोचने का मतलब हे आत्म स्वरूप के बारे मे सोचना, वर्तमान आत्म–दशा पर सोचना, शुद्धता पर लगे आवरणो के बारे मे सोचना तथा उन आवरणो को हटाकर आत्म गुणो के प्रकटीकरण के बारे मे सोचना। इस सोच का क्या अभिप्राय ? यही कि मनुष्य बाह्य वातावरण और भौतिक सुखो मे ही इतना न रम जाय अथवा विषय–कषाय प्रमाद के दल दल मे इतना न फस जाय कि निजत्व को ही भूल जाय तथा अपने स्वरूप सशोधन के उपाय न करे। प्रतिदिन भीतर झाकते रहने से आत्म स्वरूप ओझल नहीं होता और उसके ओझल नहीं होने से उसकी विदशा को सशोधित और परिमार्जित करने का ध्यान सदा बना रहता है।

इस ध्यान मे असावधानी हो अथवा सशोधन व परिमार्जन के काम मे भूले होती रहे उसके लिये आत्मालोचना की प्रक्रिया है कि सही रास्ते से जहा भी या जितने भी दूर हटे उस पर विचार करे और अपनी उस असावधानी या भूल के लिये प्रायश्चित ले। जो किया उसका पश्चाताप और उसे आगे से नहीं दोहराने का सकल्प–यह आत्मालोचना है।

अत प्रतिदिन प्रात एव साय समता साधक को आत्म दर्शन करना चाहिये याने कि एक दो घडी आत्म चिन्तन करना चाहिये तथा विचार पूर्वक आत्मालोचना भी करनी चाहिये। इससे निरन्तर आत्म जागृति बनी रहेगी और प्रमाद न करते हुए समय के मूल्य की अनुभूति होती जायगी।

(ब) सत्साधना का नियम – समता साधना की अन्तरग धारा तो हर समय प्रवाहित होती रहनी चाहिये किन्तु इस सतत प्रवाह को पुष्ट करने के उद्देश्य से सत्साधना के लिये नियमित समय निर्धारण का नियम भी आवश्यक है कि प्रति दिन निर्धारित समय पर सत्साधना में बैठा ही जाय और उस समय के कर्त्तव्यों को निष्ठा पूर्वक पूरे किये ही जाय।

सत्साधना के क्षेत्र मे किन्ही विशिष्ट प्रवृत्तियो को भी हाथ मे ले सकते हैं जो स्व–पर कल्याण से सम्बन्धित हो तथा यथाशक्ति यथाविकास सम्पन्न की जा सकती हो किन्तु अभ्यास अबाध रूप से नियम पूर्वक चलना ही चाहिये ताकि सभी क्षेत्रो मे समता के लिये चाह निरन्तर प्रगाढ बनती जाय। इस सत्साधना से आभ्यन्तर एव बाह्य समता स्थापना हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजने की प्रेरणा मिलेगी तथा ऐसी पद्धतियो के विकास का अवसर भी मिलेगा जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन के साथ समाज के विस्तृत क्षेत्र में भी भावात्मक एव कार्यात्मक एकरूपता पैदा की जा सके। स्वतत्र चिन्तन पर आधारित ऐसी एकरूपता से ही समतामय वातावरण को सुदृढ एव सुस्थिर बनाया जा सकेगा।

(स) स्वाध्याय – चिन्तन की प्रक्रिया एव निर्णायक शक्ति तब तक अपूर्ण ही रहेगी जब तक आगम–शास्त्र एव सत्साहित्य का अध्ययन न हो तथा उनकी नित्य प्रति स्वाध्याय नही की जाती हो। यो स्वाध्याय को स्व का अध्याय भी कहते हैं जो आत्म स्वरूप दर्शन की प्रक्रिया हो जाती है। स्वाध्याय की परिपाटी से उन महापुरुषो के उपदेशो को हृदयगम कर सकते हैं जिन्होने आत्मदर्शन करके परमात्म–अवस्था को प्राप्त कर ली। इसी परिपाटी से हम उनके उपदेशो पर स्वय चिन्तन करके उनकी उपादेयता का मूल्याकन कर सकते हैं। चिन्तन और मनन का अभ्यास स्वाध्याय से ही परिपक्व न बनता है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानधारी होती है, तब यह सर्वथा सभव है कि चिन्तन की धारा मे कोई भी आत्मा विपुल गहराई में उतर कर विचारो के नये नये मोती ढूढ लावे।

अत समता के साधक को प्रति दिन नियमित रूप से स्वाध्याय करनी चाहिये ताकि चिन्तन–मनन की वृत्ति सजग बने। पढे और सोचे–फिर अपना निर्णय ले – यह क्रम ही मनुष्य को सदा विवेकशील एव प्रगतिशील बनाये रखता है। स्वाध्याय, चिन्तन और स्वानुभूति – ये एक ही आत्म पुरुषार्थ के तीन चरण हैं।

(द) लोकोपकार की भावना – आत्म दर्शन का सार मनुष्य के मन में इस रूप से जागना चाहिये कि क्रमश यह प्रगति साधी जाय। पहली भावना– मे किसी को दुख न दू। दूसरी भावना – मैं सबको सुख दू तथा तीसरी भावना – मैं सबको सुख देने मे स्वय को दुख सहने पडे तो उन्हे सुखपूर्वक सहू। ये हैं लोकोपकार की भावना के विकास के तीन स्तर, जो मनुष्य को अधिकाधिक त्याग के लिये अनुप्राणित बनाते हैं। अहिसक जीवन

शेली का सीधा सुप्रभाव लाकोपकार पर पडता है क्योकि निषेध रूप अहिसा किसी भी प्रकार के हिसाचरण को रोकती है तो अहिसा का विधि रूप अनुकम्पा ओर रक्षा का सर्वोच्च भावात्मक सम्बल होता हे।

सबको अपने कठिन त्याग के आधार पर सुख देने की भावना इस दिशा की क्रियात्मक भावना होगी कि लोकोपकार के क्षेत्र को विस्तृत बनाया जाय – उसे सर्वमुखी समता का समतल धरातल प्रदान किया जाय। इस वृत्ति मे मनुष्य अपनी आत्मा की सेवा शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ समता को सकल विश्व की परिधि तक फैला देने मे सक्षम बन जायगा। स्वार्थो को समेटो ओर आत्मीयता को सर्वत्र फैलाओ – यही एक समता साधक का प्रमुख आचरण–सूत्र बन जाना चाहिये।

(य) आत्म विसर्जन – आत्म दर्शन की आखिरी मजिल होती है आत्म विसर्जन याने कि त्याग, सेवा और समता दृष्टि से वृहत्तर समता – स्थिति के निर्माण हित अपने आपको भी भुला देना और साध्य मे स्वय को विलीन कर देना। आध्यात्मिक भाषा मे यह कायोत्सर्ग की सर्वोच्च तपस्या होगी जब आत्मा देह के ममत्व से भी सर्वथा दूर हो जाती है। इस कठोर तपस्या के माध्यम से आत्म विकास की उस अन्तिम अवस्था को प्राप्त करने के बाद परमात्म दर्शन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आत्म दर्शन से परमात्म दर्शन तक की यात्रा की सम्पन्नता आत्म विसर्जन के महाद्वार में से होकर गुजरने के बाद ही होती है। यह यात्रा गहन एव उच्च चिन्तन पर चलती है और कभी कभी विचार श्रेणी इतनी ऊची एव समुन्नत बन जाती है कि युगो और वर्षो का मार्ग कुछ पलो मे ही तय हो जाता है। समता साधना की सफलता के लिये साधक को आत्म विसर्जन रूप उच्चस्थ विचार श्रेणियो मे आरूढ होने का प्रयत्न करना चाहिये।

(4) परमात्म दर्शन – आत्मा ही परमात्मा होती है तथा आत्मा ही परमात्मा बनती है। आत्मा और उसकी परम अवस्था मे जो अन्तर हे, वह उसकी कर्मबद्धता का अन्तर है। इस अन्तर को मिटाने अर्थात् कर्मावरणो को अपने ज्योतिस्वरूप पर से हटाने के बाद यही आत्मा ज्योतिस्वरूप परमात्मा बन जाती है। परमात्म दर्शन का यही सारपूर्ण सिद्धान्त है।

इस दृष्टि से परमात्म दर्शन की मूल प्रेरणा कर्मण्यता हे कि आत्मा अपनी कर्मण्यता जगाकर ऐसे कर्म (पुरुषार्थ) करे कि कर्मो के पूर्व सचित दलिक सम्पूर्णत नष्ट हो जाय। कोई अन्य शक्ति इस आत्मा का उद्धार करेगी–ऐसी वस्तु स्थिति नहीं है। यह आत्मा स्वय ही स्वय को सजग

बनाकर अपना उद्धार करेगी और वैसा उद्धार उसकी अपनी ही कर्मण्य शक्ति पर आधारित होगा। कोई भी विकास या विकास का चरम बिदु इस आत्म शक्ति की पहुच के बाहर का साध्य नहीं होता है। वस्तुत आत्म शक्ति के शब्द कोष मे असमव शब्द होता ही नही है। इस दृष्टिकोण से मानव जीवन में सत्साहस की वृत्ति अपार महत्त्व रखती है। कायरता के लिये सब कुछ असमव है और साहस के लिये सब कुछ समव। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलब्धि के रूप मे प्रकट होता है।

मनुष्य जब तक सज्ञाशून्य होकर पतन के खड्ड मे गिरा रहता है, तब तक उसके जीवन के सभी पहलू और उसकी सभी शक्तिया विषम बनकर विकास की अवरोधक के रूप मे अडी रहती हैं। विषमता की अवस्था मे अधिकाधिक विकारो का आक्रमण होता रहता है और आत्म शक्ति उनसे परास्त होकर हताशा मे डूबी रहती है किन्तु जिस क्षण कायरता दूर होकर सत्साहस का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी क्षण विकास के चरण गतिमान हो जाते हैं।

आत्मा का ऐसा सत्साहस कैसे प्रकट हो ? कहते हैं कि चोर कायर होता है, क्योंकि उसके पैर कच्चे होते हैं। यदि अपने भीतर कायरता महसूस करते है तो सोचना होगा कि अपने भीतर किन किन रूपो में चौर्य्य वृत्तिया अपनी दुष्ट प्रवृत्तियो मे लगी हुई हैं और उनके कारण अपनी आत्म शक्ति के पैर कहा कहा कच्चे पडे हुए हैं ? यह अपनी ही आत्मा की आलोचना का विषय है और अपने ही जागरण का प्रश्न है। जो काम छिप कर करने की इच्छा होती है, जिन विचारो को सहजतापूर्वक प्रकट नही किये जा सकते हों अथवा जिन शब्दो को निर्भयता से बोलने की क्षमता न हो तो समझना चाहिये कि मन, वाणी और कर्म के उन क्षेत्रो में चौर्य्य वृत्ति कार्य कर रही है जिसके कारण आत्म शक्ति के पैर कच्चे पडे हुए हैं। तब उस कच्चाई को एक एक करके दूर करने की जरूरत पडती है। विकास की दृढ इच्छा शक्ति के साथ जब सत्साहस का पुट लग जाता है तो उस कायरता को फिर दूर कर देने में देर नही लगती। अत परमात्म दर्शन सिखाता है कि पग पग पर पैदा होने वाली अपनी ही दुर्बलताओ के प्रति सतर्क रहने की दृष्टि से ही समूचा जीवन क्रम चलना चाहिये। समता के सिद्धान्त दर्शन, जीवन दर्शन तथा आत्म दर्शन की अनुभूति के पश्चात् परमात्म–दर्शन की ओर सहजता से प्रगति की जा सकती है तथा इसी आत्मा को परमात्म स्वरूप मे ढाल सकते हैं। एक शब्द मे इस सत्साहस को परिभाषित करें तो वह यह होगा

कि यह सत्साहस आत्म स्वरूप मे पर से विषमता के अन्तिम अश तक को मिटा डाले और उसे पूर्ण समता की उज्ज्वलता से विभूषित बना दे।

परमात्म पद की दार्शनिक भूमिका को भली प्रकार से समझ लेनी चाहिये। आत्मा को अपनी ही विषमता पर प्रहार प्रारम करने होते हैं जो अपने कर्म बध को समाप्त करने के रूप मे होते हैं। कर्म ज्यो–ज्यो क्षीण होते जाते हैं, आत्मा मे रही हुई विषमता भी त्यों–त्यो क्षीण होती जाती है तथा आत्मा अपने मूल गुणो को अवाप्त करती रहती है। गुणों के स्थानो मे तब उसकी ऊर्ध्वगामिता आरभ होती है और गणस्थानो की यात्रा को जब वह आत्मा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेती है तो अपने मूल गुणो को प्रकाशमान बनाकर परमात्म पद की अधिकारिणी बन जाती है।

यह दृश्यमान् जगत् जीव और अजीव इन दो तत्त्वो के सयोग – श्रम पर निर्मित हुआ है। यह जीव तत्त्व भी यहा स्वतत्र नही है – अजीव तत्त्व के साथ अपने कर्म बधनो के कारण बधा हुआ है। जीव और अजीव के सयोग से ही समस्त जीवधारी दिखाई देते है और अजीव के बधन से ही वे अजीव तत्त्वो के प्रति मोहाविष्ट बनते हैं। यह मोह चाहे अपने या दूसरे के शरीर के प्रति हो अथवा धन, सम्पत्ति, सत्ता या अन्य पदार्थों व परिस्थितियों के प्रति – उसकी रागात्मक वृत्तिया ही जीव को विषय, कषाय तथा प्रमाद मे भ्रमित बनाये रखती हैं। इसी दशा मे राग और द्वेष के घात प्रतिघात चलते हैं और जीव उन प्रकृतियो के वशीभूत होकर विविध शुभाशुभ कर्म करते हुए उनके फलाफल से भी अपने को प्रतिबद्ध बनाते हैं। जीव–अजीव तत्त्वो के साथ इस तरह बध तत्त्व जुडा है जो पतन का प्रतीक है। जीव का सर्वोच्च विकास का प्रतीक है मोक्ष तत्त्व, जिसकी साधना में वह कर्म बध रूप आश्रव तत्त्व को रोकता है सवर तत्त्व की सहायता से। फिर सम्पूर्ण कर्म विनाशक रूप होता है निर्जरा तत्त्व, जिसकी सिद्धि से मोक्ष तत्त्व अवाप्त होता है। कर्म बध के दो शुभाशुभ रूप होते हैं पुण्य तत्त्व तथा पाप तत्त्व। पाप तत्त्व को मिटाने से पुण्य तत्त्व बलवान बनता है जो मोक्षतत्त्व को मिलाने में सहायता करता है लेकिन मोक्ष तत्त्व की अवाप्ति पर पुण्य तत्त्व भी छूट जाता याने कि अजीव तत्त्व का जीव तत्त्व से सयोग सम्पूर्णत समाप्त हो जाता है। जीव तत्त्व सम्पूर्णत अजीव तत्त्व (कर्म) से मुक्त हो जाय–यही उसका मोक्ष है। जीव की ईश्वर मे इसी रूप से परिणति होती है।

समता का व्यवहार्य पक्ष

किसी वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता अपेक्षतया सरल है किन्तु सम्यक् ज्ञान होना कठिन है तथा उससे अधिक कठिन है उस सम्यक् ज्ञान को अडिग रूप से व्यवहार मे उतारना तथा अपने जीवन के समस्त आचरण को तदनुसार ढाल लेना। व्यवहार के मार्ग मे ऐसे ऐसे थपेडे आते हैं कि कई बार अच्छे अच्छे साधक भी चलायमान हो जाते हैं। यह व्यक्तिगत जीवन की बात है लेकिन सामाजिक जीवन में भी ऐसे थपेडे कभी इतने प्रबलतम होते हैं जो सारी सामाजिक व्यवस्था को अस्त व्यस्त करके व्यक्ति–व्यक्ति के सामान्य जीवन को भी दु खपूर्ण बना देते हैं। समता के व्यवहार्य पक्ष मे भी व्यक्ति और समाज के जीवन–क्षेत्रो मे ऐसी कठिनता आवे यह अनहोनी बात नहीं है।

समतामय जीवन को व्यवहार रूप मे अपनाने के बीच मे भी व्यक्तिगत एव समाजगत बाधाओ का आरपार नही रहता है। समाज मे जिस वर्ग के स्वार्थ किसी भी रूप मे निहित हो जाते हैं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के अधेपन मे सदेव विषमता का पक्षधर बनकर समता का विरोध करने लगता है। तब उसके ह्रदय परिवर्तन की आवश्यकता महसूस होती है। इसलिये जहा समता के व्यवहार्य पक्ष पर विचार करना होता है, वहा गहराई से यह खोजना जरूरी है कि व्यवहार्य पक्ष की मूल कमजोरिया कौन कौनसी है और उनके विरुद्ध किन किन उपायों से सघर्ष किया जा सकता है एव व्यवहार्य पक्ष को व्यक्ति एव समाज दोनों के आधारों पर सुदृढ बनाया जा सकता है ?

समता के व्यवहार्य पक्ष को सुदृढ बनाने कि लिये प्रत्येक आत्मा में रही हुई स्वहित की सज्ञा एव उसके उचितानुचित विकास प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये। बच्चा गर्भाशय से बाहर आते ही चाहे और कुछ समझे या न समझे, वह अपनी भूख को तो तुरन्त समझ लेता है और जब भी भूख से पीडित होता है, वह स्तन पान के लिये मुह फाड फाडकर रोना शुरू कर देता है। यह बात मानव शिशु के साथ ही नही है, छोटे से छोटे जन्तु मे भी स्व–हित की या स्व–रक्षा की सज्ञा होती है। जहा चींटिया चल रही हो, वहा जब कोई राख बिखेर देता है तो चींटिया उसे अपने लिये खतरा मानकर बचाव के लिये वहा से तुरन्त खिसक जाती हैं। आशय यह है कि छोटे बडे प्रत्येक जीव मे आरम से ही स्वहित एव स्वरक्षा की जागृत चेतना रहती है। स्वहित की इस आरभिक सज्ञा का विकास निम्न रूप मे तीन प्रकार से हो सकता है जिनका मूल आधार उस प्रकार के वातावरण पर निर्मित होगा – (1) पहला प्रकार यह

हो सकता है कि यह स्वहित की सज्ञा एकागी एव जटिल बनकर कुटिल स्वार्थ के रूप मे ढल जाय कि मनुष्य को उसके आगे और कुछ भला बुरा सूझे ही नही। अपना स्वार्थ है तो सब है और वह नहीं तो अपना कोई नही– दूसरो के हित की तरफ दृष्टि तक न मुडे। ऐसी प्रकृति उसके अपने जीवन और अपने ससर्गगत सामाजिक वातावरण मे गहन विषमता को जन्म देती है। और समता की जडो को मूल से ही काटती है। (2) स्वहित – परहित के सन्तुलन का दूसरा प्रकार एक रूप मे समन्वय का प्रकार हो सकता कि अपना हित भी आदमी देखे किन्तु उसी लगन से दूसरो के हित के लिये भी वह तत्पर रहे। अपने व दूसरो के हितो का वह इतना सन्तुलन बनादे कि कहीं दोनो के बीच टकराव का मौका नही आवे। साधारण रूप से समाज मे समग्र दृष्टि से इस प्रकार की क्रियान्विति की आशा की जा सकती है। यह समता की दिशा होगी।

(3) तीसरा ऊचे त्यागियो और महापुरुषो का प्रकार हो सकता है जो परहित के लिये स्वहित का भी बलिदान कर देते हैं। ऐसे बलिदानी सर्वस्व त्याग की ऊची सीमाओ तक भी पहुच जाते हैं। सच कहे तो विश्व को समता की दिशा दान ऐसे महापुरुष ही किया करते हैं। उन के त्यागमय चरित्र से ही समता की सर्वोत्कृष्ट अवस्था प्रकाशित होती है।

वातावरण के तदनुकूल निर्माण पर यह निर्भर करता है कि स्वहित की आरभिक सज्ञा रूढ एव भ्रष्ट हो जाय अथवा जागृति और उन्नति की दिशा में मुड जाय। प्रत्येक जीवधारी मे स्वरक्षा की सज्ञा हो–यह अस्वाभाविक नहीं हे, किन्तु स्वाभाविक यह होगा कि सबकी स्वरक्षा की सज्ञा को सचेतन बनाई जाय कि कोई भी किसी की इस सज्ञा पर प्रहार न करे या न कर सके। सर्वहित के इस प्रयास के बीच आने वाली बाधाओ को समझना, उनके कारणो को दूर करना तथा उनको जीत कर स्वहित को सर्वहित के समत्व भाव से रग देना – यही समता का सजग एव सफल व्यवहार्य पक्ष हो सकता है।

विषमता से समता मे परिवर्तन अपनी अपनी साधना शक्ति के अनुसार एक छोटी या लम्बी प्रक्रिया हो सकती है किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य अवश्य ही आचरण की गरिमा मे समाया हुआ रहता हे। कोई भी परिवर्तन बिना क्रियाशीलता के नही आ सकता है। बिच्छू काटे की दवा कोई जानता है लेकिन बिच्छू के काटने पर अगर वह उस दवा का प्रयोग करने की बजाय

उस जानकारी पर ही घमड करता रहे या उसे ही दोहराता रहे तो क्या बिच्छू का जहर उतर जायगा ? यही विषमता का हाल होता है। विषमता मिटाने का ज्ञान कर लिया, किन्तु उस ज्ञान के अनुसार अपने आचरण को नही ढाला तो क्या विषमता मिट जायगी ? विषमता मिटाने के लिये उस ज्ञान के निषेध और विधि को दोनो रूप आचरण मे उतरने चाहिये। ज्यो–ज्यो निषेध रूप से विकारो की विषमता घटती जायगी त्यो–त्यो विधि रूप से समता की अमिय–वर्षा गहराती जायगी।

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू और रूप हो सकते हैं परन्तु सारे तत्त्वो और समस्त परिस्थितियो को समन्वित करके उसके सारे रूप मे निम्न इक्कीस आचरण सूत्रों की रचना की गई है जिन पर यदि मनुष्य अमल करके अपने भीतर और बाहर को सुधारे व बदले तो समता की गहन साधना भी आरभ की जा सकती है। तथा बाह्य विस्तृत वातावरण मे भी समताभरा तालमेल बिठाया जा सकता है –

(1) हिसा का परित्याग – हिसा के आशिकत्यागी श्रावक को अनावश्यक हिसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिसा की अवस्था मे भी भावना तो प्राणी रक्षा की रखनी चाहिये, लेकिन विवशता से होने वाली हिसा मे लाचारी अनुभव की जानी चाहिये, न कि प्रसन्नता। साध्वाचार में तो हिसा का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है। समता साधना के प्रारभ मे स्थूल रूप हिसा का तो परित्याग कर ही देना चाहिये कि वह अपने हित के लिये परहित पर किसी प्रकार का आघात नहीं पहुचाएगा। सन्तुलन के इस बिन्दु से जब साधना आरभ की जायगी तो स्वार्थो का सघर्ष अवश्य कम होता जायगा। स्वहित की रक्षा में यदि उसे आवश्यक हिसा करनी भी पडी तो वह उस का आचरण अति खेदपूर्वक ही करेगा जिसका विकास इस रूप में होगा कि आगे जाकर वह परहित के लिये स्वहित का त्याग करने की शुभ भावना का निर्माण कर लेगा। यही विकास जब और आगे बढेगा, तब वह पूर्ण अहिसक व्रत अगीकार कर सकेगा।

(2) मिथ्याचार–मुक्ति – कहावत है कि एक झूठ बोल कर उसे टिकाये रखने के लिये सौ झूठ बोलने पडते हैं। इसी झूठ पर यह मिथ्याचार पनपता है जो केवल वचन तक ही सीमित नही रहता है। कथनी को मिथ्या बनाकर करनी को वह मिथ्याचारी बनाता रहता है। जितना मिथ्याचार उतनी ही अधिक विषमता। इस कारण विषमता से मुक्ति पाने के लिये मिथ्याचार से

मुक्ति अनिवार्य है। मिथ्याचार त्याग कर ही विषमता के विविध रूपो से सफल सघर्ष किया जा सकता है और समता भावना के विस्तार मे सत्याचरण एव सदाचार के बल पर रचनात्मक सहयोग दिया जा सकता है।

(3) चौर्य्य कर्म से छुटकारा – ताला तोडकर चाबी लगाकर या सेंध लगाकर वस्तु की चोरी करने की कला आज के अर्थ युग मे बहुत ही जटिल और व्यापक हो गई है। वस्तु चुराने की बजाय आज मनुष्यता चुराई जाती है, उस का श्रम चुराया जाता है और शोषण की चौडी खाइया खोद दी जाती हैं। चौर्य कर्म से छुटकारा पाने के लिये स्वार्थन्धता और तृष्णाग्रस्तता से दूर हटना पडेगा तथा अपने जीवन निर्वाह को इस सीमित स्तर तक सादा बनाना होगा, जहा हिसा, चोरी या अनीति का तनिक भी आश्रय न लेना पडे।

(4) ब्रह्मचर्य का मार्ग – वासनाओ पर विजय पाने के अनुक्रम में शारीरिक ब्रह्मचर्य के साथ वासनाओ की मानसिकता पर भी नियत्रण साधना होता है। एक व्यक्ति के जीवन मे फले फूले सदाचार से चारो ओर के वातावरण में भी चारित्र्य–शुद्धि की एक नई हवा बहेगी। ब्रह्मचर्य का पालन सब ओर सयम वृत्ति को बलवती बनायगा तो सयम के सबल से समता के विकास को प्रशस्त करेगा। विषय वासनाओ की आसक्ति के घटने और मिटने से योग व्यापार की त्रिधारा मे शुद्धि व शुमता का सचार होगा।

(5) तृष्णा पर अकुश – मनुष्य का अपने स्वार्थो तथा अपनी तृष्णा पर अकुश लगाना बहुत महत्त्वपूर्ण हे क्योकि यह अकुश ही उसके मन की मूर्छा को दूर करके उसे अपरिग्रही तथा अपरिग्रहवादी बनाता है। अपनी अल्पतम आवश्यकताओ के अनुसार तथा अपनी नीति व अपने श्रम से यदि धनार्जन की व्यवस्था ढल जाय तो अर्थ का भूत अधिकाश रूप से माथे से उतर जायगा। तब अनावश्यक सग्रह का चक्कर भी खत्म हो जायगा। उसका स्वार्थ जब सीमा से बाहर नही निकलेगा तो वह घातक भी नहीं बनेगा। अत समता–साधक तृष्णा पर कठोर अकुश लगाते हुए अपने धधे का फैलाव इतना ही करे जिससे नीति भी नहीं छूटे और सम्पत्ति का मोह भी नहीं जागे।

(6) निष्कलक चारित्र – समता की साधना करने वाले साधक को कभी भी ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे उसके चारित्र पर कलक लगे। व्यक्ति यदि अपनी आवश्यकताओं को सीमा में रखकर चले तो वह कभी भी ऐसे कार्यो मे नहीं उलझेगा जो स्वय, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र के चारिंय पर किसी भी रूप में कलक कालिमा पोते। उसे अपने आचरण को भी

नियमित एव सयमित रखना चाहिये।

(7) अधिकारो का सदुपयोग – समता साधक को अपना यह कर्त्तव्य मानना चाहिये कि वह अपने प्राप्त अधिकारो का दुरुपयोग कतई नही करें बल्कि उनका सर्वत्र व्यापक जन कल्याण के हित मे निष्ठापूर्वक सदुपयोग करे। समाज या राष्ट्र मे अपनी योग्यता, कार्य कुशलता, प्रतिष्ठा आदि के बल पर कई व्यक्ति छोटे या बडे पदो पर पहुचते हैं जहा उनके हाथ मे अपने पद के अनुसार अधिकारो का वर्चस्व आता है। उन अधिकारो का प्रयोग अपने स्वार्थों या अन्य विषम उद्देश्यो के लिये कभी भी नही किया जाना चाहिये। उन अधिकारो के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका प्रयोग नियमानुसार तथा सार्वजनिक लाभ के लिये किया जाय।

(8) अनासक्त भाव – सत्ता या सम्पत्ति मे आसक्ति रखने से उन पर तृष्णा भडकती है और उनके सचय की मूर्छा पैदा होती है इसलिये समता साधक को सदा अनासक्त भाव का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने से प्राप्त सत्ता या सम्पत्ति के दुरुपयोग की मनोवृत्ति नही बनेगी तथा कर्त्तव्य पालन के प्रति जागरूकता निरन्तर बनी रहेगी।

(9) सेवा की मनोवृत्ति – एक समता साधक अपने को प्राप्त सम्पत्ति एव सत्ता को मानव सेवा और प्राणी सेवा का साधन मानता है। उसकी सेवा की मनोवृत्ति इस रूप मे विकसित हो जाती है कि प्राप्त सम्पत्ति और सत्ता के प्रति उसका तनिक भी ममत्व नहीं रहता, बल्कि उसे वह सेवा के कार्यो मे समता भाव से नियोजित कर देता है। वह इनका सचय भी अपने पास नहीं बढाता ओर अधिकाश रूप से अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने लिये आवश्यक साधनो को भी अपने से ज्यादा आवश्यकता वालों को हर्षपूर्वक वितरित कर देता है। अनासक्त भाव की भूमिका पर निर्मित उसकी सेवा की मनोवृत्ति अटूट बन जाती है।

(10) सरल व्यक्तित्व – समता का साधक एक ओर व्यक्ति व समाज की विकारपूर्ण विषमता से सघर्ष करता है और क्रान्ति द्वारा मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को अत्यन्त सरल और विनम्र बनाये रखता हैं सादगी, सरलता तथा विनम्रता मे विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यों की रचना मे सक्रिय बने रहना – इसे वह अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता है ताकि अपने सरल व्यक्तित्व से समतामय सरलता का प्रसार हो।

(11) स्वाध्याय और चिन्तन – मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य मे प्रवृत्ति करता रहता है अत उसे उसी समय न तो अपने काम की उचितता या अनुचितता का निर्णय निकालने का अवसर मिलता है और न ही उसके परिणामो का विश्लेषण करने की सुविधा। ये दोनों कार्य नियमित स्वाध्याय एव चिन्तन की प्रवृत्तियो से ही पूरे किये जा सकते हैं। स्वाध्याय से यह ज्ञान और भाव मिलेगा कि किस प्रकार की प्रवृत्तिया शुभ और उपादेय होती हैं तथा किन अशुभ प्रवृत्तियो मे मनुष्य को प्रवृत्त नही होना चाहिये। चिन्तन की धारा मे प्रवृत्तियो की शुभाशुभता का अकन भी हो सकेगा तो प्रवृत्तियो के परिणामो पर भी दृष्टिपात करके अपनी भावी प्रवृत्तियो की रूपरेखा निर्धारित की जा सकेगी।

(12) कुरीतियो का त्याग – जीवन मे व्यावहारिक दृष्टि से कुरीतिया वे ही होती हैं या कहलाती हैं जो किसी न किसी रूप मे विषमता पैदा करती हैं। रूढ परम्पराओ या कुरीतियो का निर्वाह दम्भी और निहित स्वार्थी इसलिये करते हैं कि उनके माध्यम से सार्वजनिक जीवन मे वे अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखते हैं। सामान्य जन के लिये कुरीतिया सद्‌गुणो और श्रेष्ठता का ह्रास करने वाली होती हैं। इस कारण समता साधक को स्वय कुरीतियो का त्याग करना चाहिये तथा जीवन मे इनके प्रचलन को रोकने का कठिन प्रयास भी जुटाना चाहिये।

(13) नैतिकता का पालन – चाहे कोई भी व्यवसाय या व्यापार हो अथवा सेवा वृत्ति या अन्य कार्य – उसमे समता साधक को सदा शुद्ध नीति याने नैतिकता का पालन करना चाहिये। व्यापार को जब सीधा और सच्चा नहीं रखा जाता–उसमें कपट और मायाचार का पुट मिला दिया जाता है तब शोषण और लूट का व्यवहार बन जाता है। जहा अपने श्रम के रूप मे लाभाश होना चाहिये, वहा आज के व्यवसाय और व्यापार में लाभ लूट का पर्याय बन गया है जो कतई अनीतिपूर्ण कहलायगा। इस दृष्टि से अपनी अर्जक वृत्ति मे नैतिकता का निर्वाह किया ही जाना चाहिये जिसके बिना समता का विस्तार सभव नहीं होता।

(14) यथायोग्य सम वितरण – समता साधक अपने पास आवश्यकता से अधिक धन, धान्य अथवा अन्य पदार्थ न रखे तथा उन्हे यथायोग्य सम वितरण हेतु समाज या राष्ट्र को सौंप दे अथवा स्वय जन कल्याण मे नियोजित कर दे। आवश्यकताओं का भी जहा तक प्रश्न है, वे एक समता

साधक की निरन्तर घटती रहनी चाहिये और जीवन निर्वाह मे अधिकाधिक सादगी आती रहनी चाहिये। इस विधि से धन सम्पत्ति के प्रति कभी ममत्व पैदा नही होगा। जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है, वह होता है धन सम्पत्ति रूप परिग्रह और उससे भी अधिक विषम होती है परिग्रह की लालसा। अत आवश्यकता तक परिग्रह को सीमित कर लेने से उसके प्रति ममत्व नहीं जागता। इस दृष्टि से न्यूनतम आवश्यकताओ के अनुसार एक समता साधक समुचित परिग्रह अपने पास रखे और उसे भी पूर्वनिश्चित मर्यादाओ की अपेक्षा से ताकि बाकी को न्यास समझे तथा यथायोग्य रीति से जन कल्याण मे उसका सम वितरण कर दे।

(15) आध्यात्मिकता का रग – नैतिक एव मर्यादित जीवन विधि से समता साधक अवश्य ही अन्तर्मुखी बनता जायगा और अन्तरावलोकन का अभ्यास करेगा। इस दृष्टा भाव का सुपरिणाम यह होगा कि वह आध्यात्मिकता के आनन्द रग मे अपने आपको रगता जायगा। आभ्यन्तर शुद्धि उसका प्रधान लक्ष्य बन जायगा और उसके साथ ही वह आभ्यन्तर शुद्धि का पुरुषार्थ सब मे जगाना चाहेगा। आध्यात्मिकता के रग मे अपना अन्दर–बाहर का जीवन व्यवहार निर्मल बनाकर वह सभी को उस ओर प्रभावित करेगा। जब अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या तथा व्यवहार की पूरी परिपाटी नैतिकता के आधार पर ढल जायगी तो उस हृदय से उत्पन्न आध्यात्मिकता ओजस्वी होगी।

(16) सुधार का अहिसक प्रयोग – आत्मिक एव सामाजिक अनुशासन तथा सयम की मर्यादाओ को भग करने वाले लोगो को एक समता साधक अहिसक असहयोग के प्रयोग से सुधारना चाहेगा। उसमे लेश मात्र भी उस प्रयोग के समय द्वेष की भावना नहीं होगी। उसका अहिसक असहयोग एक अच्छे चिकित्सक के समान शुद्ध हिताकाक्षा की दृष्टि से होगा। समता की साधना से वह अहिसा को ऐसे सशक्त शस्त्र के रूप में तैयार करेगा कि व्यापक क्षेत्र मे भी द्वेष एव प्रतिशोध से रहित होकर उसका सुधार की दृष्टि से सफल प्रयाग किया जा सके। घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश के अहिसक सिद्धान्त के अनुरूप ही समता साधक सभी प्रकार के सुधार कार्यक्रमो का सचालन करेगा।

(17) गुण कर्म से वर्गीकरण – एक समता–साधक प्रचलित वर्ण, वर्ग या सम्प्रदाय मे अपना विश्वास नही रखेगा और व्यक्ति का अकन उसके गुण और कर्म के अनुसार करेगा। इतना ही नहीं, वह समाज मे भी गुण एव कर्म

के आधार पर वर्गीकरण करने तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयास करेगा। इस प्रकार के वर्गीकरण से विभिन्न वर्णो, वर्गों या सम्प्रदायो मे व्याप्त कटुता तथा विषमता समाप्त होती जायगी तथा उसके स्थान पर मानवीय समता प्रसारित होगी। गुणाधारित वर्गीकरण से गुणो की अभिवृद्धि की ऐसी स्वस्थ होड चल निकलेगी कि मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिये गुण सम्पन्नता को मुख्य मान लेगा।

(18) भावात्मक एकता–सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए एक समता साधक समाज या राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देगा तथा ऐसी एकता के लिए मन, वाणी एव कर्म की एकरूपता को प्रोत्साहित करेगा। इस प्रयोग से मनुष्यता को शक्ति मिलेगी तथा जीवन मे जड तत्वो का प्रभुत्व घटेगा। ऐसी एकता केवल बाह्य रूपो मे ही नही अटक जानी चाहिए बल्कि अनुभावो, उद्देश्यो तथा आदर्शों की एकता के रूप मे वह निरन्तर विकसित होती रहनी चाहिए। समता साधक को अपने अत करण मे हो अथवा समाज या राष्ट्र के विशाल अतहृदय में–ऐसी भावात्मक एकता को स्थिरता पूर्वक स्थापित करने के प्रयास हमेशा जारी रखने चाहिए। कारण, भावात्मक एकता चिरस्थायी एव शान्ति प्रदायक होती है तथा सभी स्तरो पर समता के वातावरण को परिपुष्ट बनाती है।

(19) लोकतान्त्रिक प्रणाली–एक कथन है कि सत्ता मनुष्य को भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्णतया भ्रष्ट करती है। इस दृष्टि से सत्ता को एक या कुछ हाथों से हटाकर सम्पूर्ण जनता को सौंपने के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही लोकतन्त्रीय प्रणाली का विकास हुआ है। यह पारस्परिक नियन्त्रण एव सतुलन की प्रणाली के रूप मे शासन को चलाती है तो समाज की सारी व्यवस्था को लोकेच्छा एव लोकशक्ति के आधार पर चलाने के आदर्श को सामने रखती है। राष्ट्र या समाज का समग्र सचालन जनता द्वारा, जनता के लिए तथा जनता का होना चाहिए–यह लोकतन्त्रीय प्रणाली की अत प्रेरणा कही जाती है। सत्ता और सम्पत्ति के निहित स्वार्थी अपने भ्रष्ट एव विकृत उद्देश्यो के लिए ऐसी सर्वहितकारी प्रणाली का भी दुरुपयोग करने की चेष्टा करते हैं अत समता साधक को ऐसी प्रवृत्तियो का विरोध करना चाहिए तथा समग्र जनता मे स्वस्थ चेतना जगानी चाहिए।

(20) ग्राम से विश्वधर्म–प्रत्येक समता साधक को ग्राम धर्म, नगर धर्म, समाज धर्म, राष्ट्र धर्म एव विश्वधर्म की निष्ठा के प्रति सतर्क रहना चाहिए एव

उनके अतर्गत पहले अपने कर्त्तव्यो एव नियमो का निर्वाह करना चाहिए, फिर अपने उदाहरण को सामने रखकर दूसरो से उनका अनुपालन करवाने की जागरूकता पेदा करनी चाहिए। ऐसा जन मत, प्रभावी रूप से बनाना चाहिए कि इन धर्मों के निष्ठापूर्वक पालन मे कोई किसी तरह की दुर्व्यवस्था, पैदा नहीं करे तथा किन्ही उद्दड या समाज विरोधी तत्त्वो द्वारा वैसा करने पर अन्य लोग उनके साथ अहिसक असहयोग का प्रयोग करे।

(21) समता पर आधारित समाज–एक समता साधक समता के दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्षो के आधार पर निर्मित किये जाने वाले नये समाज की रचना मे विश्वास रखे तथा उसके निर्माण मे सक्रिय सहयोग प्रदान करें। पहले वह अपने भीतर और बाहर समतापूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो का समावेश करे ओर उसके बाद व्यापक क्षेत्र मे रही हुई विषमताओ को समाप्त करने एव सर्वत्र समतामयी एकरूपता तथा समरसता को सचारित करने मे अपना कठोर पुरुषार्थ लगावे। वह अपनी प्रबल प्रेरणा से प्रत्येक व्यक्ति, समूह या सगठन को समता का सशक्त हृदय ग्रहण करने के लिए तत्पर बनावे। इसका अन्तिम लक्ष्य यही होगा कि समता का प्रत्येक मानव हृदय मे शीतल प्रकाश फैल जाय और एक समाज के निर्माण के साथ वह प्रकाश चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण कर ले और एक पीढी से दूसरी पीढी एव आगे तक पारम्परिक प्रकाश स्तभ बन जाय।

आचरण के इन 21 सूत्रों का दोहरा प्रभाव पडेगा। एक ओर व्यक्ति इनके अनुसार अपने जीवन व्यवहार को ढालते हुए अपने आभ्यन्तर और बाह्य जीवन मे शुद्धता, शुमता तथा समता की स्थिति को सुस्थिर बनायगा तो दूसरी ओर उसकी उस सुस्थिरता का स्वयमेव भी समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे अनुकूल प्रभाव पडेगा और समता साधक जब अपने आदर्श उदाहरण के साथ समता का प्रबल प्रचारक बनेगा तक उसकी प्रभावशाली शेली से जन जन के जीवन मे नई समता चेतना का विकास होगा क्योकि दूसरो को वास्तविक रीति से प्रभावित करने मे शब्दो की अपेक्षा अपना प्रत्यक्ष आचरण हजार गुना अधिक काम करता है।

समताचरण की तीन चरण

साधुत्व की पूर्व स्थिति मे समता की साधना करने वाले साधक के लिये अपनी साधना के यथोचित विकास की दृष्टि से तीन चरण स्थापित किये गये हैं, जिनके अनुसार साधक को पहले समता की उपादेयता मे स्वय

की प्रतीति स्पष्ट हो, फिर वह समता की अपनी सुस्पष्ट धारणा को क्रियान्वित करे तथा तदनन्तर अपनी समदृष्टि का उच्चतम विकास साधते हुए समतादर्शी बन जाय। सम्यक् प्रतीति तथा वास्तविक पहिचान के पहले चरण के साथ ही साधक के अन्त करण मे समुन्नति के लिये तीव्र आकाक्षा तथा कठोर पुरुषार्थ की भावना जाग जानी चाहिये। इन्ही के आधार पर वह द्वितीय चरण की सुदीर्घ साधना की कठिनाइयो का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा एव तीसरे चरण की सिद्धि के विराट् क्षेत्र मे प्रवष्टि हो सकेगा।

इस रूप में समताचरण के तीन चरण निम्नानुसार होगे–

(1) समतावादी–पहली और प्रारभिक श्रेणी उन समता साधको की हो जो समता–दर्शन मे गहरी आस्था, नया खोजने की जिज्ञासा तथा अपनी परिस्थितियो की सुविधा से समता के आचरण मे सचेष्टा ग्रहण करने की हार्दिक अभिलाषा रखते हो। इस श्रेणी वालो को 'वादी' इस कारण कहा गया हे कि वे समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षो का सर्वत्र समर्थन एव प्रचार करते हो एव सबके समक्ष समताचरण की श्रेष्ठता को जानने, मानने तथा तदनुसार अपने–अपने व्यवहार को ढालने का सदाशयपूर्ण आग्रह करते हो। स्वय भी आचरण के क्षेत्र मे अग्रगामी बनने की तैयारी करते हो एव दूसरों को भी उसके लिये तैयार होने की प्रेरणा देते हो। यह नहीं कि एक समतावादी सिर्फ समता का वाद ही करेगा और समताचरण को स्वीकार किन्हीं भी अशो मे नहीं करेगा। वह समता का वाद करते हुए आचरण के क्षेत्र मे भी पग धर देगा, लेकिन अपनी परिस्थितियो की विवशता से आचरण की उग्रता का पालन नही कर सकेगा। उसके हृदय मे समताचरण को पूर्णता प्रदान करने की तीव्र अभिलाषा मे कोई न्यूनता नहीं होगी।

समतावादी श्रेणी के साधको के लिये निम्न नियम आचरणीय हो सकते हैं–(अ) विश्व मे रहने वाले समस्त प्राणियो मे मूल स्थिति को स्वीकार करना तथा गुण व कर्म के अनुसार उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदो तथा विषमताओं को अस्वीकार करना और गुण कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थितियो के निर्माण का सकल्प स्वीकार करना। (ब) समस्त प्राणीवर्ग मे एकता मानते हुए प्रत्येक के स्वतत्र अस्तित्व को भी स्वीकारना तथा अन्य प्राणो को कष्ट क्लेश को स्व–कष्ट के समान मानना। (स) किसी भी पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्त्तव्यो को अधिक महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना। सप्त कुव्यसनो को धीरे–धीरे ही सही किन्तु त्यागते

रहने की दिशा मे आगे बढना। (य) प्रात काल सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घटा नियमित रूप से समतादर्शन की स्वाध्याय, चिन्तन, आत्मालोचना मे व्यतीत करना तथा उस प्रवृत्ति को समीक्षण ध्यान के स्तर तक ले जाना है। (र) कदापि ओर किन्हीं भी परिस्थितियो मे आत्मघात नही करने एव प्राणीघात को बन्द कर उनकी रक्षा करने का सकल्प लेना। (ल) सामाजिक कुरीतियो को त्याग कर विषमताजन्य वातावरण को मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराए ढालना।

(2) समताधारी—समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक धरातल पर सक्रिय बनकर जो दृढ चरणों से आरम्भ कर दे, उन्हे समताधारी की दूसरी उच्चतर श्रेणी मे लिया जाय। समताधारी साधक समता के चारों दर्शनो—सिद्धात, जीवन आत्म एव परमात्म को हृदयगम करके व्यवहार के इक्कीस सूत्रो के आचरण पथ पर रचनात्मक प्रगति प्रारम्भ कर देता है और निरन्तर प्रगतिशील रहता है। एक प्रकार से समतामय आचरण की सर्वांगीणता एव सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समताधारी कहा जाय।

समताधारी साधको की इस श्रेणी का विशिष्ट महत्त्व माना जाय, क्योकि ये साधक ही वास्तव मे तथा जनता की आखो मे समता की मशाल चमकाकर चलने वाले साधक होगे, इन्हे और इनके आचरण को प्रत्यक्ष देखकर ही दूसरे लोग इनके प्रति तथा समता के प्रति प्रभावित बनेगे। इस श्रेणी के साधको का इस दृष्टि से दायित्व भी गभीर होगा क्योकि उनकी छोटी असावधानिया या भूलें भी समता के लक्ष्य को दुर्बल बना सकती हैं और जनता की नजरो में उसके प्रति प्रभाव को कम कर सकती हैं। अत समताधारी निम्न अग्रगामी नियमों का अनुपालन करे—(अ) विषमता जन्य अपने विचारो, सस्कारो एव आचारो को स्वय समझना तथा उन्हें विवेकपूर्वक दूर करना। अपने आचरण से किसी भी प्राणी या उसके किसी भी प्राणी को क्लेश नहीं पहुचाना तथा सबके साथ सहानुभूति रखना। (ब) धन, सम्पत्ति तथा सत्ता प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समतापूर्ण चेतना एव कर्त्तव्य निष्ठा को मुख्यता देना। (स) अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एव अनेकातवाद के स्थूल नियमो का पालन करना, उनकी मर्यादाओ में उच्चता प्राप्त करना तथा भावना की सूक्ष्मता तक गहरे पैठने का वैचारिक के साथ प्रयास करते रहना। (द) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के समवरितरण मे आस्था रखना एव व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथा विकास, यथा योग्य जनकल्याणार्थ

अपने पास से परित्याग करना। (य) परिवार की सदस्यता को लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एव विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि तथा सहयोग पूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वो के साथ निभाना। (र) जीवन मे जिस किसी पद पर कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त हो वहा भ्रष्टाचार से मुक्त रहकर समताभरी नैतिकता एव प्रमाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना। (ल) स्व–जीवन मे सयम को तो सामाजिक जीवन मे सर्वदा नियमो को प्राथमिकता देना एव अनुशासन को प्रतिष्ठित बनाना।

(3) समतादर्शी–समतादर्शी की श्रेणी में साधक का प्रवेश तब माना जाय जब वह समता के लिए बोलने और धरने से आगे बढकर ससार, राष्ट्र व समाज को समतापूर्ण बनाने व देखने की क्षमता प्राप्त करने लगे–दृष्टित्व को कृतित्व के साथ जोडने लगे। तब वेसा साधक अपने व्यक्तिगत व्यक्तित्व से ऊपर उठकर स्वय एक समाज, सगठन, सस्था या आदोलन का रूप ले लेता है, क्योकि तब उसका लक्ष्य परिवर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन मे समाहित कर लेना बन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुच जाता है जहा वह स्वहित को भी परहित मे विलीन कर देता हैं तथा सम्पूर्ण समाज मे सर्वत्र समता लाने के लिए जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन बना रहने की बजाए तब समता का वाहक बन जाता है।

एक समतादर्शी साधक इन उच्चस्थ नियमो को अपने जीवन मे रमा ले (अ) समस्त प्राणी वर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना तथा आचरना एव समग्र आत्मीय शक्तियो के विकास मे अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी सामान्य विषमताभरी प्रवृत्तियो को भी त्यागते हुए अपना जीवनादर्श स्थापित करना एव सब में समता पूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियों के विकास को बल देना। (ब) आत्मविश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि न अन्य प्राणियो के साथ और न स्वय के साथ जाने या अनजाने मे विश्वासघात की स्थिति पैदा हो। (स) जीवन क्रम के चौबीसो घटो मे समतामय भावना तथा आचरण का विवेकपूर्ण अभ्यास करना एव जो कुछ करता रहे उसकी नित्यप्रति विशुद्ध भाव से आत्मालोचना भी अवश्य करना। (द) प्रत्येक वाणी के प्रति सौहार्द्र, सहानुभूति एव सहयोग रखते हुए दूसरो के सुख दु ख को अपना सुख दु ख समझना तथा पर दु ख निवारण की शुभता मे प्रवृत्त रहना। (य) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान मे रखकर चाहे राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र में हो अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र में सदा आत्म बल के आधार पर अन्याय की शक्तियो से सघर्ष करना एव अहिसक असहयोग एव अहिसामय प्रयोग

से सुधार लाने का प्रयास करते हुए समता के समस्त अवरोधो पर विजय प्राप्त करना। (र) चेतन व जड तत्त्वों के पृथकत्व को समझकर जड पदार्थों पर से ममत्व हटाना, सर्वत्र जड तत्त्वो की प्रधानता दूर करने मे सक्रिय योगदान करना तथा चेतना को स्व-धर्म मानकर उसकी विकासपूर्ण समता मे अपने समग्र जीवन को नियोजित कर देना। (ल) अपने जीवन मे और बाहर के वातावरण मे राग और द्वेष दोनो को सयमित करते हुए सर्व प्राणियो मे समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना तथा अपनी चितन धारा में उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता की अवाप्ति को जीवन की समस्त उपलब्धियों का सार समझकर उस दिशा मे एकनिष्ठा के साथ अग्रसर होते रहना।

समता साधना की इन तीनो श्रेणियों को इस रूप मे देखना और समझना चाहिए कि तीसरी श्रेणी का समुचित विकास साध लेने पर साधुत्व की स्थिति सन्निकट आ जाती है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ धर्म के सर्वोच्च विकास के रूप मे देख सकते है। ये जो तीनो श्रेणियों के नियम बताये गये हैं इनके अनुरूप एक से दूसरी तथा दूसरी से तीसरी श्रेणी मे आगे बढने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण विचार एव विवेक पूर्ण पृष्ठभूमि के साथ सतुलित एव सयमित बनाते रहना चाहिए ताकि समता व्यक्ति के मन में और समाज के जीवन मे चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण कर सके। यही आत्म कल्याण एव विश्व कल्याण का प्रेरक पाथेय है। समता साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एव अनुप्रेरक रूप देने की दृष्टि से एक समता समाज की स्थापना का निर्णय भी लिया जा सकता है तथा चाहे छोटे पैमाने से ही प्रारम किया जाय-उसके नियमोपनियमों का निर्धारण किया जा सकता है। ऐसा समता समाज सीमित सदस्यो के साथ ही भले प्रारम किया जाय किन्तु उन सदस्यो को गहरे दायत्वि भाव से अपनी प्रवृत्तियो का सचालन करना होगा। क्योंकि वे समूचे समता दर्शन एव व्यवहार के ज्योतिधारक तथ सदेशवाहक होंगे।

समता समाज की वैचारिक रूपरेखा

यह सत्य है कि किसी भी तत्त्व की आन्तरिकता ही मूल में महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु उसे अधिक प्रामाविक, अधिक बोधगम्य तथा अधिक कार्यक्षम बनाने के लिए उसके बाह्य स्वरूप की रचना करनी होती है। अपनी गमीर आन्तरिकता को लेकर जब बाह्य स्वरूप प्रकट होता है तो वह प्रेरणा एव अनुकरण का प्रतीक भी बन जाता है। अन्त करण मे जो कुछ श्रेष्ठ है, वह

गूढ हो सकता है, किन्तु जब तक उसे सहज रूप से बाहर प्रकट नही करे, उसकी विशेषताओ का व्यापक रूप से प्रसार नहीं हो सकता हे। समता दर्शन के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता कि यदि इसके भी बाह्य निर्मित कर जाय तो इसके प्रचार प्रसार मे विशेष सुविधा होगी।

समता दर्शन का कोई अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी कोई सक्रिय हो, किन्तु यदि ऐसे साधको को एक सूत्र मे बाधने तथा बाधे रखकर प्रचार माध्यमो को सशक्त बनाने के लिए किसी सगठन की रचना की जाय तो समता अभियान का एकीकृत रूप बनेगा ओर साधक भी परस्पर के सपर्क से अभियान को विशेष सबल दे सकेगे। समता अभियान के ऐसे एकीकृत एव सगठित स्वरूप से अधिकाधक जन समुदाय इसकी तरफ आकर्षित हो सकेगे तथा यथायोग्य रुचि लेना चाहेगे। एक प्रकार से समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षो का मूर्त रूप ऐसा समता समाज होना चाहिए जो समता मार्ग पर स्वस्थ एव स्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर अधिकाधिक लोगो को प्रभावित करे।

समाज मे वर्तमान अनेक सगठनो मे एक और सगठन की वृद्धि से क्या लाभ? मानव समाज कई राष्ट्रों मे विभक्त होकर इतना विशाल समाज है कि एक ही बार में उसे समग्र रूप से आन्दोलित करना चाहे तो वह एक कठिनतम कार्य होगा ओर महान् कार्य भी एक साथ नहीं साधा जा सकता हे। इसी कारण क्रमबद्ध रूप से आगे बढना होता है। समतामय जीवन प्रणाली की स्थापना का कार्य ओर वह भी आज की विषमतम परिस्थितियो मे अतीव दुरूह कार्य है। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य मे समता के विचार बिन्दुओ को हृदयगम कराने तथा उसके आचरण को व्यापक रूप से अमल मे लिवाने के लिए क्रमबद्ध कार्यक्रम सहित किसी जीवन्त सगठन का होना अत्यावश्यक हे। सगठन की जीवन्तता उसके सदस्यों पर निर्भर करेगी, इसलिए समता समाज के सदस्य इच्छा और कर्मठ शक्ति के धनी होनी चाहिए। उनका विचार पक्ष स्पष्ट होना चाहिए, हृदय पक्ष सत्य शोधक तथा आचरण पक्ष परम पुरुषार्थी। सदस्यो की कर्मठता पर ही समता समाज को प्रामाविक बनाया जा सकेगा।

समता समाज के इस रूप में उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं–(1) व्यक्तिगत रूप से समता–साधक को समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी की श्रेणियो में साधनारत बनाना तथा उनके व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की दिशा मे उन्हें प्रगति कराना। (2) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न

क्षेत्रो की विषमताओ से सघर्ष करना एव सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना। (3) व्यक्ति और समाज के हितों मे ऐसे तालमेल बिठाना, जिससे दोनो पक्ष समतामय स्थिति मे बनाने मे एक दूसरे की पूरक शक्तिया बन सके—समाज व्यक्ति के लिए समतल धरातल बनावे तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करे। (4) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एव वितृष्ण को सर्वत्र घटाने का अभियान छोडकर स्वार्थों तथा विचारो के सघर्षों को रोकना तथा सामाजिक न्याय एव सत्य को सर्वोपरि महत्त्व देना। (5) स्थान-स्थान पर समता साधकों को सगठित करके समाज की शाखाओ उपशाखाओ की स्थापना करना, सामान्य जन को समता का महत्त्व समझाने की दृष्टि से विविध सयत प्रवृत्तियो का सचालन करना एव सम्पूर्ण समता उत्क्रान्ति की दिशा मे सचेष्ट रहना।

यह समाज किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, वर्ग या जाति समूह का नहीं होना चाहिए तथा न ही इसे किसी व्यक्ति विशेष से ही प्रभावित रखा जाना चाहिए। सच कहे तो यह सगठन सभी समता साधकों का होगा जो समता के दार्शनिक और व्यावहारिक पक्षो के विचार तथा आचरण मे एकनिष्ठा रखते होगे एव सगठन को अपने प्राणपण से अभिवृद्ध बनायेगे। कर्मठ क्रियाशीलता ही सगठन की शक्ति होगी।

समता समाज के सगठन एव सचालन का कार्य गृहस्थों के अधीन ही रहें क्योकि समता अभियान के प्रसार का मुख्य कार्य क्षेत्र भी तो मूल रूप से सासारिक क्षेत्र ही होगा। सासारिक जीवन की विषमताओ के विरूद्ध ही इस सगठन को पहला मोर्चा साधना होगा और वहा की सफलता के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी कार्य का विस्तार हो सकेगा। यों साधको की साधना मुख्य रूप से समीक्षण ध्यान पद्धति पर आधारित होगी तथा उनकी व्यक्तिगत जीवन शैली अधिकाधिक आध्यात्मिक ही होगी। प्रारभ में तो समता समाज का अपना विधान हो, उत्तरदायी पदाधिकारी हो तथा अभियान को फैलाते जाने की सुगठ योजना हो। अभियान में ज्यो-ज्यो सफलता मिलती जावे, सगठन के कार्य एव क्षेत्र का विस्तार होता रहे।

समता समाज के सगठन के सम्बन्ध मे एक तथ्य सदा ध्यान मे रखा जावे कि यह सगठन अनेकानेक सगठनो की तरह नगण्य सगठन ही बनकर रह जाय अथवा समग्र सामाजिक दृष्टिकोण से अलग-थलग न पड जाय। समता समाज का प्रारभ इसी विस्तृत दृष्टिकोण के साथ होना चाहिए कि

उसका उद्देश्य समूची मानव जाति मे समता स्थापित करता है। आरम भले छोटे समुदाय से और छोटे क्षेत्र से हो किन्तु भावी विस्तार व्यापक क्षेत्र मे होना चाहिए। यह विस्तार इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि सगठन सदा व्यापक जनहितों से जुडा रहता है और उसके सदस्य विशाल दृष्टिकोण, गहरी आस्था तथा अमित उत्साह से ओतप्रोत बने रहते हैं। किसी भी सगठन को जीवन्त बनाने के लिए उसमे जीवनी शक्ति लगानी पडती है तथा आत्मयोग देना पडता है।

समता की जय यात्रा

मशाले कुछ हाथ ही थामते हैं किन्तु उसकी रोशनी से अनेको चेहरो को वे रोशन बनाते हैं तो उन चेहरो को रोशनी की आब देकर उन हाथो को भी मशाले उठाने के लिए तैयार कर देते हैं। इसे ही एक बाती से दो और हजार बतिया जलाने की प्रक्रिया कहते हैं। प्रकाश–दान से प्रकाश विस्तार होता है। उसी तरह समता लेने और समता देने समता का विस्तार ओर प्रसार होगा।

समतावादी, समताधारी तथा समतादर्शी के स्थूल चरणो मे समता का स्वरूप विकसित बनकर छ काय के रक्षक के रूप मे परिणत हो सकेगा और तब तक समीक्षण ध्यान की साधना मे परिपक्वता प्राप्त कर लेगा। फिर समीक्षण ध्यान से समता की यात्रा समता की जय यात्रा के रूप मे चलेगी जो चौदह गुणस्थानो के सोपानो पर आरूढ होती हुई समदर्शिता के शिखर तक पहुच जायगी। इस जय यात्रा का समापन सिद्धावस्था मे शाश्वत आनद, अव्याबाध सुख एव अक्षय शान्ति के साथ होगा और यही जय यात्रा आत्म विकास की जय यात्रा बन जायेगी जो सदा काल के लिए आत्मिक जय विजय का रूप ले लेगी।